१०–कादाचित्कज्ञानत्व-नित्यज्ञानत्वाभ्यां भेदः ।।५।।

कादाचित्कज्ञानत्व-नित्यज्ञानत्वतया परस्पर भेद—

मेरे में आया हुआ अहंगत जो ज्ञान एवं विवेक है–वह मेरा ज्ञान और मेरा विवेक है। ईश्वर के ज्ञान एवं विवेक से मेरे ज्ञान और विवेक का कोई सम्बन्ध नहीं। मैं देखता हूँ कि किसी समय मुझे कोई ज्ञान होता है, परन्तु कालान्तर में विलीन हो जाता है। जिसका ज्ञान मुझे १० दिन पहले था, आज में उस वस्तु को सर्वथा भूल गया हूँ। मैं चाहे जब विवेकप्रक्रिया में ठोकर खा जाता हूँ। मैं चाहता हुआ भी कार्य्य नहीं कर सकता। मुझे अच्छे ज्ञान के ग्रहण करने की धुन सवार रहती है एवं बुरे को छोडने की धुन रहती है। मुझे किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए कोशिश करनी पड़ती है–तब भी वह मिलती है, अथवा नहीं मिलती है। गरज यह है कि मैं सर्वथा परतन्त्र हूँ। परन्तु ईश्वर ठीक इसके विभिन्नधर्म्मा है–ऐश्वर ज्ञान में अर्थग्रहण के लिए किसी व्यापार की कोई आवश्यकता नहीं है। वह तो आप्तकाम है। इस पूर्ण ब्रह्म में न कोई हेय है न ग्राह्य है। सब ग्राह्य हैं, सब हेय हैं। उसका ज्ञान नित्य है। उसे मेरी तरह कभी संमोह नहीं होता। उसे एककालावच्छेदेन सबका ज्ञान रहता है। इसीलिए ईश्वर को 'सर्वतः पाणिपाद' बतला जाता है। जैसा कि गीता कहती है—

"सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति" ।।[1]

कहने का तात्पर्य्य यही है कि नित्यानित्य ज्ञानभेदेन जीवेश्वर में सर्वदा भेद है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्ञानं तु योऽत्रानुभवो विवेकोऽप्यहं गतं तन्न तदैश्वरं स्यात् ।
नार्थग्रहव्यापृतिरैश्वरेऽस्मिन् नादेयहेयौ भवतश्च पूर्णे" ।।१७१।।

११–विनाशित्वाविनाशित्वाभ्यां भेदः ।।६।।

विनाशित्वाविनाशित्वतया भेद—

संसार में जितने भी पदार्थ हैं–वे प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। जो वस्तु आज के १० दिन पहले थी आज उसे बिलकुल दूसरी समझो। किसी भी पदार्थ की एकक्षण भी स्थिति नहीं है–इसीलिए–'**न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्**'–कहा जाता है। ये जीव इन रूपों के अन्यथात्व को

१ गीता १३।१३।

सर्वथा भूल जाते हैं। किस वस्तु में कितनी देर में क्या परिवर्तन हो गया?-इस रहस्य को जानना जीव शक्ति के बाहर का काम है। इसने एक दिन पहले क्या खाया था? यही मालूम नहीं। जीव जिस रूप का निर्म्माण करते हैं-जिस अन्तर्जगत् का निर्म्माण करते हैं-उनका वह जगत् थोड़े समय बाद ही नष्ट हो जाता है एवं पूरे वय में-१०० वर्ष बाद गायबगुल्ला हो जाता है। इस प्रकार से जीव विनाशी है-उनका जगत् भी विनाशी है, परन्तु जो ईश्वर है-वह एक है-अविनाशी है, अतएव उसका जगत् भी नित्य ही है। बस, जीव और ईश्वर में यही भेद है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अर्थाः स्वभावात् परिवर्त्य रूपा रूपान्यथात्वे व्यपयन्ति जीवाः।
जीवास्त इत्थं क्षयिणोऽप्यनन्ता य ईश्वरः सत्त्वविनश्वरः स्यात्" ॥१७२॥

१२–अनुक्थत्वेश्वरजन्योक्थत्वाभ्यां भेदः ॥७॥

अनुक्थेश्वरजन्य जीवोक्थत्वतया जीवेश्वर में परस्पर भेद--

यदि जीव का असली स्वरूप पूछा जाए तो उक्थ-अर्क-अशिति के अलावा और कुछ नहीं बतलाया जा सकता। उक्थ-अर्क-अशिति–इन तीनों की समष्टि का नाम ही 'जीव' है। जीव ही में क्या संसार के यच्चयावत् पदार्थों में उक्थ-अर्क-अशिति–यही तीन पार्ट हैं। ध्यान दीजिए-एक दीपक जल रहा है। इस दीपक की जो 'लौ' है-वह उक्थ है। प्रकाशकिरणें इसी लौ में से उठकर चारों ओर फैलती हैं, अतएव लौ को 'उक्थ' कहते हैं। इस लौ के चारों ओर किरणरूप से प्राणदपानत् करता हुआ जो बडी दूर तक का प्रकाशमय सोलरसिस्टम है-वही इस 'लौ' उक्थ के अर्क हैं। इस अर्क में-इस प्रकाश में जो तेल की आहुति पड़ रही है-यह लौ जिस तेल को कि हरवक्त चूस रही है वह चूसा हुआ तेल ही अशिति है। अन्न ही को अशिति कहा करते हैं। इसी तैलान्न से अर्कादि की-उक्थ की स्थिति रहती है। इसी प्रकार से हम (अवयवी) तो उक्थ हैं एवं हमारा हाथ अर्क है एवं अन्न अशिति है। उक्थ-स्वरूप हमारे में से अर्कस्वरूप हाथ अशिति (अन्न) को खाया करता है। बस, इस अशिति से ही शरीरोक्थ की स्थिति है। यदि एक दिन भी अशिति नहीं मिलती है तो उक्थ (शरीर) छटपटाने लगता है। एवमेव हम उक्थ हैं एवं पैर अर्क हैं एवं जमीन अशिति है। पैर (अर्क) जमीन (अशिति) को अपने कब्जे में करता हुआ आगे बढता रहता है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि प्रत्येक पदार्थ में तीन पार्ट हैं। बस, यही तीन पार्ट जीवात्मा में भी समझने चाहिएँ।

शरीर के ठीक बीचों-बीच हृत्केन्द्र में जो ज्ञानकन्दल है-उसे ही हम उक्थ कहेंगे। यह ज्ञान-ज्योति संसार के यच्चयावत् विषयों को प्रकाशित करती हुई प्रतिभासित होती रहती है। इस अन्तःस्थ ज्ञानकन्दल से इसके चारों ओर विशकलितस्वरूप वाली किरणें लहर लेती हुई चलती रहती हैं। प्राण-दपानत् क्रिया करती हुई लहरें वीचिएँ उस ज्ञानकन्दल में से चारों ओर बड़ी दूर तक फैली रहती हैं।

बस, इन ज्ञानरश्मियोंको ही **'अर्क'** कहते हैं । इस अर्क में जो अन्न आकर्षित हो उदर में हुत होता है–वही 'अशिति' है । इन्द्र के लिए ८० अक्षर का सम्बन्ध किया जाता है, अतएव **'अशिति'** को **'अशीति'** भी कहा करते हैं । इन्द्रान्न-सम्बन्धात् दीर्घ हो जाता है । यह जो जीवोक्थ है–उससे अर्क बाहर निकल निकल कर अन्न को आहुत करता रहता है । जो कन्दल है वही उक्थ है उसे ही **'मन'** भी कहते हैं । उस उक्थ में से प्राणदपानत् करती हुई जो ज्ञानरश्मियाँ निकलती हैं वे ही **'प्राण'** हैं एवं उससे जो अन्न आहुत होता है, वही वाक् है । बस, इस मन-प्राण-वाक् समष्टि को किंवा उक्थ-अर्क-अशिति समष्टि को ही जीवात्मा कहते हैं, अतएव **'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः'** यह कहा जाता है । तात्पर्य्य कहने का यही है कि यह जीव उक्थ-अर्क-अशित्यात्मकतया त्रिवृत् है । तीन पार्ट में जीव का स्वरूप कायम होता है । बस, इसी आत्मव्यापार को बतलाती हुई श्रुति सैकड़ों स्थलों में **'स ऐक्षत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्'** कहा जाता है । उक्थ-अर्क-अशिति को ही दूसरे शब्दों में इच्छा-तप-श्रम कहा करते हैं । चूँकि यह आत्मा त्रिवृत् है तथा अशिति से ही जीवन धारण करता है, अतएव इस आत्मा को **'जीव'** कहा करते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अन्तःस्थमुक्थं परितः समन्तादर्चंश्चरन् यस्य विकस्वरोऽर्कः ।
अशीतिरर्कोऽस्ति तदन्नभूता त्रिवृत्स्वरूपोऽस्ति ततः स जीवः" ॥१७३॥

इसी बात को दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं —

यह जो एक सूर्य्य का बडा भारी प्रकाशमण्डल देख रहे हैं–उस प्रकाश के ठीक बीच में सूर्य्य का बिम्ब स्थिर है । प्रकाश के ठीक बीच में-भगवान् सूर्य्य तप रहे हैं । इनके चारों ओर प्रकाशमण्डल है–जिस प्रकाशमण्डल के मण्डल में पृथिवी चन्द्रमादि समा रहे हैं । इस भामण्डल के पेट में सोलर सिस्टम के अन्तर्गत शुक्र, शनि, रवि, सोम–इत्यादि ग्रह-नक्षत्रादि एवं ये सारे जगत् (घट-पट-पर्वत) इत्यादि इत्यादि प्रतिभासित हो रहे हैं । सारा जगत् सौरप्रकाशमण्डल में भुक्त है । तो बस, सूर्य्य-प्रकाश-मण्डल एवं खुद से एवं ग्रहादि से त्रिवृत् है–तद्वत् ही उक्थ-अर्क-अशित्यात्मक यह जो एक त्रिवृत् विशेष है–वही मैं हूँ–बस, वह मैं ही तो जीवात्मा है । मैं मेरे प्रकाश के बीच में बैठा हुआ हूँ–मेरे चारों ओर ज्ञानरश्मिएँ फैल रही हैं–उनके द्वारा जो खुराक मुझे मिलती है–यही अशिति है । तात्पर्य्य कहने का यही है–जीव 'त्रिवृत्' है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"प्रकाशनाभौ हरिदश्वबिम्बो भामण्डलं तस्य समन्ततोऽस्ति ।
भामण्डले भान्ति जगन्ति वेनक्ष्मादीनि तद्वत् त्रिवृदस्म्यहं सः" ॥१७४॥

इस उक्थ-अर्क-अशिति में जो उक्थ है–बस, वही 'मैं' आत्मा हूँ । जो अन्तःस्थ ज्ञानकन्दल है–जो कि शान्त एवं प्रसादगुणयुक्त है–वही 'आत्मा' है । इस आत्मा के चौतरफ रश्मिस्वरूप जो अर्क हैं–वही 'ज्ञान' है । उसी आत्मा में से ज्ञान का हिस्सा चयनस्वरूप से चूँकि बाहर निकलता है–अतएव इसे (अर्क को) चेतना भी कहते हैं । इस ज्ञान में जो काममय जगत् है–वही इसकी अशिति है–इसी अशिति

को 'सत्ता' कहते हैं। इन ज्ञान किंवा अशिति-इन दोनों का मूल 'उक्थ' ही है। ज्ञानरश्मिएँ बाहर जाकर विषयाकाराकारित हो जाती हैं। बस, उसी को वासना किंवा काम कहते हैं। यह वासना-जगत् ज्ञान में मुक्त है-आत्मा की असली वस्तु है। वासनात्मक जगत् ही आत्मा को कर्म्मगति में प्रवृत्त करता है। आत्मा आनन्द है, आत्मरश्मिएँ चित् हैं एवं वासनात्मक जगत् सत्ता है। अतएव जीव को **'सच्चिदानन्द'** कहा जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यत् तत्र चोक्थं तदहं स आत्मा योऽर्कोऽस्ति तज्ज्ञानमिति ब्रवीमि।
ज्ञाने तु यत्काममयं जगद्भात्यशीतिरेषाखिलमूलमुक्थम्" ॥१७५॥

आत्मा जैसी कामना करता है-वैसा ही रूप इसमें खिच जाता है। बस, यही इस आत्मा का कर्म्म कहलाता है। यह कर्म्मात्मक काम ही चूंकि इस आत्मा का जगत् है, अतएव आत्मा को 'काममय' बतलाया जाता है। काम अर्थात् वासना-जगत् ही आत्मा का स्वरूप है। विना वासना के जीवात्मा की स्थिति नहीं रहती, अतएव इस जगत् को 'अन्न' कहते हैं। यदि वासना टूट जाती है-तो जीवस्वरूप का ईश्वर में अप्यय (लय) हो जाता है। यदि आत्मा निष्कामकर्म्म करने लगता है-अर्थात् अकाम हो जाता है-तो इसकी स्वरूपस्थिति ही नहीं रहती। काम के नष्ट होते ही स्वसत्ता को छोडकर ईश्वरसत्ता में लीन हो जाता है। चूंकि काम से-वासनात्मक जगत् से ही आत्मसत्ता रहती है-अतएव आत्मा को हमने काममय बतलाया है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"आत्मा यथा कामयते तथाऽस्मिन्नुदेति रूपं तदमुष्य कर्म्म।
कामो जगत् काममयः स आत्मा सोऽप्येत्यकामोऽन्नमतोऽस्य सोऽस्ति" ॥१७६॥

इन अनन्त जीवों का आश्रयभूत जो ईश्वर है-वह भी आत्मा (जीवात्मा) वत् नित्य सकाम है। आत्मवत् ईश्वर भी काममय है। काम उसके स्वरूप में दाखिल है। फ़रक इतना है-हम अनित्यकाम अतएव असर्वकाम हैं एवं वह नित्यकाम, अतएव सर्वकाम है। हमारा काम पराधीन है-उसका काम स्वतन्त्र है। हम जिसकी इच्छा करते हैं-उसके लिए हमें कोशिश करनी पड़ती है, परन्तु ईश्वर के काम के साथ कर्म्म तदव्यवहितोत्तरकाल ही में हो जाता है। वह जो इच्छा करता है-वह हो ही जाता है। हमारी इच्छा निष्फल जाती है। प्रकृत में हमें यही बतलाना है-उस ईश्वर के जो अनन्तानन्त काम हैं-उन कामों में से एक 'धी' (विज्ञान) नाम का काम है। बस वही 'धी' नाम का काम ही जीव में उक्थस्वरूपेण उदित होता है। पानी से भरे हुए १० हजार घड़ों में सूर्य्य की चारों ओर वितत होने वाली रश्मिएँ जैसे १० हजार उक्थों में परिणत हो जाती हैं। जैसे कि सूर्य्य अपने प्रकाश का उक्थ है-तद्वत् घटसूर्य्य भी अपने प्रकाश के उक्थ बन जाते हैं-तद्वत् ही प्रज्ञापानी से भरे हुए सारे शरीर भी उस ज्ञान काम से अनन्त उक्थ बन जाते हैं। उसी चित् के आभास से-प्रतिबिम्ब से सारे जीव उक्थ बन जाते हैं। ईश्वर की ज्ञानरश्मि ही इन जीवों का उक्थ है। ईश्वर-शरीर के जो अर्क हैं-वे ही जीव के उक्थ हैं।

इन जीवों के उक्थ का मूल अनुक्थ ईश्वर है। चूँकि उसी चित् का आभास प्रज्ञान पर पड़ता है, अतएव जीव को हम 'चिदाभास' कहा करते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"य ईश्वरो नित्यमयं सकामः स सर्वकामोऽस्य हि कोपिकामः।
धीर्नाम जीवोक्थमिहोदितं स्याज्जीवं चिदाभासमतो वदामः" ॥१७७॥

पूर्वकथन से सिद्ध हो जाता है कि यह जीवोक्थ ऐश्वर है-ईश्वरसम्बन्धी है। ईश्वर के अर्क ही जीवोक्थ बने हुए हैं। यह जीव की अपने घट की वस्तु नहीं हैं, अपि तु, ईश्वरीय वस्तु है। तो जबकि उक्थ ऐश्वर है तो काम स्वतः ऐश्वर है-यह बात सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार से जैसे जीवोक्थ ऐश्वर है, तद्वत् ईश्वर में भी किसी अन्य का उक्थ होगा-यह बात नहीं मानी जा सकती। घट-प्रतिबिम्ब जैसे सूर्य्य के प्रतिबिम्ब हैं-तद्वत् सूर्य्य भी किसी अन्य का प्रतिबिम्ब है-यह बात कौन मान सकता है? बस, इसी प्रकार जैसे जीवोक्थ ऐश्वर है-तद्वत् ईश्वर का कोई अन्य उक्थ थोड़े ही हो सकता है। यदि ईश्वर से कोई अन्य होता तो उसके ज्ञान से यह ईश्वरोक्थ होता। परन्तु यहाँ तो ईश्वर से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। बस, इससे सिद्ध हो जाता है कि ईश्वर अनुक्थ है। यह सर्वज्ञ है-सर्वशक्तिमान् है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"जीवोक्थमित्थं ध्रुवमैश्वरः स्यात् कामो न तत्संभवतीश्वरेऽस्मिन्।
तस्मादनुक्थः परमेश्वरोऽसौ सर्वज्ञ एषोऽस्ति च सर्वशक्तिः" ॥१७८॥

ईश्वर की जो अनन्त शक्तिएँ हैं-वे ही ईश्वर के काम हैं। वे काम ही इसके कर्म्म हैं एवं कर्म्म ही जगत् है। यह जगत् कर्म्मरूपमय है। इसका कुछ रूप है एवं नाम है एवं स्वयं यह जगत् कर्म्मरूप है। बस, इस नाम-रूप कर्म्म की मिलित अवस्था को ही तो 'जगत्' कहते हैं। सम्पूर्ण कथन से हमें यही बतलाना है कि जीवोक्थ अनुक्थेश्वरजन्य है, अतएव उक्थ है एवं ईश्वर अनुक्थ है-बस, जीव एवं ईश्वर में परस्पर यही भेद है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ताः शक्तयस्तस्य भवन्ति कामाः कर्म्माणि तान्यस्य जगन्ति सन्ति।
स्युः कर्म्मरूपाणि च रूपनामान्येतत्त्रयं संमिलितं जगत्स्यात्" ॥१७९॥

——※——

१३-असर्वजीवग्राह्यार्थत्व-सर्वजीवग्राह्यार्थत्वाभ्यां भेदः ॥८॥

असर्वजीवग्राह्यार्थत्व, सर्वजीवग्राह्यार्थत्वतया जीवेश्वर में परस्परभेद—

प्रत्येक मनुष्य का अपना-अपना ज्ञानीयजगत् सर्वथा भिन्न है। एक के अन्तर्जगत् की दूसरे को जरा भी खबर नहीं है। कल्पना कीजिए १० हजार मनुष्य एक स्थान पर बैठे हुए हैं-प्रत्येक मनुष्य के

खयाल में नाना पदार्थ ग्रा रहे हैं। कोई किस का ध्यान कर रहा है-कोई किसका ध्यान कर रहा है। सब ग्रपनी ग्रपनी खिचड़ी ग्रलग-अलग पका रहे हैं। सारे जीव ग्रपने ज्ञान में ग्राए हुए पदार्थ को ही देख रहे हैं। ग्रन्य के ग्राशय को किंवा दृष्ट ग्रर्थ को अन्य जीव ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ हैं। हम नहीं जानते कि सामने बैठा हुग्रा मनुष्य हमारे लिए शत्रुता के भाव रखता है-या मित्रता के। कहने का तात्पर्य्य यही है कि सारे जीव परस्पर के आशय एवं दृष्टार्थ के विषय में भिन्न हैं। एक के ग्राशय एवं दृष्टार्थ की दूसरे को जरा भी खबर नहीं है। परन्तु ईश्वर के ज्ञान में तो सारे जीव सामान्यतया बैठे हुए हैं। उसे तो सारे जीवों की खबर है। कौन किस समय क्या करता है? यह जानना जीवशक्ति के बाहर है, परन्तु ईश्वर तो घट-घट व्याप्त है। वह तो सारे जीवों के कारनामों को प्रतिक्षण अपनी बही में नोट कर रहा है। इस प्रकार से चूंकि सर्व जीव ग्राशय किंवा दृष्टार्थ के ग्रहण में सर्वथा ग्रसमर्थ हैं-वे अपने से भिन्न दूसरे जीव के ग्राशय एवं दृष्टार्थ से बिलकुल अपरिचित हैं एवं ठीक इसके विपरीत ईश्वर-में सर्वजीवाशय-दृष्टार्थत्व का ज्ञान मौजूद है-उसे सारे जीवों के दृष्टार्थ का एवं आशय का प्रत्यक्ष हो रहा है, ग्रतएव हम ईश्वर को जीव से भिन्न कहने के लिए तय्यार हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ग्रोझाजी ने कहा है—

"सर्वेऽपि जीवा निजधीस्थमर्थं गृह्णन्ति नान्याशयदृष्टमर्थम्।
तदीश्वरज्ञानगतं तु सर्वेऽविशेषतस्तेन स जीवभिन्नः"॥१८०॥

———

१४–नानात्वैकत्वाभ्यां भेदः ॥९॥

नानात्व-एकत्वतया परस्पर भेद—

हमारा ज्ञानप्रमाण अनन्त जीवसत्ता को मानने के लिए हमें मजबूर करता है। हम देखते हैं कि एक जीव रो रहा है, एक हँस रहा है, एक मर रहा है, एक खा रहा है, एक सोता है एक जागता है-इस प्रकार से हम अपने ज्ञान से जीवों में नानाभाव का प्रत्यक्ष कर रहे हैं। यदि एक ही जीव होता तो एक के मरने से सारे संसार का प्रलय हो जाता। एक के रोने से सारी जगह करुण क्रन्दन मच जाता, परन्तु हम प्रति जीव में भिन्न व्यवहार देख रहे हैं, ग्रतः मानना पड़ता है कि जीव नाना हैं एवं परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। इस प्रकार से जैसे जीवों के नानात्व में व्यवहारभेद लिङ्ग है, तद्वत् ईश्वरनानात्व में हम कोई प्रमाण नहीं पाते। हमें ईश्वर के विषय में एक भी प्रमाण ऐसा नहीं मिलता-जिससे कि जीववत् ईश्वर को हम नाना कह सकें। चूंकि व्यवहारभेदवत् ईश्वर में कोई नानात्व लिङ्ग नहीं है, ग्रतएव हम ईश्वर को एक एवं उसको-ज्ञान को नित्यस्वरूप ही मानेंगे। इस प्रकार से ईश्वर एक है एवं जीव ग्रनेक है-यही ईश्वर और जीव में परस्पर भेद है। जैसा कि गुरुवर श्री ग्रोझाजी ने कहा है—

"नाना तु जीवा व्यवहारभेदाद् यथावधेया न तथेश्वरेऽपि
नानात्वलिङ्गं किमपि प्रपद्ये तेनेश्वरज्ञानमिदं सदैकम्" ॥१८१॥

१५–व्यवस्थत्वैकरसत्वाभ्यां भेदः ।।१०।।

व्यवस्थत्व, एकरसत्वतया परस्पर भेद—

हमने जगत् ईश्वर-जीव भेदेन दो का प्रकार बतलाया है। ईश्वरजगत् को बहिर्जगत् कहते हैं एवं जीवजगत् को अन्तर्जगत् कहते हैं। ईश्वरजगत् एक है–जीवजगत् अनन्त हैं। ईश्वरजगत् नित्य है–जीवजगत् अनित्य है। ईश्वरजगत् सत्तासिद्ध है–जीवजगत् भातिसिद्ध है। यह जो ईश्वरजन्य सत्तासिद्ध जगत् है–उसमें दो भाव देखते हैं–जड़ और चेतन। इस विश्व में एक थोक तो ऐसा है जो सर्वथा जड़ है–अर्थात् अनिन्द्रिय है, एक थोक ऐसा है–जो सर्वथा चेतन है–अर्थात् सेन्द्रिय है। परन्तु इतना ध्यान रहे–प्राण जड़ और चेतन दोनों में है। इसीलिए **'सर्वं प्राणिभिरावृतम्'** कहा जाता है। जड़ और चेतन की व्यवस्था केवल इन्द्रियभावाभाव पर अवलम्बित है–इसलिए भगवान् चरक कहते हैं—

"सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्"।[1]

कहने का तात्पर्य्य यही है कि ईश्वरजन्य जगत् चेतन (सेन्द्रिय) और अचेतन (निरिन्द्रिय) भेद से दो प्रकार का है। परन्तु इस जीवजगत् में तीन अवस्थाएँ होती हैं–जिस समय जीव स्वप्नावस्था में रहता है तब तो इसमें जड़ और चेतन दोनों सृष्टिएँ होती हैं। स्वप्न में जीव हाथी-घोड़े-फौज-बाग-बगीचा–इत्यादि नाना प्रकार की जड़चेतनात्मिका सृष्टिएँ बना लेता है। वहाँ जीव ही जड़ और चेतन-सृष्टि का निर्म्माता है। इस प्रकार से स्वप्न में जीव और ईश्वर-सृष्टि का साम्य है। एवं जाग्रत्-अवस्था में जीव केवल जड़ सृष्टि ही बना सकता है–मकान-बाग-बगीचे ही बना सकता है–जो कि अपूर्व शिल्प कहलाती है। जैसे स्वप्न में चेतन हाथी-घोड़े बना लेता है, तद्वत् जाग्रत्-अवस्था में जीव चेतनसृष्टि निर्म्माण में सर्वथा असमर्थ है। परन्तु सुषुप्ति में न जड़ ही का निर्म्माण कर सकता है–न चेतन ही का। वहाँ बिलकुल शून्य अवस्था में रहता है। इस प्रकार से जीव स्वप्न में ईश्वरतुल्य सृष्टि बनाता है, जाग्रत् में केवल जड़सृष्टि बनाता है एवं सुषुप्ति में कुछ नहीं बनाता है। इस प्रकार से जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति भेद से जीवसृष्टि तीन प्रकार की हो जाती है। परन्तु ईश्वर सदा एक अवस्था में रहता है एवं उसकी सृष्टि सदा एकरूपा ही रहती है। ईश्वर में तीन अवस्थाएँ हैं–परन्तु वह एक रस है एवं जीव में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थाएँ हैं, अतएव भिन्न रस है। बस, जीव और ईश्वर में यही भेद है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अचेतनं चेतनमित्थमेतज्जगद् द्विधास्तीश्वरजन्यमस्मिन्।
स्वप्ने तु जीवे द्विविधं प्रबोधे जडं सुषुप्तौ तु जगन्न किञ्चित्" ।।१८२।।

कई दार्शनिकों का कहना है कि ये सारी अवस्थाएँ जीववत् ईश्वर में भी हैं–ऐसी संभावना करते हैं। जब प्रलय हो जाता है तो उस समय न जड़सृष्टि रहती है एवं न चेतनसृष्टि रहती है।

१–चरकसंहिता १।४७।

दोनों का ईश्वर में लय हो जाता है। बस, यही ईश्वर का जीववत् सुषुप्तिकल्प है। जैसे सुषुप्ति अवस्था में जीव की उभयात्मिका सृष्टि का अभाव है, तद्वत् प्रलयावस्था में भी ईश्वरीय उभयात्मिका सृष्टि का अभाव है एवं यह जो आज सृष्टि हो रही है-वह ईश्वर का स्वप्नकल्प है। जीव जैसे स्वप्न में दोनों सृष्टियों का निर्म्माण करता है, तद्वत् आज दोनों सृष्टियाँ मौजूद हैं। बस, यही ईश्वर का स्वप्न है एवं जब ईश्वर जागता है तो सारे जीवों की मुक्ति हो जाती है। अर्थात्-जीवमुक्ति (चेतन का लय) ही ईश्वर की जाग्रत्-अवस्था है। जैसे जीव जाग्रत् में खाली जड़सृष्टि का निर्म्माण करता है, तद्वत् जीवमुक्ति में जाग्रत् ईश्वर खाली जड़सृष्टि का ही अधिपति रहता है। इस प्रकार से जीव और ईश्वर दोनों समान हैं। फरक केवल बड़े-छोटे का है। वह बड़ा जीव है। हम छोटे जीव हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"केचिद्विदुर्जीववदीश्वरेऽपि स्युस्ता अवस्था इति तर्कयामः।
सुषुप्तिकल्पः प्रलयोऽद्य सृष्टिः स्वप्नोऽस्ति जाग्रत्यथ जीवमुक्तिः" ॥१८३॥

——❀——

१६—ईश्वरवृत्तित्व-जीवावृत्तित्वाभ्यां भेदः ॥११॥

ईश्वरवृत्तित्व जीवावृत्तित्वतया जीवेश्वर में परस्पर भेद—

ईश्वर और जगत्-इन दो ही पार्ट में सारा प्रपञ्च बँटा हुआ है। जो ईश्वर है-वही आत्मा है एवं जगत् ही इस आत्मा का शरीर है, अतएव ईश्वर विश्वात्मा कहलाता है-ईश्वर ही को दूसरे शब्दों में ब्रह्म कहते हैं एवं जगत् ही को कर्म्म कहते हैं। ब्रह्म ही वैज्ञानिक परिभाषा में **'रस'** कहलाता है, कर्म्म ही **'बल'** कहलाता है। भूतप्रपञ्च को बल कहते हैं-ब्रह्म को आत्मा कहते हैं, अतएव यह **'भूतात्मा'** कहलाता है। इस भूतप्रपञ्च के जर्रे-जर्रे में यह आत्मा (रस) व्याप्त हो रहा है, एवमेव यह भूतप्रपञ्च आत्मा में व्याप्त हो रहा है। दोनों में दोनों ओतप्रोत हैं। न ब्रह्म विना कर्म्म के रहता है, न कर्म्म विना ब्रह्म के रहता है। कर्म्म ही मृत्यु शब्द से कहा जाता है एवं ब्रह्म अमृत शब्द से। यह मृत्यु सदा अमृत के पेट में रहता है, अतएव मृत्यु होकर भी कर्म्म नष्ट नहीं होने पाता है-इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति" ॥[1]

तात्पर्य्य यही है कि सारा जगत् ईश्वर के ज्ञानपटल पर स्थित है एवं ज्ञानजगत् में व्याप्त है। एवमेव जीव का भौतिक जगत् जीवात्मा में व्याप्त है एवं जीवात्मा उस जीव के अन्तर्जगत् में व्याप्त है।

१-शत० ब्रा० १०।५।२।४।

इस प्रकार से अपने-अपने जगत् को निमित्त बनाकर आत्मभूत व्यवस्था परमात्मा और जीवात्मा में समान है। जो ही व्यवस्था ईश्वर एवं ईश्वरीय जगत् में है-वही जीव और जैवजगत् में समझनी चाहिए। होना भी ऐसा ही चाहिए-क्योंकि जीव वास्तव में ईश्वर ही का तो अंश है। फिर भला, भेद क्योंकर हो सकता है? जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"सर्वाणि भूतानि यथात्मनि स्युः सर्वेषु भूतेषु तथा स आत्मा।
इयं व्यवस्था परमात्मजीवात्मनोः समा स्वस्वजगन्निमित्ता" ॥१८४॥

इस प्रकार स्व-स्वजगन्निमित्ता परमात्मा और जीवात्मा में समान व्यवस्था है-विशेष केवल इतना ही है कि जीवात्मा से निर्म्मित जो सम्पूर्ण भूतसमष्टि है-वह सारी की सारी परमेश्वर में मौजूद है। मेरा अन्तर्जगत् परमेश्वर की सत्ता के बाहर अपनी सत्ता नहीं रखता। सारे जीवों का अन्तर्जगत् उस व्यापक ईश्वर के पेट में समा रहा है। वह ईश्वर इन सारे जीवान्तर्जगतों का प्रत्यक्ष कर रहा है। उसके ज्ञान में सारा जीवजगत्-प्रपञ्च भासित हो रहा है। इस प्रकार से यह जीवात्मक्लृप्त सारा भूत-प्रपञ्च उस ईश्वर में प्रतिभासित हो रहा है, परन्तु ईश्वर इन जीवात्मभूतों के बन्धन में सर्वथा नहीं है। जीव ईश्वर में संलग्न है, परन्तु ईश्वर जीव में संलग्न नहीं है। क्योंकि जीव स्वशरीरपरिच्छिन्न है, अतः उस जीवभूत का आत्मा परिच्छिन्न जीव ही हो सकता है-न कि ईश्वर। वह व्यापक ईश्वर इस परिच्छिन्न जीवभूत की पकड़ में कैसे आ सकता है? अतः मानना पड़ता है कि जीवात्मभूत में ईश्वर नहीं है-अपि तु, जीवात्मभूत उस ईश्वर में संलग्न है। जीव में ईश्वरवृत्तिता है, परन्तु ईश्वर में जीववृत्तिता नहीं। घट में चमकते हुए १० करोड़ सूर्य्य के प्रतिबिम्ब उस सूर्य्य के पेट में हैं, परन्तु सूर्य्य प्रतिबिम्बों के पेट में थोड़े ही है। सूर्य्य अपने स्वरूप में आप स्वतन्त्र है-उसकी सत्ता के लिए किसी अन्य बिम्ब की आवश्यकता नहीं। परन्तु प्रतिबिम्बों को अवश्य ही सूर्य्यबिम्ब के आश्रित रहना पड़ता है। यदि सूर्य्य न रहे तो प्रतिबिम्ब ही न रहें। प्रतिबिम्ब की सत्ता सूर्य्य-सत्ता के लिए अपेक्षित थोड़े ही है। बस, इसी प्रकार से जीवात्मक्लृप्त भूतसंघ ईश्वर में हैं, परन्तु ईश्वर जीवात्मभूतों में परिच्छिन्न थोड़े ही है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं-**'न त्वहं तेषु ते मयि'**। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"इयान् विशेषस्त्विह वर्तते यज्जीवात्मक्लृप्तोऽखिलभूतसंघः।
परेश्वरेऽस्त्येव स पश्यतीमान् जीवात्मभूतत्वमुपैति नेशः" ॥१८५॥

जो कि विश्व परमात्मक्लृप्त है-परमात्मा के ज्ञान से बना हुआ है-जीवात्मप्रकाश में-जीवज्ञान में उसका प्रवेश नहीं हो सकता। जीवज्ञान में आया हुआ जगत् जीवक्लृप्त है-उसमें ईश्वर का सत्तासिद्ध जगत् आ ही नहीं सकता। ईश्वरीय पर्वत-नदी-तालाब-इत्यादि अगर यदि मेरे ज्ञान में आ जाएँ तो मैं एक क्षण भी उसके बोझ के मारे जिन्दा नहीं रह सकता हूँ, अतः मानना पड़ता है कि ईश्वरीय सत्तासिद्ध-जगत् का मेरे ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं। हो भी कैसे सकता है? जो जगत् अपनी स्थिति के लिए ईश्वर के व्यापक ज्ञान की अपेक्षा रखता है-वह जगत् जीव के जरा से ज्ञान में आ भी कैसे सकता है? परन्तु

ठीक इसके विपरीत जीवात्मक्लृप्त सारे विषय तो अवश्य ही उस असंग ईश्वर-प्रकाश में मौजूद हैं। बडे में छोटी चीज समा जाती है, अतएव क्षुद्र जीवों के सारे अन्तर्जगत् उस ईश्वरीय व्यापक ज्ञान में समा रहे हैं, परन्तु चूंकि छोटी में बडी चीज नहीं रह सकती, अतएव क्षुद्र जीव ज्ञानप्रकाश में व्यापक ईश्वरीय जगत् नहीं समा सकता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यत्त्वस्ति विश्वं परमात्मक्लृप्तं जीवात्मभास्यस्य तु न प्रवेशः।
जीवात्मक्लृप्ता विषयास्तु तत्रेश्वरप्रकाशे निहिता असङ्गे" ॥१८६॥

बस, इसी भित्ति के आधार पर दार्शनिक-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण इस विषय में अपना सिद्धान्त बतलाते हुए कहते हैं कि ये सारे भूत मेरे प्रकाश में (अव्यय के प्रकाश में) स्थित हैं। मेरे ज्ञान के आश्रित सारे भूत स्थित हैं। परन्तु साथ ही में इतना और समझ लेना चाहिए कि मैं उन भूतों में हूँ भी नहीं। ये सारे भूत मेरे से ही वितत हुए हैं, सारा भूतप्रपञ्च मेरे से ही उत्पन्न हुआ है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"सिद्धान्तमाहुस्तत एव भूतान्येतानि सर्वाणि मयि स्थितानि।
स्थितोऽस्मि भूतेषु तु तेषु नाहं मयैव सर्वाणि ततानि तानि" ॥१८७॥

ये सारे भूत मेरे में स्थित हैं-मुझे (ज्ञान को) छोडकर इनकी सत्ता रह भी कहाँ सकती है? परन्तु नहीं, नहीं-ये भूत मेरे में स्थित होते हुए भी मेरे में नहीं हैं। क्योंकि आत्मा असंग है और जगत् ससंग है। असंग के साथ ससंग पदार्थ भले ही कितने ही रहें तथापि वह असंग असंग ही रहता है।

जिस प्रकार से आकाशगत वायु आकाश को चारों ओर से वेष्टित कर लेती है एवं उसके जर्रे-जर्रे में ओतप्रोत रहती है तथापि आकाश वायु से मिलने नहीं पाता-बस, ठीक इसी प्रकार से वह भूतसंघ ईश्वर में स्थित है। किन्तु इन भूतों में ईश्वर संसक्त नहीं होने पाता। इसी अभिप्राय से गीता कहती है—

"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः" ॥[1]

१-गीता ६।४-५।

बस, जीव ईश्वर में यही भेद है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"भूतानि मत्स्थान्यपि नैव मत्स्थान्येतानि सन्त्यात्मपृथक्त्वहेतोः ।
पात्रस्थिता आप इमा न पात्रात्मनि स्थिता आत्मपृथक्त्वहेतोः" ॥१८८॥

"वायुर्यथाकाशगतः समन्ताद् व्याप्नोति खं किन्तु न सज्जते खम् ।
तथेश्वरस्थः स हि भूतसंघः किन्त्वेषु नासज्ज्यत ईश्वरोऽयम्" ॥१८९॥

१७–जीवजगदीश्वरजगतोः परस्परानुरोधः ॥१२॥

जीवजगत्, ईश्वरजगत् में परस्परानुरोध—

हमने जगत् दो प्रकार के बतलाए हैं–(१) अन्तर्जगत्, (२) बहिर्जगत्। इस अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् में परस्पर कितना भेद है एवं इन दोनों में परस्पर सम्बन्ध क्या है ? कितने प्रकार का है– यही इस प्रकरण में बतलाया जाता है। पर्वत, नदी, घोड़ा, हाथी, मनुष्य, पशु-पक्षी–इत्यादि इत्यादि युक्त जो बहिर्जगत् है–उसी का वैसा ही फोटू मेरे ज्ञान में उतर जाता है। बहिर्जगत् जैसा है, जिस आकार का है, उस बहिर्जगत् के प्रत्याघात से मेरे अन्तर्जगत् में हूबहू वैसी ही (बहिर्जगत् जैसी ही) सृष्टियाँ होती हैं। अश्व के हिनहिनाहट शब्द से और रूप से जब ज्ञानयुक्त होता है तो अन्तरात्मा से बना हुआ–वह जगत् तद्रूप एवं तत्-शब्दयुक्त ही प्रतिभासित होने लगता है। जैसे घोड़े कारूप मेरे अन्तर्जगत् में आता है–तद्वत् घोड़े के शब्द का भी फोटू मेरे में खिच आता है। इसमें यही प्रमाण है कि जब कोई मनुष्य घोड़े के हिनहिनाहट की नकल करने लगता है तो हम उसे कह देते हैं कि नहीं भाई ! यह घोड़े की बोली नहीं है–यह तो गधे का सा स्वर है। इससे सिद्ध हो जाता है कि घोड़े का रूप जैसे हमारे पास आता है–तद्वत् उसका शब्द भी ज्ञान में अङ्कित हो जाता है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि–बहिर्जगत् (अश्व) का जैसा स्वरूप है–जैसा उसका शब्द है–ठीक हुबहू वैसा ही फोटू उस बहिर्जगत् के आघात से हमारे अन्तर्जगत् में खिंच जाता है। सर्वात्मना पूरे फोटू खिंच जाने ही को निश्चयात्मक ज्ञान कहते हैं। तो एक तो अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् का यही सम्बन्ध है। इसमें जैसा बहिर्जगत् है–अन्तरात्मक्लृप्त सृष्टि हूबहू वैसी ही होती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"बहिर्जगद् यद्विधमस्ति तद्विधास्तद्योगतोऽन्तर्जगति प्रसृष्टयः ।
यद्रूपशब्देन हयेन युज्यतेऽन्तरात्मक्लृप्तः स तथैव दृश्यते" ॥१९०॥

परन्तु कहीं विपरीततया भी हुआ करती है–पर्वत-अश्व-हाथी इत्यादि बहिर्जगत् जो अर्थ हैं– तद्गत जो गुण-कर्म्म सामान्य-विशेषत्वादि धर्म्म हैं- उन सबसे जब यह ज्ञानयुक्त नहीं होने पाता है,

अर्थात्–बहिर्जगदन्तर्गत अर्थों में रहने वाली गुणसमष्टि का सर्वात्मना अन्तर्जगत् से योग नहीं होने पाता है तो यह आत्मा अन्यान्ययोग से जैसा स्वरूप पुरोऽवस्थित बहिर्जगत् का है–उससे भिन्न ही प्रकार के अन्तर्जगत् का निर्म्माण कर डालता है। कुछ धर्म्म पुरोऽवस्थित बहिर्जगत् के आ पाते हैं एवं कुछ को यह अपने आप मिलाता है। कल्पना कर लीजिए–सामने एक स्थाणु खड़ा हुआ है। अब उस स्थाणु के वर्त्तुलत्व-शुष्कत्व-निरिन्द्रियत्व-अचलत्वादि जो-जो धर्म्म हैं–उन सबके साथ यदि आन्तरज्ञान का योग नहीं होता है तो यह आन्तरज्ञान अपनी ओर से अन्यान्य वस्तुओं का इस पुरोऽवस्थित स्थाणु में मेल कर देता है। कभी पुरुष का सम्बन्ध स्थाणु में कर देता है एवं कभी किसी का, कभी किसी का। बस, इसी ज्ञान को **'संशय'** कहते हैं एवं इसी संशय का भाई-बन्धु **'भ्रम'** है। भ्रम और संशय में फरक इतना है कि संशय में चार-पाँच धर्म्म शामिल रहते हैं। कभी **'स्थाणुर्वा अयं'**–यह कहता है तो कभी **'पुरुषो वाऽयम्'**–कहता है। किसी एक मार्ग पर दृढ नहीं है, परन्तु भ्रम में यह बात नहीं है–भ्रम में तो उतनी देर के लिए निश्चयात्मक ही हो जाता है। यदि रज्जु को उसने सर्प समझ लिया तो फिर भ्रमोच्छेदनकालपर्य्यन्त उसे (रज्जु को) सर्प ही समझेगा। बस, संशय और भ्रम में यही फरक है। पहले वाली अन्तर्जगत् सृष्टि में हूबहू वैसा ही फोटू खिचता था–उसमें अपनी ओर से (जीव को) कुछ नहीं मिलाना पड़ता था। जैसा वस्तु का आकार होता था–वैसे ही आकार से आकारितमात्र जीवज्ञान हो जाता था। परन्तु यहाँ आकारित ही नहीं होता–अपि तु, अपने ओर से अन्यान्य पुरुषादि का सम्बन्ध और उस स्थाणु में कर लाता है। पहले वाली सृष्टि में सर्वात्मना बहिर्जगत्सदृश अन्तर्जगत् का निर्म्माण हो गया–उसमें अपनी ओर से कोई नई चीज नहीं मिलाई जाती थी एवं यह सृष्टि उभयात्मिका है–इसमें कुछ बाहर के धर्म्म आते हैं–कुछ अन्तरात्मा अपनी ओर से मिलाता है–पहला ज्ञान निश्चयात्मक था–यह संशयात्मक और भ्रमात्मक है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

> "क्वचित्पुनर्बाह्यजगद्गतार्थगा ये ये गुणास्तैः सकलैर्न युज्यते।
> अन्यान्ययोगात्त्वपि सोऽन्यथाऽऽन्तरः प्रकल्प्यते स भ्रम एष संशयः"॥१६१॥

परन्तु कहीं इससे भी विरुद्ध अन्तःसृष्टि होती है। कहीं-कहीं अन्तरात्मा अपने आप ही किसी भावविशेष की तर्कना करता है–जिसकी कि बहिर्जगत् में कहीं भी सत्ता नहीं है। अपने मन ही मन में अपने ही ज्ञान से एक नया भाव खड़ा करता है। यदि उसे कोई नये तर्ज का मकान बनाना होता है तो पहले उसका फोटू अपने ज्ञान में उतार लेता है। भविष्य में बाहर आने वाले मकान का निर्म्माण पहले ज्ञान में होता है। उसकी सत्ता पहले ज्ञान में होती है। ज्ञान के अलावा अखिल विश्व में कहीं बहिर्जगत् में उसकी सत्ता नहीं है। इस प्रकार से पहले उसका ज्ञान में निर्म्माण कर बाद में वह ऐसा प्रयत्न करता है-उस ढंग से बलप्रयोग करता है–जिससे कि अन्तराकार से वह अर्थ बहिःस्थित होकर हमें प्रतीत होने लगता है। जिस समय कुम्हार घड़ा बनाना चाहता है–उस समय पहले उसका फोटू अपने मस्तिष्क में खैंचता है। बाद में मिट्टी पर उस ढंग से बल–प्रयोग करता है–जिससे कि जैसा आकार उसके ज्ञान में रहता है–मिट्टी तदाकाराकारित बन जाती है। आज यद्यपि घड़ा प्रतिरूपशिल्प बन गया है, परन्तु प्रारम्भ में घड़ा अपूर्वशिल्प था। पहले पहल घड़ा पहले मनुष्य के अन्तर्जगत् में बना था, बाद

में बहिर्जगत् में इसकी स्थिति हुई थी। घड़े को जाने दीजिए, आज जो नए-नए आविष्कार होते हैं-बतलाइए उनकी सत्ता सिवाय ज्ञान के और बाहर कहाँ थी ? उनका फोटू पहले हमारे ज्ञान में खिचता है-बाद में तदनुसार ही बल-प्रयोग करके उस ज्ञानीय वस्तु को बाहर स्थित कर देता है। पूर्वोक्त सृष्टियों में बाहर का कुछ न कुछ सम्बन्ध था, परन्तु इसमें बाहर की कोई वस्तु नहीं है। बात वास्तव में सच है। जो नया आविष्कार है-उसकी सृष्टि अपने आपसे पहले ज्ञानीय जगत् में होती है। ज्ञान ही उसका निर्म्माण विना बाहर की सत्ता के करता है। पहले वाली सृष्टि में सारी महिमा बहिर्जगत् की है, बीच की सृष्टि का निर्म्माण कुछ बहिर्जगत् और कुछ अपने ज्ञान के मेल से होती है एवं यह तीसरी सृष्टि अपने ही ज्ञान से होती है। इसमें बाहर का सम्बन्ध पहले नहीं होता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"एतद्विरुद्धं क्वचिदन्तरात्मना स्वभावतो भावविशेष ऊह्यते ।
तथा स यत्नं कुरुते यथाऽऽन्तराकारेण सोऽर्थो लभते बहिःस्थितिम्"॥१६२॥

घट-रथ-छत्र-अमत्र (अमरती), आसन, कुरसी, फर्श (वृसी) दर्पण-इत्यादि इत्यादि जितने भी नए आविष्कार हैं-पहले अन्तरात्मा में हुए थे। इनका निर्म्माण पहले ज्ञान में हुआ था, सिवाय अन्तर्जगत् के बाहर कहीं भी घट-रथ-छत्रादि की स्थिति नहीं थी। पहले इनका निर्म्माण अन्तरात्मा में अपनी ही सामग्री से होता है। बाद में उसी आत्मा से बनकर ये रथादि बाहर उद्भूत हुए हैं। इनकी सत्ता पहले भीतर थी। बाद में उस आत्मा से ही तदनुसार बल-प्रयोग से इन सब आन्तर्जगतों की स्थिति बाहर होती है। इसे ही 'अपूर्वशिल्प' कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"गृहं रथश्छत्रममत्रमासनं कूर्चं वृसी दर्पणमेवमादिकम् ।
पूर्वं बभूवान्तरमन्तरात्मना क्लृप्तं ततस्तद्बहिरुद्बभूव ह" ॥१६३॥

कहीं-कहीं सूर्य्य, चन्द्र, पर्वत, वृक्ष, गौ, हय, इत्यादि परमात्मक्लृप्त जो बहिर्जगत् के पदार्थ हैं-उनसे युक्त होकर अन्तरात्मा जैसे रूप अपने में बना लेता है-बस, उन्हीं को बाहर बना देता है। पहले घोड़े को देखकर उसका फोटू अपने में उतार लेता है-बाद में तदनुसार ही उसे बल-प्रयोग द्वारा बाहर बना देता है। इसे ही 'प्रतिरूपशिल्प' कहते हैं। बाहर के पदार्थों की नकल अपने में उतारना और तदनुसार वैसे ही पदार्थ को बाहर बनाना 'प्रतिरूपशिल्प' कहलाता है। इस प्रकार से अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के आधार पर-ये ४ प्रकार की सृष्टियाँ होती हैं। पहली सृष्टि में अपना कुछ नहीं है-सारी नकल बाहर की है। जैसा बहिर्वस्तु का आकार है-तदाकाराकारित ही अन्तःसृष्टि होती है। दूसरी सृष्टि में कुछ अपना रहता है-कुछ बाहर के धर्म्म आते हैं। यह संशयात्मक और भ्रमात्मक ज्ञान कहलाता है। तीसरी सृष्टि में अपना ही अपना रहता है-यही 'अपूर्वशिल्प' कहलाता है। चौथी सृष्टि में बाहर का फोटू उतार तदनुसार पदार्थ निर्म्माण होते हैं-यही 'प्रतिरूपशिल्प' कहलाता है। बस, जीव-जगत् और ईश्वरजगत् में ये चार ही कोटियाँ होती हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"क्वचित्तु बाह्यैः परमात्मक्लृप्तैः सूर्य्येन्दुशैलद्रुमगोहयाद्यैः ।
संयुज्य रूपाणि यथाऽन्तरात्माऽकरोत् तथा तानि बहिः करोति" ॥१६४॥

जिस समय आत्मा बहिर्जगत् के पदार्थों से युक्त नहीं होता है तो उस समय यह सोता रहता है, अर्थात्-विषयसम्बन्धाभाव ही को **'स्वपिति'** कहते हैं । जिस समय मनुष्य सोता है-उस समय बहिर्जगत् का सर्वथा सम्बन्ध नहीं होता है । उस समय यह जीवात्मा विना बहिर्जगत् के शुद्ध अपने ही स्वरूप से आन्तर्जगत् की रचना करता है-जो कि स्वप्नसृष्टि कहलाती है । इसमें बाहर के पदार्थों की जरा भी सहायता नहीं लेनी पड़ती है । स्वयं ही प्रजा, राजा, हाथी, घोड़े सब कुछ बन जाता है । जब इस स्वाप्नसृष्टि से भी जीवात्मा ऊब जाता है तो उस समय सारी सृष्टियाँ तहस-नहस हो जाती हैं । उस समय चूँकि ये अपने आप में अपीत हो जाती हैं, अतएव इस समय जीव के लिए **'स्वपिति'** कहा जाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"तदित्थमन्तर्जगदानुरूप्यतो बहिर्जगद्रूपमुदेति कुत्रचित् ।
प्राधान्यतः किन्तु बहिर्जगद्विधामन्वेव चान्तर्जगतः प्रसृष्टयः" ॥१६५॥

इस प्रकार से अन्तर्जगत् के अनुसार भी कहीं बहिर्जगत् की सृष्टि होती है-जिसे कि **'अपूर्वशिल्प'** कहते हैं । परन्तु वास्तव में देखा जाए तो बहिर्जगत् के अनुसार ही आन्तर्जगत् की सृष्टियाँ होती हैं । अर्थात्-अन्तर्जगत् वास्तव में बहिर्जगत् के ही अधीन रहता है । ईश्वर जगत्सत्ता से अन्तर्जगत्सत्ता रहती है-न कि अन्तर्जगत् से बहिर्जगत् की सत्ता । हमने माना कि नई वस्तु (रथ-कुर्सी) पहले हमारे जगत् में बनती हैं-उनकी सत्ता बहिर्जगत् में नहीं है । परन्तु वास्तव में देखा जाए तो उसी बहिर्जगत् के पदार्थों (लोह-काष्ठ) पर इत्यादि बल-प्रयोग होने से रथादि का स्वरूप बनता है । यदि ये पदार्थ ही न होते तो कोरा ज्ञान क्या कर सकता था ? इसीलिए तो-**'बहिर्जगद्विधामन्वेव चान्तर्जगतः प्रसृष्टयः'**-कहा गया है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यदान्तरात्मा तु बहिर्जगद्गतैरर्थैर्न युङ्क्ते स्वपितीह तर्हि सः ।
शुद्धं तदान्तर्जगदेव कल्पते विरम्य तस्मादपि सुष्वपित्ययम्" ॥१६६॥

——※——

१८-ईश्वरजगति जीवजगतोऽनुरोधाभावः ॥१३॥

ईश्वरजगत् में जीवजगदपेक्षा का अभाव—

यह आन्तरजगत् जीवात्ममूल है । इस आन्तरजगत् का मूल जीवात्मा है । जीवज्ञान ही इस आन्तरजगत् का आधार है । यदि जीवात्मा का निग्रह कर लिया जाता है तो इस आन्तरजगत् का

स्वत एव निग्रह हो जाता है। कल्पना कीजिए-एक दीपक सामने रखा हुआ है–उस दीपक से निकल कर प्रकाशमण्डल चारों ओर बहुत दूर तक फैल रहा है। यदि दीपक प्रसन्न है अर्थात्–स्वच्छ एवं स्थिर है तो उसका भामण्डल भी स्वच्छ एवं स्थिर है। यदि लौ को कहीं स्थानान्तर में ले जाया जाता है तो प्रभामण्डल भी चल पड़ता है एवं यदि दीपक बुझ जाता है तो प्रभामण्डल स्वयं बुझ जाता है। बस, ठीक इसी प्रकार से जीव के प्रसाद में अन्तर्जगत् का प्रसाद है–उसकी स्थिति से अन्तर्जगत् की सत्ता है एवं उसके निग्रह से अन्तर्जगत् का निग्रह है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"जीवात्ममूलं हि तदान्तरं जगज्जीवात्मनो निग्रहणे निगृह्यते।
दीपे प्रसन्ने चलिते तिरोहिते तद्भाः प्रसीदेत् प्रचलेत् तिरोभवेत्" ॥१९७॥

ध्यान दीजिए–१० हजार दीपक बराबर-बराबर रखे हुए हैं। इन दीपकों में एक दीपक के विकृत हो जाने पर किंवा नष्ट हो जाने पर अन्य सारे दीपक जरा भी विकृत नहीं होते हैं। एक दीपक को उठाकर ले जाने से उस दीपक का ही प्रकाशमण्डल हट जाता है–अवशिष्ट दीपक एवं उनके प्रभामण्डल वहीं रहते हैं। तो जिस प्रकार से एक दीपक के नाश से अन्य दीपकों का कुछ नहीं बिगड़ता–तद्वत् एक जीव के विकृत हो जाने पर जीवान्तर सर्वथा सुस्थ रहते हैं। एक के विकार से अन्य जीवों का कुछ नहीं बिगड़ता है। एक जीव के नाश से उसका जगत् नष्ट हो जाता है, परन्तु अन्य जीवों का जगत् वैसे ही बना रहता है। तात्पर्य्य यही है कि जीवजगत् का ही विनाश होता है–न कि ईश्वरजगत् का। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"एकत्र दीपे विकृतेऽपि दीपान्तराणि सुस्थानि न विक्रियन्ते।
एकत्र जीवे विकृतेऽपि जीवान्तराणि सुस्थानि न विक्रियन्ते" ॥१९८॥

जीवजगत् जीव का बनाया हुआ है एवं जीव विनाशी है, अतः जीव के नाश से उसके जगत् का भी विनाश हो जाता है, परन्तु बहिर्जगत् ईश्वर के ज्ञान से बना हुआ है। इस बहिर्जगत् को वितत करने वाला–यही अद्वितीय ईश्वर है। चूंकि इस जगत् का मूलभूत ईश्वर है एवं वह है नित्यस्वरूप, अतः न तो कभी इसकी स्थानच्युति होती है अर्थात्–आज हरिद्वार यहाँ है तो कल वहाँ है–यह बात इस बहिर्जगत् में सर्वथा नहीं है। जो जहाँ है–वह वहीं है एवं न कभी इस बहिर्जगत् का विनाश ही होता है एवं न मेरी (जीव की) इच्छा से इस बहिर्जगत् में कुछ उलट-फेर ही होता है। ईश्वरीय जगत् के पर्वतादि की स्थान-च्युति करना जीव-सामर्थ्य के बाहर की बात है। ईश्वर व्यापक है, एक है, नित्य है, अतएव तन्निर्मित जगत् भी व्यापक है, एक है, नित्य है। फिर भला कैसे इस बहिर्जगत् की स्थानच्युति नाश एवं जीव इच्छा से विपर्यय हो सकता है? जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"बहिर्जगत्त्वीश्वरबोधक्लृप्तं तच्च स्वमूलेश्वरशाश्वतत्वात्।
स्थानाच्च्युतिं नैति नवोपरामं न वा मदिच्छाकृतमन्यथात्वम्" ॥१९९॥

चैत्र, मैत्र, यज्ञदत्त, देवदत्त–इत्यादि इत्यादि विभिन्न जीवात्माओं के स्वातन्त्र्य का (तन्त्रस्य) उस ईश्वरीय जगत् में जरा भी प्रवेश नहीं है। वे जरा भी अपनी स्वतन्त्रता का प्रवेश बहिर्जगत् में नहीं कर सकते। इसीलिए मैत्र के सोने पर, मूर्छित हो जाने पर, मर जाने पर एवं रुग्ण हो जाने पर भी जगत् एकरूप में ही रहता है। मैत्र के मर जाने से उसके अन्तर्जगत् का नाश हो जाता है– ईश्वरीय जगत् का इससे कुछ भी नहीं बिगड़ता। चाहे किसी का नाश हो या उत्पत्ति हो, ईश्वरीय जगत् का इससे कुछ भी नहीं बिगड़ता। ईश्वरजगत् को जीवजगत् की कोई अपेक्षा नहीं है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"तन्त्रस्य मैत्रादिविभिन्नजीवात्मनां न तत्र प्रसरोऽस्ति तस्मात्।
सुषुप्तिमूर्छामृतिकश्मलेऽपि सुस्थेऽपि मैत्रे जगदेकरूपम्" ।।२००।।

।। इति साधर्म्यवैधर्म्यवादः ।।

।। इति ईश्वरजगत्संशयवादप्रतिवादश्चतुर्थः खण्डः ।।

४

अथ

विशिष्टाद्वैतविज्ञाने नाम विशिष्टत्रिसत्योपनिषदि—

परिशिष्टवादः पञ्चमखण्डः

५

संशयतदुच्छेदवादमूलसंस्कृतपाठः—

अथ परिशिष्टवादः पञ्चमः खण्ड आरभ्यते ।

ज्ञानविषययोर्भेदाभेदवादः (१)

१–विषयाणां मिथ्यात्वादेकसत्तावादः ।

ज्ञानं प्रकाशो विषयस्तमस्तत्तयोः कथं स्यादितरेतरत्वम् ।
विविक्तयोर्नाप्यविविक्तभावः संभाव्यते नापि तयोश्च योगः ॥२०२॥

*अन्योन्यधर्मस्य परस्परस्मिन्नध्यास एवास्ति नितान्तमिथ्या ।
[1]आख्यात्य[2]सत्ख्यातिव[3]दन्यथार्थख्यात्या[4]त्मसंख्यातिषु सोस्ति काचित् ॥२०३॥

[1]सर्पस्य रज्जोश्च मिथो विवेकाग्रहोऽयमध्यास इति स्म केचित् ।
[2]रज्जावसत् पन्नगधर्मधीर्वा [3]देशान्तरीया हि मतिस्तथा वा ॥२०४॥

[4]बहिःस्थरज्जौ स्वमतिस्थसर्पो बहिर्वदाभासत आहुरेके ।
अन्यस्य धर्मस्य तदित्थमन्यत्राभासमध्यासमुशन्ति विज्ञाः ॥२०५॥

अध्यासमेतं प्रवदन्त्यविद्यां तद्वैपरीत्याद् भवतीह विद्या ।
ज्ञानस्य याऽनात्मविवेकपूर्वा वस्तुस्वरूपप्रतिपत्तिरस्ति ॥२०६॥

अध्यस्तसर्पस्य न रज्जुसत्ता भिन्नास्ति सत्तास्ति न तत्र सर्पः ।
अध्यस्त एवं विषयोऽत्र सत्ता नास्त्येव मिथ्या तु स मायिकत्वात् ॥२०७॥

मायावशात् सर्वजगत्प्रवृत्तिर्मायात्वविद्या स्वत एव जाता ।
सत्यद्भुताऽनिर्वचनीयरूपेत्येकं मतं तन्न विशिष्य हृद्यम् ॥२०८॥

२–विषयाणां ज्ञानात्मकत्वादेकसत्तावादः ।

परे तु तत्राहुरिमेऽखिलार्था भान्तीति न ज्ञानविनाकृताः स्युः ।
ज्ञानं यतः सत्यमिमेऽपि तस्मात् सत्याः स्युरेते न कदापि मिथ्या ॥२०९॥

ज्ञानं हि तेषां प्रभवः प्रतिष्ठा परायणं तेन ततो न भिन्नाः ।
ज्ञानस्य हि ज्ञानमिमे विना तैर्न ज्ञायते ज्ञानमिदं कदाचित् ॥२१०॥

---

* १–अख्यातिरध्यासः । २–असत्ख्यातिरध्यासः । ३–अन्यथाख्यातिरध्यासः । ४–आत्मख्यातिरध्यासः ।
५–अन्यत्रान्यधर्मावभासोऽध्यासः ।

ज्ञानैकतायां यदनेकतेयं जगत्तदाहुः स हि तद्विवर्तः ।
अन्तर्जगद्वच्च बहिर्जगत्तज्ज्ञानाद्विभिन्नं न कदाचिदस्ति ।।२११।।

ज्ञानस्य कर्माणि ततोऽत्र रूपाण्येषां च नामानि पृथक् प्रतीमः ।
उन्मुच्य धर्मान्न कदापि धर्मो संभाव्यते तेन तदेकमस्ति ।।२१२।।

कर्म्माणि यावच्च गुणाश्च यावत् द्रव्यं च तावन्न विविच्य तत् स्यात् ।
चेन्मन्यसे कर्म्मगुणांस्तु मिथ्या द्रव्यं च मिथ्या ध्रुवमेव तत्स्यात् ।।२१३।।

तथैव तन्नाम च कर्म्मरूपं ज्ञानात् पृथक् नास्ति तदेकमेतत् ।
तदेकतत्त्वं जगदस्ति सर्वं स ईश्वरः सोऽहमिमे च सर्वे ।।२१४।।

यदत्र नानात्वमिदं तु तस्य स्वरूपमेवास्ति तदस्य कर्म्म ।
वीचिर्जले वाससि चित्रवर्णोऽन्तर्द्वैतवानद्वयवत् प्रसिद्धः ।।२१५।।

द्वैतं तु सत्तान्यतयैव मन्ये सत्तैकतायां बहु चैकमस्ति ।
उष्णीषबन्धाम्बरतन्तुतूलानैक्येऽपि मूर्ध्न्येक इवायमर्थः ।।२१६।।

ज्ञानं हि सत्ता न तदस्ति भिन्नं ज्ञानस्य सर्वं जगदस्ति रूपम् ।
कृत्स्नस्य तस्माज्जगतोऽस्य सत्ता ज्ञानस्य सत्तैव न भिद्यते सा ।।२१७।।

अपूर्वशिल्पे प्रतिरूपशिल्पे ज्ञानस्वभावो द्विविधः प्रतीतः ।
अपूर्वरूपाणि करोत्यकस्माद् गृह्णाति रूपाणि यथास्थितानि ।।२१८।।

यदीश्वरज्ञानमनेन क्लृप्तं बहिर्जगत् तेन च संयुतं नः ।
ज्ञानं तथा रूपमुदेति तद्वद्भिन्नं क्वचित्कल्पयते स्वरूपम् ।।२१९।।

तृणं यथा रूपमुपैति दुग्धं ज्ञानं तथा नैति विकारभावम् ।
यथा समुद्रे बहवस्तरङ्गा नानाविधास्तद्वदिदं जगत् स्यात् ।।२२०।।

य ईश्वरो ज्ञानमयोऽस्ति तस्मिन् बहिर्जगन्तीव भवन्ति जीवाः ।
प्रत्येकजीवे च पुनर्जगत्स्याविति द्वितीयं मतमस्ति साधु ।।२२१।।

३–विषयाणां ज्ञानातिरिक्तत्वात् पृथक्सत्तावादः ।

अथापरे प्राहुरिदं यदैक्यं प्रस्तूयते साधु न तत् प्रतीमः ।
स ईश्वरो भिद्यत एव, जीवा भिन्ना, जगद्भिन्नमिति, त्रिसत्यम् ।।२२२।।

ज्ञानं प्रकाशो विषयास्तमोवत् कथं तयोः संभवतीदमैक्यम् ।
ज्ञाने समाने विषया विभक्ता दृश्यन्त एते निहिताः पृथङ् नः ।।२२३।।

ज्ञानं प्रमाणं तत एव सर्वं प्रमीयते तेन वदामि भिन्नान् ।
ज्ञानात्तदर्थान् प्रतिपत्तिभेदात् दृश्यादृते द्रष्टृ न दृष्टिमेयात् ।।२२४।।

ज्ञानं तु कार्त्स्न्याद् यदशेषमेकं स ईश्वरो नाम पृथक् पदार्थः ।
तत्रैव जीवाश्च जगन्ति चास्थुः सत्तोभयेषां पृथगीश्वरात् स्यात् ।।२२५।।

ज्ञानं यदज्ञानवृतं मलीमसं क्षुद्रं व्यवस्थोपहितं शरीरगम् ।
जीवः स मेध्यादनुपाधितः परादविग्रहादीश्वरतो विभिद्यते ।।२२६।।

तत्रेश्वराख्यादथ जीवनाम्नो ज्ञानाज्जगच्चोदयते पृथग्वत् ।
न कार्त्स्न्यतः किन्तु तदेकदेशादुद्भूय तत्रास्ति विभिन्नसत्तम् ।।२२७।।

नोद्भिन्त्पयोवद्दधिदुग्धवद्वा सूत्रांशुवन्मृद्घटवच्च नो वा ।
ज्ञानाज्जगत् तच्छरवत्तु दुग्धान्मन्ये जले बुद्बुदफेनवद्वा ।।२२८।।

इयान् विशेषस्तु विभाति फेने वियन्ति तोयानि विकुर्वते च ।
ज्ञानं तु न व्येत्य विकारि भाति प्रस्तौत्यपूर्वं जगदद्भुतं तत् ।।२२९।।

बालस्य मन्येऽल्पमिवास्ति चित्तं यथाधिकं पश्यति विश्वमेषः ।
तथास्य विज्ञानमुपैति वृद्धिं न क्षीयतेऽन्तर्जगतस्तु वृद्धया ।।२३०।।

पृथक् सदत्रात्मनि संनिविष्टं सर्वात्मना विश्वमिदं समस्तम् ।
आत्मा त्वसङ्गोऽस्ति न तेन विश्वे नासज्जते किञ्चिदपीति चित्रम् ।।२३१।।

घटं तु पश्यामि यदा तदानीं घटावभासो न घटानुषक्तः ।
जपानुरागः स्फटिके विशुद्धे यथा तथा ज्ञानगतास्तदर्थाः ।।२३२।।

वयं तथार्थान् परिकल्पयामो यान् भावयित्वा पृथगेव तेषाम् ।
सत्ता हि तास्ता न तु सत्तया मे ते सन्ति यत् तान् हि पृथक् स्मरामः ।।२३३।।

चिज्जातसत्ताश्रयवस्तुसत्ता चित्सत्तया भिद्यत इत्यवैमि ।
न धीः पृथक् चेत् कथमीश्वरांशं धृत्वाहमर्थान् जनयेदनेकान् ।।२३४।।

ज्ञानीयसत्ताऽर्थगता न चेत्स्यात् सा तर्हि तस्मिन् कुत आगतेति ।
अत्रोच्यते रूपवदत्र सत्ताऽप्याकस्मिकी संभवतीति मन्ये ।।२३५।।

तैलं यदर्चिर्भवतीह तैलात्कर्म्माणि रूपाणि पृथग् भवन्ति ।
आयान्ति तानीह यतो यथा वा वियन्ति सत्तापि तथात्र भाव्या ।।२३६।।

न कारणं व्येति नवीनकार्य्यं तूदेति धर्माश्च न वा भवन्ति ।
वस्तुस्वभावो हि तथा ततोऽस्मिन् न शङ्क्यमित्यस्ति मतं तृतीयम् ।।२३७।।

—❀—

अथ ज्ञानसत्तयोः पौर्वापर्य्यमूलकोऽङ्गाङ्गिवादः ॥२॥

४–स्वजगत्सत्ताया ज्ञाननिघ्नत्वम् ।

सत्तावशादस्त्युपलब्धिरस्योपलब्धितो वोपलभेऽस्य सत्ताम् ।
प्रश्नस्य चैतस्य कृतः समाधिर्बाह्यान्तरद्विष्ठजगद्विधाभ्याम् ॥२३८॥
अस्तीश्वरज्ञानमतोऽस्ति तज्जगत् तथास्तिमज्ज्ञानमतोऽस्ति मज्जगत् ।
सत्तोपलब्धिश्च न भिद्यते मिथः स एक आत्मोभयथा प्रवर्तते ॥२३९॥
ज्ञानं ग्रहीत्रस्ति न चागृहीत्वा भवेत् प्रकाशः स ततः स्वभावात् ।
ग्राह्यग्रहीत्रित्यमिदं द्विरूपं ग्राह्यत्वसामान्यमवैमि सत्ताम् ॥२४०॥
यो ग्राहकः स द्विविधोस्ति जीवस्तदीश्वरश्चेति जगद्विधर्ता ।
ग्राह्यं तु सत्तामयमस्ति विश्वं ग्राह्यग्रहीत्रोरविनाकृतत्वम् ॥२४१॥

५–जैवज्ञानस्य बाह्यसत्तानिघ्नत्वम् ।

किन्त्वीश्वरज्ञानमयास्तिमद्वहिर्यदस्ति तस्मादुपलभ्यते जगत् ।
बहिर्न चेदस्ति घटस्तदा ममेच्छतोऽपि साक्षात् क्रियते न तद्घटः ॥२४२॥
तस्माद्वहिर्वस्तुनि यास्ति सत्ता ततो मम ज्ञानमुदेति बाह्ये ।
मज्ज्ञाननिघ्नास्ति न वस्तुसत्ता सत्तावशाज्ज्ञानमुदेति मेऽस्मिन् ॥२४३॥

६–ज्ञानमयजीवस्य बाह्यसत्तानिघ्नत्वम् ।

अस्माकमानन्त्यवशाच्च विश्वो न ज्ञाननिघ्नैव तु वस्तुसत्ता ।
ज्ञानं यथा भासयतेऽर्थसत्तां सत्तापि गृह्णाति तथा चिदंशम् ॥२४४॥
जीवात्मभेदात्तु यथा विभिन्नज्ञानार्थसत्ताजनका वयं स्मः ।
सन्त्येव वस्तूनि तथा चिदंशग्राहीणि तैरस्त्यहमर्थसिद्धिः ॥२४५॥
तदीश्वरज्ञानगतार्थरूपं जगद् भवेज्ज्ञाननिबन्धनं तत् ।
जीवात्मकज्ञानमिदं तु क्लृप्तं तद्वैपरीत्याज्जगदर्थमूलम् ॥२४६॥
न चेज्जगत् स्यान्न तदाहमाख्या जीवाश्चिदाभासमया भवेयुः ।
सूर्य्यस्य यद्वत् प्रतिबिम्बक्लृप्त्यै जलस्य काचस्य भवत्यपेक्षा ॥२४७॥

——※——

अथ त्रिसत्याद्वैतवादः ।।३।।

७–जडजीवेश्वराणां विशिष्टाद्वैतम् ।

इत्थं स्वरूपात् पृथगस्ति विश्वं जीवात्मक्लृप्तानि जगन्ति सन्ति ।
जीवा जगन्मूलतया च सन्ति प्रभुश्च तेषामयमीश्वरोऽस्ति ।।२४८।।

जडजीवेश्वरभेदात् त्रीण्यधिकरणानि सर्वधर्माणाम् ।
आहुस्तान्यधिभूतं चाध्यात्मं चाधिदैवतं चेति ।।२४९।।

जडाश्च जीवाश्च तथेश्वरश्च त्रिभिर्विशिष्टं यदिहैकरूपम् ।
तद् ब्रह्म तच्च द्विविधं परं चावरं च नातः परमस्ति किञ्चित् ।।२५०।।

* अचित्तु कृत्स्नं पृथगेकमेकं सात्मास्ति जीवेन चिता प्रवेशात् ।
जीवश्च कृत्स्नः पृथगेक एकः सात्मेश्वरेणास्ति तदित्थमैक्यम् ।।२५१।।

जीवस्य देहोऽस्ति जडैः कृतोऽयं जीवैः कृतो देह इहेश्वरस्य ।
जीवः शरीरे विभुरेवमीशो जीवे विभुस्तन्मय एष जीवः ।।२५२।।

चिताऽचिता चोपहितोऽयमीशश्चितोऽचितश्चानिशमेक ईष्टे ।
अथो विशिष्टं तु चिताऽचिता चेश्वरं हि तं ब्रह्मपदेन वच्मि ।।२५३।।

जीवस्य नाना प्रभवन्त्यवस्थाः स्वप्नादिका बन्धयुतोऽपि सोऽस्ति ।
अनन्तकल्याणगुणस्तु दोषैरस्पृष्ट एवेश्वर एष भाव्यः ।।२५४।।

क्षुधापिपासारहितो विशोको विमृत्युरेवं विजरो विपाप्मा ।
स सत्यसंकल्पकसत्यकामोऽप्यस्तीश्वरस्तत्कृपया तु जीवः ।।२५५।।

जीवोऽस्वतन्त्रोऽस्य हि भुक्तिमुक्ती स्वतन्त्र एवेश्वर आतनोति ।
तदीश्वरानुग्रहतस्तु जीवोऽप्यदोषकल्याणगुणाकरः स्यात् ।।२५६।।

द्रष्टा हि तत्कर्मण एष ईश्वरो यदानुगृह्णाति तदैष जीवतः ।
सर्वाणि कर्माण्यपमृज्य बन्धनादुन्मोच्य साम्यं निजमत्र पश्यति ।।२५७।।

निर्दोषकल्याणगुणाकरत्वतः प्राकाम्यतः साम्यमिहास्य जायते ।
न त्वेष मुक्तो जगतः प्रसर्जनं रक्षां क्षयं चेश्वरवत् करिष्यति ।।२५८।।

---

* "तस्माद्, युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इद जगत् । आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे" (श्रीमद्भागवतपुराण ११।७।६)

इति भागवते त्रयाणामेषां जगज्जीवेश्वराणामैक्यभावना विधीयते ।

ब्रह्म द्विधा प्रागुदितं परं चावरं च तत्रास्त्यनिरुक्तमाद्यम् ।
अव्यक्तमव्याकृतसूक्ष्मरूपं तदस्य विश्वस्य हि बीजमस्ति ॥२५९॥

स्थूलं तु यद्विश्वमिदं विभाति ब्रह्मावरं तत् परिकार्य्यमेतत् ।
इदं परस्मादुदितं परस्मिन् स्थितं परस्मिंश्च विलीयते तत् ॥२६०॥

तत्रावरस्यास्ति परेण तेनाभेदस्तदेकं ह्यभवद् द्विधेदम् ।
उद्भूय तस्मात् परतोऽवरं तत् पुनः परस्मिन् भवति प्रलीनम् ॥२६१॥

प्रतिक्षणं तत्परतोऽवरोद्भवः परत्र चापैत्यवरं प्रतिक्षणम् ।
मध्येऽन्यथा रूपतयोद्भवः क्वचिद्विच्छिद्यते क्वापि नवं प्रवर्तते ॥२६२॥

विशिष्टतोऽस्मात् परतो विशिष्टं त्वेवावरं विश्वमिदं बभूव ।
विशिष्टयोश्चास्ति तयोर्न भेदस्तस्माद् विशिष्टाद्वयमेतदाहुः ॥२६३॥

विशिष्टमेतद्धयवरं परं वा सत्यैस्त्रिभिर्भिन्नतमैः स्वरूपात् ।
अचिच्चिदीशैरुदितं विशिष्टत्रिसत्यमेतत् प्रवदन्ति तस्मात् ॥२६४॥

८–जगज्जीवेश्वराणां सत्यत्वात् तद्विज्ञानस्य त्रिसत्योपनिषत्त्वम् ।

नैवं स्थिते विश्वमसत्यमेतज्ज्ञानं च सत्यं विषयाश्च सत्याः ।
ज्ञानं च जीवेश्वरभेदतः स्याद् द्विधा तयोर्विश्वमपि द्विधा स्यात् ॥२६५॥

एकः स ईशो बहवस्तु जीवा एकं बहिर्वा जगदीश्वरस्य ।
अन्तर्जगन्त्यत्र बहूनि तु स्युर्नातः परं किञ्चिदिहास्ति वेद्यम् ॥२६६॥

सन्नीश्वरोऽसौ जगदुच्यतेऽसज्जीवस्त्वयं स्यात् सदसत्स्वरूपः ।
वदन्ति तस्माद् भुवनं भविष्यद् भूतं च विज्ञाः सदसत्पदेन ॥२६७॥

अहं हि सत्यं तदतः परेऽपि जीवा अहंत्वादविशेषसत्याः ।
यस्मान्न तेषामुपपत्तिरन्या तस्माज्जगत्सत्यमिति ब्रवीमि ॥२६८॥

इत्थं जगज्जीवतदीश्वराख्यं तत्त्वत्रयं सत्यमिदं परीक्ष्यम् ।
तत्रापि मुख्यः परमेश्वरोऽयं जीवा जगच्चेदमुपासते तम् ॥२६९॥

इत्थं त्रिसत्ये जगतस्तदीशितुः सत्यत्वमस्तीह परीक्षयेक्षितम् ।
ब्रह्माहमस्मीत्यहमर्थसत्यता त्वद्धातमां भाति ततोऽन्ययोरपि ॥२७०॥

इमं त्रिसत्योपनिषद्विशेषं प्रतीत्य तस्यान्तरभेदक्लृप्त्या ।
उपासनाधर्म उपासकानां प्रवर्ततेऽनेकविधो जनेषु ॥२७१॥

ॐ अथ उपासनावादः ॥४॥

९–आत्मनि हृद्ग्रन्थिवशाद् बन्धप्रकारः । १

एकत्र बिन्दौ कतिचिद्बलानीतरेतरेण प्रथितानि चेत् स्युः ।
हृद्ग्रन्थिरेष प्रथितस्ततोऽसावात्मा रसो बद्ध इवावभाति ॥२७२॥
बलानि धावन्ति भवन्ति पूर्वाण्यपूर्वमत्र ध्रियते बलं चेत् ।
प्रवर्द्धयत्यात्मनि चेद्रसं तद् ग्रन्थिं द्वितीयं तु तदा वदामः ॥२७३॥
तिरः शरः कन्दुकमेवमूर्ध्वं प्रक्षिप्यते तत्र हितं बलं तत् ।
न वर्द्धयत्येष रसं मृदश्चेत् काचो भवेद् ग्रन्थिरसौ द्वितीयः ॥२७४॥
हृद्ग्रन्थिमोक्षेन च बन्धमोक्षः स्यादात्मनस्तत्र रसो निसर्गात् ।
स्वयं स बद्धः स्वयमेव मुक्तो जगत् कदाचित् स कदाचिदात्मा ॥२७५॥
यदस्त्यखण्डं विभु चैकरूपं बन्धान्मितिं प्राप्य तु तत्र खण्डाः ।
यथा यथा चैव विमुक्तिमेयात् तद्ग्रन्थिभेदात् स विकासमेयात् ॥२७६॥
आत्मा यदा बन्धमुपैत्यकस्माद् ग्राह्यस्तदा स्यादयमर्थसंज्ञः ।
बन्धप्रभावेण विभुः स आत्मा देहे धृतः सन् भवतीह देही ॥२७७॥
अल्पज्ञतां याति शरीरबन्धादत्यन्तबन्धाज्जडतामुपैति ।
बद्धं पुनर्बन्धमुपेत्य बन्धं पुनः पुनश्चेल्लभते जगत्तत् ॥२७८॥
मनो यदि प्राणगतिं प्रपन्नं वाक्त्वं गतं स्थूलदशामुपैति ।
तल्लीयते तेन विचित्तता स्यात् प्राणे श्लथे स्यादिह पारवश्यम् ॥२७९॥
यथा यथा बन्धमुपैति तस्मिंस्तथाधिकं स्यादिह पारवश्यम् ।
यथा विमुच्येत मनो विकासात् तथा क्रमेणैष भवेत् स्वतन्त्रः ॥२८०॥
प्राणादियं वाक् प्रथमे तु बन्धे वागन्यबन्धाद् भवतीह वायुः ।
वायुः पुनर्बन्धमुपेत्य तेजो बन्धाज्जलं तत् पृथिवी च बन्धात् ॥२८१॥
पृथ्वी च बन्धादिह वृक्षपत्रं बन्धाच्च बन्धो मुहुरित्थमेति ।
भवेत् कथंचित् क्रममुक्तिरेषां पृथ्वी पुनः प्राणविधामुपैति ॥२८२॥

१०–बन्धमुक्त्युपायक्रियाया उपासनात्वम् । २

जीवस्तु नात्यन्तमयं प्रबद्धः स्फुटं स विज्ञानमयोऽत्र दृष्टः ।
तथापि देहे ध्रुवमेष बद्धः प्रतीयते पाप्मनि मानयोगात् ॥२८३॥

मुक्तः क्रमाद् बन्धमुपैति बद्धो विमुच्यते च स्वयमुत्क्रमेण ।
इत्थं स्वभावादिह बन्धमोक्षौ पर्य्यायतः संभवतो विचित्रौ ॥२८४॥

यया तु बन्धाद् भवतीह मुक्तो जीवः क्रियामाहुरिमामुपास्तिम् ।
उपासनातो बलवान् विमोक्षः पुनर्न बन्धः क्रमते ह्यमुष्मिन् ॥२८५॥

जीवात्मकज्ञानमुपास्तियोगात् तदीश्वरज्ञानसमत्वमेति ।
बन्धस्य तस्मिन् पुनरप्रसक्तेर्न जीवतामेति स एकरूपः ॥२८६॥

इत्येवमुक्तं बलवद्रसर्ज्ञनिसर्गसंभावितबन्धमुक्तेः ।
उपायभूतं सदुपास्तिकर्म्माथवाऽत्र वक्ष्याम्यधिकं च किञ्चित् ॥२८७॥

११–ऐश्वरमनसि जैवमनःस्थिरीकारस्योपासनात्वम् । ३

मनोस्ति जीवस्य तु चञ्चलं स्थिरं शान्तं नितान्तं परमेश्वरस्य तत् ।
स्थिरीकृतं वृत्तिनिरोधतो मनो जीवस्य योगं लभते परेश्वरे ॥२८८॥

चक्षुः स्थिरं चेत् प्रतिबिम्बमस्थिरं न तत्र योगः प्रतिबिम्बचक्षुषोः ।
स्थिरीकृतः स्यात् प्रतिबिम्ब एष चेत् सांनिध्यमायाति स चक्षुषि स्वयम् ॥२८९॥

वदन्ति योगं तमुपासनं मनः सांनिध्यमायाति हि जैवमैश्वरे ।
तत्संयमादीश्वरशक्तिरञ्जसा जैवे समायाति ततोऽष्टसिद्धयः ॥२९०॥

यो येन योगं लभते ध्रुवं तयोरूने भवेत् पुष्कलधर्म संक्रमः ।
उपास्यशक्तिर्ध्रुवमत्र संचरत्युपासके साधु स चेदुपास्यते ॥२९१॥

१२–क्रिया-भक्ति-ज्ञानयोगाः । ४

योगस्त्रिधा कर्ममुखेन, भक्त्या, ज्ञानेन कर्मास्ति महत्त्वहेतुः ।
भक्तिः सुसाधाथ तृतीयमेषां जीवस्य तस्येश्वरसाष्टर्घहेतुः ॥२९२॥

न स्वार्थमिच्छन् न परार्थमिच्छन् निष्कारणं यद्विदधाति कर्म ।
* सामान्यतः सर्वजनस्य यत् स्याद्धितावहं नाम स कर्मयोगः ॥२९३॥

एकान्ततः स्वार्थमिहानपेक्ष्य प्रस्तौति यद्विश्वजनीनकर्म ।
समृद्धिमायाति हि तेन विश्वं सोपासना सिद्धयति विश्वमूर्तेः ॥२९४॥

यो मन्त्रयोगो[१] लययोग[२] एवामनस्कयोगो[३] हठयोग[४] एवम् ।
यो राजयोगश्च[५] त एव योगाः सर्वे प्रसिध्यन्ति हि भक्तियोगाः ॥२९५॥

---

* तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः इति योगसूत्रविरोधादप्रामाण्यं तु नाशङ्कयम्, अस्यार्थं स्येश्वरप्रणिधानरूपत्वात् । अतएवाह 'एकान्ततः'–इति ॥

१३-आत्मार्पणरूपा प्रपत्तिर्भक्तियोगः । ५

प्रपत्तिरेषात्मसमर्पणं यन्महेश्वरायैव करोति जीवः ।
युङ्क्ते स्वमंशं परतः परं वा स्वस्मिन् द्विधात्मार्पणमित्थमस्ति ।।२९६।।

उपासना सा यदि जीवतन्त्रं जीवोऽर्पयेदीश्वरतन्त्रमध्ये ।
प्रजापतेः शिल्पमयं स्वशिल्पैः संसृज्य संस्कृत्य करोति ऋद्धम् ।।२९७।।

वनोदयः प्राकृतधर्म ऐशे तन्त्रे निविष्टः स हि शिल्पयोगात् ।
आरामतामेति तदित्थमैशे स्वबुद्धियोगोऽस्ति स भक्तियोगः ।।२९८।।

अपूर्वभावे यदि जीवबुद्धया क्लृप्ते निवेशयेश्वरभावभेदम् ।
अपूर्वमर्थं विदधद्बहिर्वा पुष्णाति विश्वं स च भक्तियोगः ।।२९९।।

जीवस्थभावोऽस्य बहिर्जगत्[1] तन्मृद्ग्रावतूलादिभिरैशभावैः ।
भक्त्या युतं बाह्यजगद्गतं स्यात् वासोघटाद्यं स हि भक्तियोगः ।।३००।।

जीवो य आत्मानमपूर्वभावस्वरूपमैशेऽर्प्पयतीह भावे ।
तेनायमात्मा परमेश्वरस्थो भक्त्या भवेत् तेन स भक्तियोगः ।।३०१।।

१४-अपरा भक्तिः प्रेम्णा, परा भक्तिः श्रद्धया । ६

उपासनं तद् द्विविधं प्रपद्येऽवरं परं चेति मनोविशेषात् ।
स प्रेम यत्रास्ति मनोऽवरं तत् परं तु स श्रद्धमनः कृतं स्यात् ।।३०२।।

रजोऽनुयोगान्मनसि स्वतः स्यात् प्रेमा, व्यपाश्रित्य गुणांस्तु सोऽस्ति ।
प्रेमा गुणानीक्षत एव तांस्तानत्यल्पमात्मानममुं स पश्येत् ।।३०३।।

गुणाननेकान् युगपन्न शक्तो द्रष्टुं ततस्तन्मनसि ध्रुवं स्यात् ।
त्यागग्रहात्यन्तिककर्म्मयोगौ नैकान्तता स्यादवरं ततस्तत् ।।३०४।।

नानागुणप्रत्ययतश्च तत्र क्षिप्तं मनस्तत्र न योगसिद्धिः ।
उपास्यमात्मेतरतश्च पश्यन्नास्मिन् गतः स्यादवरं ततस्तत् ।।३०५।।

प्रेमा मनोबन्धनहेतुरस्मान्नाद्वैतसंपत् परदेवतायाम् ।
आनन्दमत्रानुभवत्ययं नानन्दः स्वयं स्यादवरं ततस्तत् ।।३०६।।

दृष्ट्वा गुणानेव गुणाश्रये यदि स्थितिं दृढामेति मनोऽथ तत्र चेत् ।
दोषान् गुणान् वा न परं व्यपेक्षते श्रद्धा तदा सास्ति मनोऽत्र तन्मयम् ।।३०७।।

१-स्व० शास्त्री जी ने 'जीवस्थभावोऽस्य बहिर्जगत्' के स्थान पर 'जीवस्थभावोऽस्त्यबहिर्जगत्' पाठ किया है ।

प्रेमा यदैति स्वयमातिशय्यं श्रद्धा तदा रूपमुदेति भिन्नम् ।
तद्रूपवत् तत्र मनः स्थितं स्यान्न प्रेमवत् तत्र मनोऽस्ति बद्धम् ॥३०८॥

अत्सत्यमाहुर्विषयास्तिताया अबाधितताया ग्रहणं दृढं चेत् ।
तदन्यथात्वग्रहणातिरेकाच्छ्रद्धानमुक्तं मनसः प्रतिष्ठा ॥३०९॥

श्रद्धेश्वरे प्रत्ययसंप्रवाहतश्चिरं स्थिरं भाति निरन्तरं यदि ।
श्रद्धा तदा स्याद् दृढभूमिरित्यतो महामहिम्नोऽल्पमहिम्नि संस्रवः ॥३१०॥

१५-श्रद्धोपासनोदाहरणम् । ७

यो नीलिमा व्योम्नि तमन्धकारं ह्युपासते वायुघनं तु केचित् ।
उपास्महे कृष्णकरप्रसारं चिदात्मनो ज्ञानमयं वयं तु ॥३११॥

उपासते केपि समस्तमेतज्जगद्धि दुःखं क्षणिकं च शून्यम् ।
उपास्महे किन्तु समग्रमेवानन्दात्मकं शाश्वतिकं च पूर्णम् ॥३१२॥

१६-श्रद्धोपासनायाःसमानप्रत्ययप्रवाहरूपत्वम् । ८

आत्मा मनश्चेन्द्रियवर्ग एषां योगेन यज्ज्ञानमुदेति तत्र ।
प्रमेयरूपो भवति प्रमाता तं प्रत्ययं वैषयिकं प्रतीमः ॥३१३॥

स प्रत्ययश्चेत् क्रियते समानप्रवाह एवं यदि तत्र धत्ते ।
श्रद्धामनारोपकृतामनन्यामभ्यासतस्तर्हि मनस्तथा स्यात् ॥३१४॥

मनो भवेत् यद्विषयस्वरूपं तस्यात्मनोऽप्यत्र तथा स्थितिः स्यात् ।
१ श्रद्धामयोऽयं पुरुषोऽस्ति तस्माद् यच्छ्रद्ध एषोऽस्ति स एव सोऽस्ति ॥३१५॥
२ उपासनं नाम समप्रवाहः संप्रत्ययो निश्चलवृत्तिरूपः ।
३ तस्माच्छ्रुतिः प्राह यथा यथा तं ह्युपासते तन्नु भवन्ति हीति ॥३१६॥

१७-ज्ञानयोगस्वरूपम् । ९

ये ये पदार्था जगति प्रसिद्धाः प्रत्यर्थमेषां पृथगस्ति विद्या ।
विद्या जगत् तत् परमेश्वरस्थं तत्प्रेक्ष्य साक्षात् कुरुते परेशम् ॥३१७॥

१-श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः-इति भगवद्गीता १७।२ ।

२-उपासनं नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्-इति शाङ्करभाष्यम् ४।१।७ ।

३-तं यथायथोपासते तथैव भवन्ति-इति छान्दोग्योपनिषत् ।

अर्था हि यावन्त इमेऽखिलानां विद्याः पृथङ् नावगमाय शक्याः ।
आत्मानमेव स्वमतः प्रविद्यादेकं स कृत्स्नाणुजगन्मयोऽर्थः ।।३१८।।

आत्मानमेकं यदि कोऽपि विद्याद् यथार्थतः सर्वजगत् स विद्यात् ।
साक्षात्कृतस्तेन महेश्वरः स्यात् स एक भूतोऽत्र परात्मनि स्यात् ।।३१९।।

१८–उपासनोपयोगः । १०

उपासनैषा त्रिविधोपदिष्टाऽवरात्मनः स्यात् परमात्मयोगः ।
सर्वत्र धर्मस्य हि तस्य लाभः स्वल्पोऽपि रक्षेन्महतो भयान्नः ।।३२०।।

नोपासना काचिदिहास्ति तादृशी जीवस्य यत्रात्मबलं न वर्द्धते ।
उपास्य दुःखी यदि दुर्बलस्तदा विधिच्युतेः सास्त्यकृतेति भाव्यताम् ।।३२१।।

।। इत्युपासनावादः ।। ४

।। इति तृतीयकाण्डे विशिष्टाद्वैतविज्ञानं नाम प्रथमं पर्व ।।
(विशिष्टत्रिसत्योपनिषत्)

।। १ ।।

अथ

विशिष्टत्रिसत्योपनिषत्

तत्र

परिशिष्टवादः पञ्चमः खण्डः

तत्रादौ

१–ज्ञानविषययोर्भेदाभेदवादः—

१–जीवेश्वरजगतां पृथक् सत्ता ॥[1]

जीवेश्वर–जगत् की पृथक् सत्ता—

[हिन्दोविज्ञानभाष्य]—संसार के यच्चयावत् पदार्थों में कुल १३ प्रकार का कार्यकारणभाव होता है। उन तेरहों कार्यकारणभावों का विवेचन करना प्रकृत से दूर जाना है, अतः प्रकृतसम्बन्धी एक-दो कार्य्यकारणों का स्वरूप बतला देते हैं—

एक कार्य्यकारणभाव तो ऐसा होता है–जिसमें कार्य्य और कारण की एक सत्ता रहती है। कारण आधार है, कार्य्य आधेय है–यह आधाराधेयभाव एकसत्ताक है। उस आधार की, कारण की सत्ता से ही कार्य्य सत्तावान् हो रहा है। यदि कारण नष्ट हो जाए तो उसी समय कार्य्य नष्ट हो जाए। निदर्शन मिट्टी और घड़ा है। मिट्टी घड़े का कारण है और घड़ा कार्य्य है। यदि मिट्टी नष्ट हो जाए तो उसी समय घड़ा नष्ट हो जाए। मिट्टी की सत्ता से घट सत्तावान् हो रहा है। मृत्तिका से अलग घट की सत्ता नहीं है। मिट्टी ही की सत्ता को लेकर घड़ा अपने को 'सत्तावान्' कहने में समर्थ हुआ है। मिट्टी और घड़ा–इन दोनों में सत्ता चूंकि मिट्टी की है, अतएव श्रुति कहती है—

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"[2]

१–यद्यपि पूज्य ओझाजी ने 'जीवेश्वरजगतां पृथक् सत्ता' इस १६ वें सूत्र एव इसके श्लोक २०१ को चतुर्थखण्ड के अन्तर्गत अन्त ही अन्त में दिया है, परन्तु स्व० शास्त्री जी ने इस सूत्र एवं श्लोक का भाष्य इस पञ्चमखण्ड के प्रारम्भ में किया है, अतएव ओझाजी के मूलग्रन्थ के स्वरूप को अक्षुण्ण रखते हुए इस सूत्र एवं श्लोक को मूलसंस्कृतपाठ में यथा स्थान पर ही छापा गया है। इसी प्रकार शास्त्री जी के भाष्यक्रम को भी अक्षुण्ण रखते हुए भाष्यक्रमानुसार इस सूत्र एवं श्लोक का भाष्य पञ्चमखण्ड के अन्तर्गत छापा जा रहा है। [सं०] २–छान्दोग्योप० ६।४।

बस, यही पहला कार्य्य-कारण भाव है । इस कार्य्य-कारण भाव में कार्य्य और कारण दोनों की एक सत्ता है । घड़ा वस्तुतः कोई चीज नहीं-मिट्टी ही असली वस्तु है । तन्तु की सत्ता से वस्त्र सत्तावान् हो रहा है-वस्तुतः तन्तु ही असली वस्तु है । इस प्रकार एक उपादानमूलक कार्यकारणभाव में तो एक सत्तात्व है, परन्तु दूसरे उपादानमूलक कार्य्यकारणभाव में एक सत्तात्व नहीं है-जैसे पिता और पुत्र में । पिता ही पुत्र का उपादान कारण है-जैसे मिट्टी के अंश से घड़ा बना है तथैव पिता के अंश से पुत्र उत्पन्न हुआ है । पिता ही तो पुत्र बनकर पैदा होता है, इसी अभिप्राय से **'पिता वै जायते पुत्रः'**-कहा जाता है ।

परन्तु पैदा होते ही पुत्र की सत्ता पिता से पृथक् हो जाती है । अब यदि कारण (पिता) नष्ट भी हो जाता है, तब भी कार्य्य (पुत्र) का कुछ नहीं बिगड़ता। कारण के नष्ट होने पर भी कार्य्य ज्यों का त्यों ही बना रहता है । यह दूसरा कार्य्यकारणभाव है । इस प्रकार से उपादानकारण में ही मृत्तिका घटवत् एवं पितापुत्रवत् एकसत्तावाद और सत्ताद्वयवाद हो जाता है । यह हुई उपादान कारणों के विषय की बात । अब लीजिए निमित्तकारण की बात ।

पिता-पुत्र सम्बन्धी उपादानकारणवत् ही निमित्तकारण में भी भिन्नसत्तात्व ही समझना चाहिए । घड़े का निमित्तकारण है-दण्ड । इस दण्ड के नष्ट हो जाने पर भी घटसत्ता का विनाश नहीं होता एवं घटविनाश से दण्डविनाश नहीं होता । एवमेव पुस्तक टेबल का, वस्त्र शरीर का, स्याही दवात का जो आधाराधेयभाव है-वह भी भिन्नसत्ता को ही लिए हुए है । टेबल की सत्ता पर पुस्तक जरूर रखी हुई है-टेबल आधार है, पुस्तक आधेय है तथापि दोनों की सत्ता पृथक्-पृथक् है । टेबल के नाश से पुस्तक का नाश नहीं, पुस्तक के नाश से टेबल का नाश नहीं बस-इस प्रकार से इस विश्व में हम नाना प्रकार के कार्य्यकारणभाव देखते है । बस, यह नानात्व ही संशय का उत्पादक है । **'एकस्मिन् धर्म्मिणि विरुद्ध नानाधर्म्मावगाहि ज्ञानं संशयः'**-यही संशय का लक्षण है । प्रकृत में कार्य्यकारण के विषय में हम विरुद्ध नाना धर्म्मों को देखते हैं, कहीं एक सत्तात्व है, तो कहीं भिन्न सत्तात्व है । घट-मृत्तिका में एक सत्तात्व है तो पिता-पुत्र में, भिन्नसत्तात्व है । बस, इसी नानात्व के कारण ज्ञान और विषयसत्ता में भी सन्देह हो जाता है । विषय ज्ञान पर रहता है-ज्ञान विषय का आधार है, विषय आधेय है । अब यहाँ संशय होता है कि घट-मृत्तिकावत् ज्ञान और विषय की एक सत्ता है अथवा पिता-पुत्रवत् भिन्न सत्ता है । बस, इस ज्ञानविषयसत्तावाद में दार्शनिकों के तीन सिद्धान्त हैं । कहीं ज्ञान विषय की एक सत्ता विषयमिथ्यात्वात् मानते हैं, और कई विषयों की ज्ञानात्मकतया एक सत्ता मानते हैं एवं कई विषयों के ज्ञानातिरिक्त होने से पृथक् सत्तावाद मानते हैं । इस प्रकार से इस ज्ञान-विषय के सत्ता-वाद में तीन ही बातें संभव हो सकती हैं । बात तीनों में से एक ही सत्य हो सकती है-तीनों नहीं, परन्तु आगे बतलाए जाने वाले तीनों ही मत ऐसे हैं-जिनका खण्डन नहीं किया जा सकता-कोई किस नजर से उसे देखता है-कोई किस नजर से, अतः इन तीनों में से यही मत सच्चा है-इसका निर्णय कथमपि नहीं किया जा सकता । निर्णय हो भी कैसे सकता है ? जो पदार्थ मनुष्य बुद्धि के बाहर के हैं-उन्हें मनुष्य पहचान भी कैसे सकता है ? भारतीय महर्षियों ने वहाँ तक की खोज कर डाली है-जहाँ तक कि मनुष्य बुद्धि काम कर सकती है । उसके आगे न कोई जान सकता है, न जानता था एवं न जान सकेगा । जो

कुछ जानने का था–वह सब कुछ भारतीय महर्षि जान चुके थे। इसीलिए तो भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

"एवं हि श्रूयते, यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः, प्रत्यक्षधर्माणः परावरज्ञाः विदितवेदितव्याः, अधिगतयाथातथ्याः"।[1]

हमारे कहने का तात्पर्य्य यही है कि इस ज्ञानसत्ता के विषय में जो कुछ रिसर्च प्राचीन भारतीय महर्षि कर चुके हैं-बस, उससे ज्यादा अब कोई नहीं कर सकता। उन्होंने तीन तरह से इसकी खोज की थी। अब नहीं कह सकते कि तीनों में ठीक कौनसी है? हमें तो तीनों ही ठीक मालूम होती हैं। बस, उन्हीं तीनों मतों का उल्लेख ही इस प्रकरण का प्रतिपाद्य विषय है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्ञानस्य सत्ता विषयस्य सत्ता चैका पृथक् वेति विचारणायाम्।
मतत्रयं संभवतीति वच्मि स्फुटं तु निर्धारयितुं न शक्यम्" ॥२०१॥

——❀——

२–विषयाणां मिथ्यात्वादेकसत्तावादः ॥१॥

विषयों के मिथ्या होने से एकसत्तावाद—

हमने अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् भेदेन जगत् दो प्रकार का बतलाया है। जीवजगत् का नाम अन्तर्जगत् है एवं ईश्वरीय जगत् का नाम बहिर्जगत् है। जीवजगत् का स्वरूप जीवज्ञान में रहता है एवं बहिर्जगत् का स्वरूप ईश्वर-ज्ञान में रहता है। हमारा (जीव) जगत् सदा हमें हमारे ज्ञान में ही भासता रहता है। हम जिस किसी भी वस्तु को देखते हैं-ज्ञान ही के पर्दे पर देखते हैं। हम जिस विषय का प्रत्यक्ष करते हैं–उसका आधार हमारा ज्ञान ही है। ज्ञान विषयी है एवं जगत् विषय है। इस विषय-विषयी का हम परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध देखते हैं। अब इस ज्ञान और विषय के स्वरूप के विषय में यदि हम विचार कहते हैं तो इन दोनों में हमें रात-दिन का अन्तर दिखलाई पड़ता है। जिस प्रकार से तम और प्रकाश अत्यन्त विरुद्ध पदार्थ हैं–सर्वथा विविक्त हैं–बस, इसी प्रकार विषय और विषयी परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। विषयी, अस्मत्प्रत्ययगोचर है–विषय युष्मत्प्रत्ययगोचर है। अस्मत् और युष्मत् सर्वथा भिन्न पदार्थ हैं। जिस प्रकार से प्रकाश और अन्धकार का मेल नहीं हो सकता, प्रकाश के आते ही अन्धकार रफूचक्कर हो जाता है–बस, ठीक वही हालत इस विषय-विषयी में समझनी चाहिए। ज्ञान प्रकाशस्वरूप है, विषय तमःस्वरूप है। ज्ञान अस्मत्प्रत्ययगोचर है, विषय युष्मत्प्रत्ययगोचर है। भला, युष्मत्-अस्मत्-प्रत्ययगोचर तमःप्रकाशस्वरूप अत्यन्त विरुद्धधर्म्मा विषय और विषयी में

१–महाभाष्यम् १।१।१।

तादात्म्य हो ही कैसे सकता है ? ज्ञान और प्रकाश एक वस्तु कैसे बन सकती है । इसी अभिप्राय से भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं—

"युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवत् विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः, इत्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्, तथाप्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेनात्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य, 'अहमिदं' 'ममेदम्' इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः" ।।[1]

ज्ञान, ज्ञान है, अर्थात्—चेतन है । विषय, विषय है अर्थात्—जड़ है । जड़ और चेतन का तादात्म्य कैसा ? कभी भी ज्ञान और विषय (जगत्) एक नहीं हो सकते । इनमें तादात्म्य हो ही नहीं सकता । सर्वथा विविक्त (अलग-अलग) इन ज्ञान और विषयों में तादात्म्य तो दूर रहा—अविविक्त-भाव भी नहीं हो सकता । जैसे पानी में राब चीनी घुल जाती है एवं पानी और चीनी दोनों परस्पर मिल जाते हैं—ऐसा मिलना भी तो इनमें नहीं हो सकता—फिर तादात्म्य की तो कथा ही क्या है ? घट और मृत्तिका का जो सम्बन्ध है—वह तादात्म्य सम्बन्ध है, दोनों एक ही वस्तु हैं एवं चीनी और पानी का अविविक्त-भाव है । चीनी दूसरी वस्तु है, पानी दूसरी वस्तु है, परन्तु दोनों मिली हुई हैं । बस, इस विषय और विषयी में न तादात्म्य ही हो सकता और न अविविक्तभाव ही हो सकता । अरे बाबा ! अविविक्तभाव तो दूर रहा इनका तो परस्पर योग भी नहीं होता, सम्बन्ध भी नहीं होता । जैसे वस्त्र का शरीर से योग है, पुस्तक का टेबल से योग है, वैसा योग भी तो इन दोनों में नहीं हो सकता । हो भी कैसे सकता है ? यदि प्रकाश और अन्धकार का परस्पर योग होता हो तो ज्ञान और विषय में योग हो । एक को देखते ही एक रह ही नहीं सकता वहाँ योग की कथा ही क्या है ? ज्ञानप्रकाश को देखते के साथ ही तो तमःस्वरूप विषय भाग जाते हैं—फिर सम्बन्ध कैसा ? रात और दिन का तादात्म्य कैसा ? अविविक्तभाव कैसा ?

इस प्रकार से सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर यही मालूम होता है कि वास्तव में ज्ञान और विषय का तादात्म्य एवं अविविक्तभाव तो क्या योगमात्र भी नहीं हो सकता है । परन्तु बडी मुश्किल है—विषय और ज्ञान का तादात्म्य अविविक्तभाव एवं योग नहीं होना चाहिए, परन्तु प्रतीति ठीक इस सूक्ष्म विचार के विरुद्ध ही होती है । मानते हैं—तादात्म्य नहीं है, परन्तु जानते हैं—तादात्म्य ही को । प्रतीति तादात्म्य ही की होती है । हम विषय को सदा ज्ञानरूप में परिणत हुआ ही देखते हैं । तुम कहते

१—ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य—१।१।१ ।

हो ज्ञान और विषय का सम्बन्ध तमःप्रकाशवत् सर्वथा असंभव है, हम कहते हैं-हमें सम्बन्ध की जबकि प्रतीति हो रही है फिर तुम्हारे इस वागाडम्बर को क्योंकर मान सकते हैं ? मैं घट को जानता हूँ-यह ज्ञान घटस्वरूप में ही परिणत होता हुआ दिखलाई पड़ता है । अधिक क्या कहें ? हम ज्ञान को स्वस्वरूप में विषयातिरिक्त कभी देख ही नहीं सकते । ज्ञान को जब भी कभी देखेंगे विषयाकाराकारित ही देखेंगे । तुम कहते हो ज्ञान और विषय का योग ही नहीं होता, हम कहते हैं-हमें ज्ञान और विषय में तादात्म्य मालूम हो रहा है । इस प्रत्यक्ष में होने वाले अनुभव का अपलाप क्योंकर किया जा सकता है ? इस प्रकार से तमःप्रकाशवत् सर्वथा विरुद्ध विषय और विषयी के तादात्म्य का क्या कारण है ? यही उत्तर श्लोकों से बतलाया जाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्ञानं प्रकाशो विषयस्तमस्तत्तयोः कथं स्यादितरेतरत्वम् ।
विविक्तयोर्नाप्यविविक्तभावः संभाव्यते नापि तयोश्च योगः" ॥२०२

अन्य धर्म्म का अन्य में अवभास हो जाने को ही अध्यास कहते हैं । बस, ज्ञान-विषय का जो तादात्म्य मालूम हो रहा है-उसे हम अध्यास ही कहेंगे । अधि के अर्थ हैं-ऊपर और अन्दर । जब अन्य-वस्तु किसी अन्य वस्तु के ऊपर वेष्टित हो जाती है एवं अन्दर घुस पड़ती है-उसे ही **'अध्यास'** कहते हैं । **'अधि-आस=इत्यध्यासः'** । एक स्त्री में प्रेत ऊपर और अन्दर आसमन्तात् व्याप्त हो जाता है-बस, इसीलिए बोलती है स्त्री, परन्तु व्यवहार होता है कि यह नहीं बोल रही है-भूत बोल रहा है । वस्तुतः देखा जाए तो वाग्-व्यापार स्त्री का हो रहा है । होठ स्त्री के हिल रहे हैं, परन्तु व्यवहार होता है-अरे ! भूत बोल रहा है-बस, यही 'अध्यास' कहलाता है । रज्जु में सर्प का आरोप हो जाना 'अध्यास' कहलाता है । अन्य में अर्थात्-रज्जु में अन्य का अर्थात् सर्प के धर्म्म का प्रवेश हो जाना ही अध्यास कहलाता है । है वस्तु और कुछ और भान होने लगे किसी अन्य ही वस्तु का-बस, यही **'अध्यास'** कहलाता है । तो बस, ज्ञान में विषय का (जगत् का) जो तादात्म्य मालूम होता है-वह सिवाय अध्यास के और कुछ नहीं है। वस्तुतः विषयधर्म्म का विषयी में जो सम्बन्ध मालूम होता है-वह अध्यास-मात्र ही है-जिसे कि नितान्त मिथ्या कहते हैं । हाथी-घोड़ा-पर्वत-ऊँट-नदी-तालाब-इत्यादि इत्यादि जितने भी विषय हैं-वे सर्वथा मिथ्या हैं । वस्तुतः इनकी ज्ञान के अलावा कहीं भी सत्ता नहीं है । स्वप्न में मेरा ही ज्ञान हाथी बन जाता है, वही घोड़ा बन जाता है, वही फोज बन जाता है, वही मैदान बन जाता है, वही शस्त्र बन जाता है, वही सेनापति बन जाता है, वही राजा बन जाता है-इस प्रकार सब कुछ अपने आप ही बनकर आप ही अपने बने हुए योद्धाओं से युद्ध करने लगता है । हाथी-घोड़े वगैरह की सत्ता उसके ज्ञान की सत्ता से स्थित हैं । स्वप्नज्ञानसत्ता के विनष्ट होते ही स्वप्न-जगत् का भी नाश हो जाता है । तो जैसे स्वप्न में सिवाय ज्ञानसत्ता के अन्य किसी की सत्ता नहीं है, ज्ञानसत्ता ही से स्वप्नजगत् सत्तावान् हो जाता है-वस्तुतः सारा जगत् असत् है, मिथ्या है- बस, ठीक इसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में मैं जो कुछ देख रहा हूँ-वह सब मेरे ज्ञान में मिथ्या ही भासित हो रहा है । न हाथी है, न ऊँट है, न घोड़ा है-कुछ नहीं है-सब मिथ्या है-बस, इस मिथ्या प्रपञ्च की-मायिक जगत् की प्रतीति हमें हुआ करती है-जो कि सर्वथा मिथ्या ब्याज-बट्टे सहित मिथ्या है । जो ज्ञान असत्-सृष्टि को

सत्तावान् बनाने में समर्थ है–वह ज्ञान जाग्रत्अवस्था में क्यों नहीं मायिक जगत् का निर्म्माण कर सकता है ? अवश्य कर सकता है । परन्तु विश्वास करो–जैसे स्वप्नजगत् सर्वथा मिथ्या है-तद्वत् यह जाग्रत् अवस्था का जगत् भी बिल्कुल मिथ्या है । स्वप्नजगत् का जैसे उठने के साथ ही विनाश हो जाता है-तद्वत् इस जाग्रत् मिथ्या जगत् का भी जीवोत्क्रमरणानन्तर ज्ञान के साथ ही लय हो जाता है । इसीलिए 'आप मरा और जग परलय' कहलाती है । तात्पर्य्य कहने का यही है कि यह सारा जगत् केवल ख़याल ही ख़याल है । मेरा ख़याल (ज्ञान) ही सब कुछ है । इसमें जो जगत् की प्रतीति हो रही है-वह नितान्त मिथ्या है–मायिक है । ज्ञान और विषय अत्यन्त विरुद्ध हैं, अतः इन विरुद्ध धर्म्मों का ऐकात्म्य कभी हो ही नहीं सकता । होता है–वह अध्यासमात्र है–मिथ्या भ्रान्ति है–माया का प्रपञ्च है । वास्तव में ज्ञान के अलावा अर्थात्-ब्रह्म के अलावा जगत्-वगत् कोई अन्य वस्तु नहीं है । द्वैत शब्द बोलना ही अपने को पातकी बनाना है । इसी अभिप्राय से–**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**, **'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'**–कहा जाता है । सिवाय ब्रह्म के जो तुम्हें जगत् की प्रतीति होती है–उसे नितान्त मिथ्या समझो ।

इस अध्यास को भिन्न-भिन्न आचार्यों ने ४ निगाह से देखा है । मैं इस घड़े को लाल समझता हूँ–मेरी समझ (मेरा ज्ञान) मुझे घड़े को लाल समझने के लिए मजबूर कर रही है–बस, इसी का नाम **'ख्याति'** है । अध्यास को ऐसा इस तरह का समझने के लिए मेरी समझ मुझे कह रही है, अतएव इस समझ को ख्याति कहते हैं । अर्थात् अध्यास को जिस तरीके से–जिस नजर से–जिस समझ से–जिस ख़याल से समझा जाए–उसी का नाम 'ख्याति' है । यह ख्याति ४ ही प्रकार की हो सकती है–पाँचवीं नहीं । यदि हम अध्यास को समझना चाहें तो चार ही प्रकार से समझ सकते हैं । अध्यास के विषय में ४ ही ख्याति (समझ का तरीका कि वा समझ) हो सकती है । अध्यास को ४ दृष्टियों से देख सकते हैं । बस, उन चारों ख्यातियों के निम्नलिखित नाम हैं–(१) अख्यातिः, (२) असत्ख्यातिः, (३) अन्यथाख्यातिः, (४) आत्मख्यातिः । बस, यह अध्यास पूर्वोक्त चारों ख्यातियों में से ही कोई न कोई है ? उस अध्याम का चारों में से किसी एक ख्याति द्वारा हम निर्वचन कर सकते हैं। इन चारों से अतिरिक्त और पाँचवें प्रकार से अध्यास का स्वरूप बन ही नही सकता । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

> "अन्योन्यधर्मस्य परस्परस्मिन्नध्यास एवास्ति नितान्तमिथ्या ।
> अख्यात्यसत्ख्यातिवदन्यथार्थख्यात्यात्मसंख्यातिषु सोऽस्ति काचित्" ॥२०३॥

चारों ख्यातियों का कैसा क्या स्वरूप है ? यह बतलाते हैं–कई-कई (वेदान्ती) आचार्यों का मत है कि सर्प और रज्जु का परस्पर का जो विवेकाग्रह है–वही अध्यास कहलाता है । बस, इसी अध्यास को 'अख्याति' अध्यास कहते हैं । संसार में जितने भी पदार्थ हैं–उन सबमें सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के धर्म्म रहते हैं । मनुष्यों में जो हाथ-पाँव-कान-नाक इत्यादि धर्म्म हैं–वह यच्चयावत् मनुष्यों में समानरूप से विद्यमान हैं, परन्तु किसी मनुष्य के शरीरावयव दूसरे से नहीं मिलते । गति सबका सामान्य धर्म्म है, परन्तु गति में जो विशेषता है–वह विशेष धर्म्म है । इसीलिए गति गतित्वेन सामान्य

होती हुई-विशेषत्वेन विशेषधर्म्मयुक्ता हो जाती है। संसार में किसी की चाल एकसी नहीं है। एवमेव प्राणित्व सारे प्राणियों में समानधर्म्म है, परन्तु हस्तित्व, गर्दभत्व, मनुष्यत्व, प्राणित्व की अपेक्षा विशेषधर्म्म हैं। तथापि शरीराकृतित्व, स्वरभिन्नत्व, गतिभिन्नत्व हस्तित्वादि की अपेक्षा विशेष धर्म्म हैं। गरज यह है कि एक सामान्य ऐसा है-जो सामान्य ही है, एक विशेष ऐसा है-जो विशेष ही है। बाकी के यच्चयावत् पदार्थ अपेक्षा-बुध्या सामान्य और विशेष हैं। जैसी व्यवस्था अणु और महान् में है-वही व्यवस्था सामान्य और विशेष धर्म्मों में समझनी चाहिए। सामान्यधर्म्म अभेदप्रत्यय करवाते हैं और विशेषधर्म्म भेदप्रत्यय करवाते हैं। इसीलिए विशेषक को भेदक कहा करते हैं। जैसी लम्बाई रज्जु की है-वैसी ही सर्प की है। जैसे अलवेटे रज्जु में हैं-वैसी ही अलवेटे सर्प में हैं। बस, लम्बाई, अलवेटे इत्यादि जो धर्म्म हैं-वे रज्जु और सर्प में समान हैं। यदि रज्जु और सर्प में पूर्वोक्त समान ही धर्म्म होते तो हम कथमपि सर्प और रज्जु में भेद नहीं समझ सकते थे। परन्तु सामान्यधर्म्मों के साथ-साथ ही इन रज्जु और सर्प में विशेषधर्म्म भी मौजूद हैं। बस, इन्हीं के कारण रज्जु और सर्प का परस्पर भेदग्रह होता है। सर्प में चलने का विशेषधर्म्म है-रज्जु में यह धर्म्म नहीं है। उधर रज्जु में कांटे हैं-सर्प में गिलगिलाहट है एवं स्थिरत्वस्वरूप विशेषधर्म्म है। रज्जु सर्वात्मना एकसी है, परन्तु सर्प का अग्र-भाग चौड़ा है जो कि **फण** कहलाता है। बस, इन्हीं विशेषधर्म्मों के कारण हम रज्जु को सर्प नहीं कह सकते एवं सर्प को रज्जु नहीं कह सकते। यदि ये विशेषधर्म्म हट जाएँ तो उसी समय रज्जु सर्प का भेद हट जाए। इसीलिए तो जयपुर में सांप देखकर मुंबई में उन्हीं सामान्यधर्म्मों के कारण अरे! यह भी वैसा ही सांप है-यह कहने के लिए तय्यार हैं। कुछ भेदक वहाँ उस सांप में भी अवश्य हैं, अतएव वही सांप है-यह नहीं कह सकते हैं। परन्तु जहां जरा भी भेद नहीं रहता वहाँ तो '**स एवायं**' प्रत्यभिज्ञा हो ही जाती है। तात्पर्य यही है कि संसार के यच्चयावत् पदार्थों में सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के धर्म्म रहते हैं। सामान्य अभेदक है-विशेष भेदक है। सामान्यधर्म्म ग्रहण से अभेद-प्रत्यय होता है एवं विशेषधर्म्म ग्रहण से भेद-प्रत्यय होता है। जहाँ भेदग्रह नहीं होता है-जहाँ विशेषधर्म्मों का ग्रहण न होकर सामान्य धर्मों का ही ग्रहण होता है-वहाँ विवेकग्रहाभावात् अन्य वस्तु अन्य दिखलाई पड़ने लगती है। पहले पहल हमारी इन्द्रियों पर पुरोऽवस्थित पदार्थ का सूर्य्यरश्मियों द्वारा आघात होता है, तदनन्तर प्रज्ञान (मन) '**इदं नेति-इदं वा अस्ति**'-यह व्यापार करने लगता है। अर्थात्-इन्द्रिय द्वारा आई हुई सामग्री पर प्रज्ञान ईहा करने लगता है। इस ईहा के अनन्तर यह प्रज्ञान विज्ञान के पास इस जांच किए हुए पदार्थ को भेद देता है। बस, विज्ञान जब उसे ग्रहण कर लेता है तो वह ज्ञाननिश्चयात्मक हो जाता है। इन्द्रियज्ञान को '**अवग्रह**' कहते हैं, मन के ज्ञान को ईहा कहते हैं एवं विज्ञानज्ञान को '**अवाय**' कहते हैं। इसी अवाय को '**पार्ष्टि** ज्ञान भी कहा करते हैं। बस, इन तीन व्यापारों में अर्थ-ज्ञान की समाप्ति होती है।

मान लीजिए-इन्द्रिय पर कोई वस्तु आई और उस पर मन ईहा करने लगा, यदि इन्द्रियदोष से पदार्थ आने में कमी रह गई तो मन का व्यापार रुक गया। वह '**इदं वा, इदं वा**'-के सन्देह में ही झूलता रहा। विवेक ज्ञान को जो कि विज्ञान का काम था, मौका ही न मिला। बस, इसीलिए भेदग्रहाभावात् रज्जु को सर्प समझने लग गया। भेदक पदार्थों का जबकि इन्द्रिय से ग्रहण

ही नहीं हुआ तो फिर विवेक रज्जु को रज्जु ही कैसे बतला सकता है ? प्रकृत में हमें सिर्फ इतना ही कहना है कि सर्प और रज्जु का जो परस्पर विवेकाग्रह है बस, वही अध्यास का मूल है । रज्जु को सर्प समझने में प्रधान कारण विवेकाग्रहण ही है । भेदक पदार्थ का अग्रहण ही है । बस, यही पहला अख्यातिरध्यास है । अख्याति अग्रहण को कहते हैं । चूंकि यहाँ विवेक-ग्रहण नहीं हुआ एवं तन्मूलक (विवेकाग्रहणमूलक) ही अध्यास हुआ, अतएव हम इस अध्यास को अख्यातिरध्यास कहने के लिए तय्यार हैं । इस अध्यास में भिन्न वस्तु का-भेदक धर्म्म का अग्रहण है ।

।। इति अख्यातिरध्यासः प्रथमः ।।१।।

दूसरे लोग इस अध्यास की उपपत्ति असत्ख्याति के कारण मानते हैं । सर्प के धर्म्म हैं-चलना, मुँह पर से चोड़ा होना, सर्पट दौड़ना इत्यादि । रज्जु के धर्म्म हैं-स्थिर रहना, कर्कशा होना, एकाकार रहना-इत्यादि । बस, इस रज्जु में सर्प के धर्मों की बुद्धि हो जाना ही असत्ख्यातिरध्यास कहलाता है । जो धर्म्म रज्जु में सर्वथा असत् हैं अर्थात् नहीं हैं-उनका जब इस रज्जु में ग्रहण हो जाता है तो रज्जु सर्प प्रतीत होने लगती है । सर्प के धर्म्मों का जो कि रज्जु में नहीं हैं, रज्जु में ग्रहण हो जाना ही **असत्ख्याति** (असतः ग्रहणम्) कहलाती है । अख्याति में भिन्न का (भेदक धर्म्म का) अग्रहण था एवं असत्ख्याति में भिन्न धर्म्म का (पन्नगधर्म्म का) ग्रहण है । बस, यही अख्याति और असत्ख्याति में भेद है । बस, कई दार्शनिक अध्यास को असत्ख्यातिमूलक समझते हैं ।

।। इति असत्ख्यातिरध्यासो द्वितीयः ।।२।।

कई दार्शनिकों का खयाल है कि वह अध्यास देशान्तरीय मति से ही होता है । हमने किसी एक जगह पर सांप को देखा था एवं रज्जु को भी देखा था । दोनों का खयाल हमारे में मौजूद है । जब हमारे सामने रज्जु आती है-रज्जु का प्रत्यक्ष होता है तो उस देशान्तर में दृष्ट सर्प का स्मरण हो पड़ता है । बस, वह स्मरणात्मक ज्ञान ही यहाँ अनुभव में परिणत हो जाता है । खेती को नष्ट करने वाले पशुओं (सूअर, श्याल इत्यादि-इत्यादि) ने आदमी से लगुड-प्रहार सहा था-आदमी ने-खेत के रक्षक ने उनके लट्ठ मारा था-बस, उसी समय उस आदमी का फोटू उनके मस्तिष्क में खिंच गया था । अब खेती वालों के बनावटी काष्ठ के मनुष्य को जब वह सूअर देखता है तो उसका वह स्मरणात्मक ज्ञान उद्बुद्ध हो जाता है एवं वह उसे सांच-मांच का मनुष्य समझकर डर के मारे भाग जाता है । वास्तव में वह सचमुच में मनुष्य नहीं है-वह तो काष्ठमात्र है, परन्तु देशान्तरीय दृष्ट मनुष्य स्मरणात्मक ज्ञान के वहाँ उद्बुद्ध हो जाने पर उसे वह साक्षात् मनुष्य ही दीखने लगता है । बस, एवमेव हमने कभी सर्प को देख रखा था-आज रज्जु के प्रत्यक्ष होते ही वह देशान्तरीय स्मरणात्मक सर्प ज्ञान तो उद्बुद्ध हो जाता है एवं प्रत्यक्ष ज्ञान तिरोहित हो जाता है-बस, इसी को 'अन्यथा' किंवा 'अन्यता' (सांख्यमतानुसार) ख्याति कहते हैं । प्रत्यक्ष हो रहा है-रज्जु का, परन्तु ग्रहण हो गया अन्यथा अर्थात् उसके विपरीत । प्रत्यक्ष ज्ञान को देशान्तरीय स्मरणज्ञान ने दबा लिया । बस, अध्यास का यही कारण है । रज्जु के प्रत्यक्ष ज्ञान पर देशान्तरीय सर्पस्वरूप स्मरणात्मक ज्ञान का उद्बुद्ध हो जाना ही-'अन्यथाख्यातिरध्यास' कहलाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"सर्पस्य रज्जोश्च मिथो विवेकाग्रहोऽयमध्यास इति स्म केचित् ।
रज्जावसत् पन्नगधर्मधीर्वा देशान्तरीया हि मतिस्तथा वा" ।।२०४।।

।। इति अन्यथाख्यातिरध्यासस्तृतीयः ।।३।।

——❀——

कई दार्शनिकों का खयाल है कि बहिःस्थित रज्जु में स्वमतिस्थ सर्प बहिर्वत् अवभासित होने लगता है तो रज्जु सर्प मालूम होने लगती है । हमने अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् भेदेन जगत् दो प्रकार का बतलाया है । अन्तर्जगत् का निर्म्माण बहिर्जगत् के आधार पर होता है अन्तर्जगत् का आलम्बन बहिर्जगत् है । परन्तु ध्यान रहे-बहिर्जगत् आलम्बन अवश्य है, परन्तु वह हमारे से सर्वथा परोक्ष है । हमें हमारे अन्तर्जगत् का ही प्रत्यक्ष होता है । सांप, रज्जु, घट, पट, सूर्य्य, चन्द्र इत्यादि इत्यादि जो कुछ हम देखते हैं-वह हमारा आत्मजगत् है । यह मेरे अन्तर्जगत् की वस्तुएँ हैं-जिनका कि निर्म्माण बहिर्जगत् के आधार पर होता है । मेरे अन्तर्जगत् में जैसे रज्जु बैठी हुई है-वैसे ही सांप भी बैठा हुआ है । बहिः-स्थित तत्तत् पदार्थों पर मेरे तत्तत् अन्तर्जगत् का मुलम्मा चढ जाता है तो मैं उन-उन पदार्थों का प्रत्यक्ष किया करता हूँ । मेरा सांप बहिर्जगत् के सांप पर जाके बैठ जाता है । मेरे आन्तर सांप का बहिर्जगत् स्थित सांप पर मुलम्मा चढ जाता है-तो मैं-'**सर्पमहं पश्यामि**'-कहने के लिए होता हूँ । एवमेव बहिः-स्थित रज्जु पर जब हमारे आन्तर रज्जु बैठ जाती है तो-'**रज्जुमहं पश्यामि**' कहने लगता है । परन्तु किसी कारण से रज्जु के स्थान पर रज्जु न बैठकर अन्तर्जगत्स्थ सर्प ही का उस रज्जु पर मुलम्मा चढ जाता है तो बहिःस्थित रज्जु सर्प के स्वरूप में प्रतीत होने लगती है । चूंकि आन्तरजगत् अर्थात् आत्मजगत् के मुलम्मे से अध्यास होता है अतएव इस अध्यास को-'**आत्मख्यातिरध्यास**' कहते हैं । बस, कई आचार्य इस आत्मख्याति ही को अध्यास का मूल बतलाते हैं । हमारे आत्मा के सर्प ही का तो रज्जु पर ग्रहण होता है । यदि हमारे आत्मा में सर्प न हो तो रज्जु पर क्या सर्प पर भी सर्प की प्रतीति नहीं हो सकती । जिनके आन्तरजगत् में सर्प नहीं है अर्थात्-जिन्हें सर्प का ज्ञान नहीं है, आप लाख प्रयत्न कर लीजिए-उन्हें सर्प को देखने पर भी सर्प का ज्ञान नहीं होगा-जब तक कि हमारा ज्ञान उनके अन्तर्जगत् में सर्प का निर्म्माण न कर देगा ।

।। इति आत्मख्यातिरध्यासश्चतुर्थः ।।४।।

——❀——

चाहे अख्याति हो, चाहे असत्, अन्यथा एवं आत्मख्याति हो-अन्य धर्म्म का अन्यत्र आभास होने का नाम ही अध्यास है । विज्ञ लोग अध्यास का '**अन्यत्रान्यधर्मावभासोऽध्यासः**'-यही लक्षण करते हैं । पूर्वोक्त चारों ख्यातियों में भी-'**अन्यथान्यत्रधर्म्मावभासः**'- ही है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"बहिःस्थरज्जौ स्वमतिस्थसर्पो बहिर्वदाभासत आहुरेके ।
अन्यस्य धर्मस्य तदित्थमन्यत्राभासमध्यासमुशन्ति विज्ञाः" ॥२०५॥

इसी अध्यास को 'अविद्या' शब्द से कहा करते हैं। इस अविद्या के ठीक बरअक्स में विद्या रहती है। जहाँ विद्या रहती है–वहाँ अविद्या नहीं रह सकती है। अविद्या अन्धकार है और विद्या प्रकाश है। भला, प्रकाश के सामने अन्धकार क्योंकर टिक सकता है। अनात्मविवेकपूर्वा जो ज्ञान की स्व-स्वरूप से प्रतिपत्ति होती है–वही 'विद्या' कहलाती है। यह आत्मा है–यह अनात्मा है–यह मृत्यु है–यह अमृत है–यह ब्रह्म है–यह कर्म्म है–इसकी जो काट-छांट करती है–जो सत्-असत् का (अच्छे-बुरे का) आभू-अभ्व का ज्ञान करवाती है–विषय से रहित जो ऐसा शुद्ध तत्त्व है–उसे ही विद्या कहते हैं। जो अविद्या मिश्रितविद्या होती है–वह तो और दुःख देती है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।[1]

तात्पर्य्य यही है कि विषयी (ज्ञान) का नाम विद्या है एवं विषय (जगत्) का नाम अविद्या है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अध्यासमेतं प्रवदन्त्यविद्यां तद्वैपरीत्याद् भवतीह विद्या ।
ज्ञानस्य याऽनात्मविवेकपूर्वा वस्तुस्वरूपप्रतिपत्तिरस्ति" ॥२०६॥

सम्पूर्ण वाक्-प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि रज्जु में अध्यस्त सर्प की सत्ता रज्जुसत्ता से भिन्न नहीं है। रज्जु की सत्ता अलग हो एवं सर्प की सत्ता अलग हो यह बात इस अध्यास में नहीं है। हो भी कैसे ? जैसे किताब टेबिल पर सवार रहती, तद्वत् सर्प रज्जु पर सवार थोड़े ही है–केवल सर्प की भ्रान्तिमात्र है। यदि वास्तव में रज्जु पर सर्प बैठा होता तो रज्जु की सत्ता अलग और सर्प की सत्ता अलग हो सकती थी। तो बस, जिस प्रकार से रज्जु में प्रतीत होने वाले सर्प के सर्वथा मिथ्या होने से, जैसे सर्प की सत्ता रज्जुसत्ता से भिन्न नहीं है, तद्वत् इस विषयी में (ज्ञान में) विषय अध्यस्तमात्र है। इसकी स्वतन्त्रसत्ता है ही नहीं। नहीं है–और फिर जो इसकी प्रतीति हो रही है–वह अध्यासभास्यमानत्वात् सर्वथा मिथ्या है।

जैसे मिट्टी ही घड़े का उपादान है, तद्वत् रज्जु ही सर्प का उपादान है। फरक इतना है–रज्जु विवर्त्ततया उपादान है एवं मृत्तिका समवायतया उपादानभूता है। विवर्त्त और समवायी भेद से उपादान दो प्रकार का होता है। मिट्टी समवाय्युपादान है। मिट्टी घड़े का समवाय्युपादानकारण है, परन्तु रज्जु सर्प का विवर्त्तोपादानकारण है। खयाली सत्ता ही को विवर्त्तोपादान कहते हैं। मिट्टी से तो घट एक

१–गीता ५।१५ ।

पदार्थ बन जाता है, परन्तु रज्जु उपादान से सर्प कोई पदार्थ नहीं बनता–सिर्फ खयाली सर्प बनता है। इसीलिए विवर्त्तोपादन को खयाली सत्ता कहा गया है। परन्तु ध्यान रहे–कार्य्य-कारण समान हैं। प्रकृत में बतलाना हमें यही है कि यह सारा जगत् सर्पवत् अध्यस्त है। वास्तव में जगत् कोई वस्तु ही नही है। भला, फिर इस मिथ्या मायावी तमःस्वरूप विषय का प्रकाशस्वरूप ज्ञान के साथ ऐकात्म्य, किंवा अविविक्तभाव, किंवा योग हो ही कैसे सकता है? जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अध्यस्तसर्पस्य न रज्जुसत्ताभिन्नास्ति सत्तास्ति न तत्र सर्पः।
अध्यस्त एव विषयोऽत्र सत्ता नास्त्येव मिथ्या तु स मायिकत्वात्" ॥२०७॥

मैं इस घट को देख रहा हूँ–यह मेरा पुत्र है–यह मेरा पिता है–यह मेरी स्त्री है–यह भोग्य है–मैं भोक्ता हूँ–यह सुखी है–यह दुःखी है–इत्यादि जो प्रवृत्ति है–वह मायावशात्-अविद्यावशात् ही हुआ करती है। इस माया ही को 'अविद्या' कहते हैं–जो कि अपने आप न मालूम कहाँ से कैसे उत्पन्न हो जाती है? यह माया अत्यद्भुता है–अनिर्वचनीयरूपा है। माया सती है–असती है–किंवा सदसती है? यह आज तक किसी ने नहीं जाना–न कोई जानेगा इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

**"न सती सा नासती सा नोभयात्मा विरोधतः।
काचिद् विलक्षणा माया वस्तुप्रकृतिरिष्यते" ॥**

यह माया कहाँ है–कहाँ से निकल पड़ती है–कहाँ विलीन हो जाती है?–इसके लिए भगवान् वेदपुरुष कहते हैं—

**"को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद" ॥[1]**

बस, ज्ञानविषयसत्तावाद में यही पहला मत है–जिसे कि हम बहुत अच्छा नहीं कह सकते। हमारे खयाल से **'विषयाणां मिथ्यात्वात्-एकसत्तावादः'** मत अशुद्ध है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"मायावशात् सर्वजगत्प्रवृत्तिर्मायात्त्वविद्या स्वत एव जाता।
अत्यद्भुताऽनिर्वचनीयरूपेत्येकं मतं तन्न विशिष्य हृद्यम्" ॥२८०॥

१–ऋग्वेद मं० १०।१२९।६-७।

३-विषयाणां ज्ञानात्मकत्वादेकसत्तावादः ॥२॥

विषयों के ज्ञानात्मक होने से एकसत्तावाद—

ज्ञान प्रकाश है-और विषय तम है-इनका परस्पर सम्बन्ध हो ही नहीं सकता, अतः फिर जो ज्ञान में विषय का प्रत्यक्ष होता है-वह अध्यासमात्र समझना चाहिए-मिथ्या समझना चाहिए। वस्तुतः जैसे रज्जु में अख्याति आदि के कारण सर्पबुद्धि हो जाती है-तद्वत् इस ज्ञान में सर्वथा मिथ्या-जगत् की प्रतीति होने लगती है। चूंकि विषय सर्वथा मिथ्या है, अतएव हम **'ज्ञानैकत्वात्-विषयाणां च मिथ्यात्वात् एकसत्तावादः'** ही को मान लेने के वास्ते तय्यार हैं-यही पूर्व मत का सारांश है। हमारे खयाल से विषयों को मिथ्या बतलाकर एकसत्तावाद स्थापित करना नितान्त असंगत है। यदि ज्ञान से अलावा तमःस्वरूप विषय होते तो-अवश्य ही-**'तमःप्रकाशवत् विरुद्धस्वभावयोर्विषयविषयिणोः'**-इत्यादि कहना संगत हो सकता था। परन्तु कौन कहता है कि विषय तमःस्वरूप है एवं ज्ञान से भिन्न वस्तु है? सारे विषय ज्ञानाकार हैं-ज्ञान ही विषयस्वरूप में परिणत हुआ है। इस विषय को ज्ञान से विजातीय बतलाना ही असंगत है। विषय और ज्ञान अलग वस्तु नहीं हैं-ज्ञान ही विषयरूप में परिणत हो रहा है। जबकि विषय ज्ञानस्वरूप हैं एवं ज्ञान सत्य है तो फिर विषय को क्योंकर मिथ्या बतलाया जा सकता है? बस, चूंकि विषय ज्ञानस्वरूप हैं एवं ज्ञान है एक, अतएव विषयों के ज्ञानात्मकत्व हेतु से हम एकसत्तावाद कहने के लिए तय्यार हैं-न कि विषयों को मिथ्यात्व हेतु से। बस, इस प्रकरण में यही सिद्ध किया जाएगा।

'विषयाणां ज्ञानात्मकत्वादेकसत्तावादः'-मानने वाले अन्य दार्शनिक कहते हैं कि घट-पट-वस्त्र-मकान-पर्वत-सूर्य्य-चन्द्र-नक्षत्र-आकाश-तेज-इत्यादि इत्यादि विश्व के यच्चयावत् पदार्थों का हमें भान हो रहा है। हम आँख खोलते हैं तो एकदम से इन सब पदार्थों का भान होने लगता है। सारे पदार्थ भासते हैं। जबकि इन सबका भान होता है-प्रतीति होती है-तब फिर इनको मिथ्या कैसे बतलाया जा सकता है? चूंकि सारे पदार्थ भासते हैं, अतएव वे अवश्य ही हैं। भाति ही का नाम तो अस्ति (सत्ता) है। यदि अस्ति है तो भाति है एवं भाति है तो अस्ति है। किसी भी पदार्थ की सत्ता भाति से ही प्रतीत होती है। घड़ा भासता है-इसलिए है-यदि नहीं भासता है तो नहीं है। जबकि सारे पदार्थ भान्ति हैं-तो फिर न भाति कैसे कहा जा सकता है? जब न भाति नहीं कहा जा सकता तो फिर हर्गिज हर्गिज भासित होने वाले इन विषयों को मिथ्या नहीं बतलाया जा सकता। अब यहाँ पर एक प्रश्न बाकी रह जाता है-वह यही है कि विषय भासते हैं-यह तो हम भी मानते हैं, परन्तु ज्ञान में भासते हैं-इससे मालूम होता है कि विषय ज्ञान से अलग हैं-वह घट मेरे ज्ञान में नहीं था-वह घट अब आ गया। अथवा यह बात तभी बन सकती है जबकि ज्ञान से विषय को पृथक् माना जाए। जब विषय पृथक् हैं-ज्ञानाभावस्वरूप हैं तो फिर प्रकाशस्वरूप इस ज्ञान के साथ तमःस्वरूप इस विषय का मेल हो ही कैसे सकता है? ज्ञान और विषय का मेल असंभव है। परन्तु प्रतीत होता है-इसलिए हम इस प्रतीति को मिथ्या बतलाते हैं। वास्तव में विषय मिथ्या ही है। बस, विषयों के मिथ्या होने से एकसत्तावाद बतलाना कैसे अनुचित बतलाया जा सकता है? वास्तव में आपका प्रश्न ठीक है, परन्तु

इसकी नींव ही कच्ची है। हम फिर उसी बात को दुहराते हैं कि यदि विषय ज्ञान से अलग होते तो अवश्य ही आप मनोमोदक खा सकते थे, परन्तु हम कह चुके हैं और कह रहे हैं और कहेंगे कि विषय ज्ञान से पृथक् नहीं हैं ! नहीं है !! नहीं है !!! क्यों नहीं है-इसके लिए आपको भगवान् भर्तृहरि की शरण लेनी पड़ेगी-वे कहते हैं—

"ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा ।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते" ॥[1]

भर्तृहरि तेज की ग्राह्य और ग्राहकत्व दोनों शक्ति बतला रहे हैं। वही तेज ग्राहक है-तो वही ग्राह्य है। ज्ञान प्रकाशस्वरूप है-तेज है। जैसे उसमें ग्राहकत्व शक्ति है-वैसे ही ग्राह्यत्व शक्ति भी उसमें मौजूद है। वही द्रष्टा बनता है एवं वही दृश्य बन जाता है। बस, इस ज्ञान का ग्राह्य हिस्सा व्यवहार के लिए विषय कहलाता है एवं ग्राहक का हिस्सा ज्ञान कहलाता है। वस्तुतः ज्ञान और विषय दोनों ज्ञान ही हैं। हम आपसे पूछते हैं कि कृपाकर ज्ञान के अलावा विषय का स्वरूप तो बतलाइए। घटपटादि विषयजात यदि ज्ञान के बने हुए नहीं हैं तो फिर कभी इनकी प्रतीति ज्ञान से पृथक् भी तो होनी चाहिए थी ? परन्तु नहीं होती। हम घटपटादि को जब भी कभी देखते हैं-ज्ञानमय ही देखते हैं। **'अयं घटः अयं पटः'**-यही तो ज्ञान का स्वरूप है। घड़ा ज्ञान में कूदता थोड़े ही है। वह तो स्वयं ज्ञानमय ही है। यदि ज्ञान से अलग होता तो कूदता। बडे आश्चर्य की बात है-श्रुति कहती है-**'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'** एवं **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**, किन्तु आप कहते हैं-सारा जगत् मिथ्या है। श्रुति सारे प्रपञ्च को-**'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'** बतलाकर **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**-यह ब्रह्म का स्वरूप बतला रही है। जिस नामरूपात्मक जगत् को आप मिथ्या बतला रहे हैं-श्रुति उसी नाम-रूप को सत्य बतलाती है।

'घटमहं जानामि'-यही तो ज्ञान का स्वरूप है। तो कहने का तात्पर्य्य यही है कि यच्चयावद् विषय भासते हैं। यह भासना बिना ज्ञान के नहीं हो सकता। ज्ञान के अलावा विषय की प्रतीति ही नहीं होती। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है-सारे विषय ज्ञानरूप ही हैं। वही ज्ञान ग्राहक और ग्राह्य दोनों स्वरूपों में परिणत हो रहा है। चूंकि ज्ञान सत्य है एवं विषय हैं सारे ज्ञानमय, अतः ये सारे विषय सत्य हैं-ये मिथ्या कभी नहीं हो सकते। ज्ञानमयविषय-ज्ञानस्वरूपविषय भी क्या मिथ्या हो सकते हैं ? कदाचित् कहो कि साहब ! आप विषय को ज्ञानस्वरूप कथमपि नहीं बतला सकते हैं। क्योंकि हम जब किसी अन्धेरे मकान में घुसते हैं अथवा उजाले में भी आँख मींचकर चलते हैं तो वहाँ रखे हुए घट का किंवा मकान का आघात होता है। उस घट एवं मकान की ठोकर लगती है। उस ठोकर से हमें ज्ञान होता है कि यहाँ पर कोई वस्तु है। इससे विषयों का ज्ञान से पृथक् होना सिद्ध हो जाता है। हम कहते हैं-आप भूलते हैं-आघात के होते ही आपको ज्ञान ही तो होता है। वह पदार्थ ज्ञान में ही तो भासित होता है। हम कहते हैं-एक ठोकर नहीं, हजार ठोकर लगें, परन्तु उसका भान तो ज्ञान ही में

१-वाक्यपदीय १।५५ ।

होगा। ज्ञान को छोड़कर विषय रहे–यह बात तो कथमपि सिद्ध हो ही नहीं सकती। हम 'अस्ति' तभी कहेंगे–जबकि हमें उसका भान होगा। तो बस, चूँकि सारे विषय ज्ञानाविनाकृत हैं, अतएव ज्ञान स्वरूप हैं एवं ज्ञान है सत्य तो फिर अवश्य अवश्य सारे विषय भी सत्य ही हैं। इन्हें मिथ्या कथमपि नहीं बतलाया जा सकता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"परे तु तत्राहुरिमेऽखिलार्था भान्तीति न ज्ञानविनाकृताः स्युः।
ज्ञानं यतः सत्यमिमेऽपि तस्मात् सत्याः स्युरेते न कदापि मिथ्या" ॥२०६॥

वादी फिर प्रश्न करता है कि हमने माना कि विषय ज्ञान में ही प्रतिभासित होते हैं। परन्तु फिर भी इन्हें ज्ञानस्वरूप नहीं माना जा सकता। माना क्या नहीं जा सकता–तबियत नहीं मानती। हम जब भी देखते हैं–विषय को ज्ञान से जुदा ही देखते हैं। यदि विषय ज्ञान ही के बने हुए होते तो हमें सदा सबका स्मरण बना रहता, परन्तु हम भूल जाते हैं। इससे मालूम होता है कि घड़ा ज्ञान से अलग है। भला इस प्रत्यक्ष अनुभव का अपलाप कर कैसे ज्ञान और विषय को एक चीज मानी जा सकती है?–हम कहते हैं मानना पड़ेगा। आज संसार में हजारों प्रतीतियाँ आपको ऐसी हो रही हैं–जिन्हें आप स्वयं मिथ्या बतलाते हैं। संसार के यच्चयावत् प्राणिमात्र को आकाश नीला दीखता है, सूर्य्य ६ अंगुल का दीखता है, प्रातःकाल का सूर्य्य लाल दीखता है, मध्याह्न का सफेद दीखता है, पृथिवी समधरातल-युक्ता दीखती है, परन्तु क्या वास्तव में आप इन सब दृश्यों को सत्य मानने के लिए तय्यार हैं–हर्गिज नहीं। आप स्वयं कह बैठते हैं कि भाई! आकाश दीखता है नीला, परन्तु समझो इसे नीरूप। सूर्य्य दीखता है ६ अँगुल का, परन्तु समझो इसे पृथिवी से १३ हजार गुणा बडा। पृथिवी दीखती है–समधरातलयुक्ता, परन्तु समझो इसे वर्त्तुलाकारयुक्ता। हम कहते हैं–क्यों साहब! हम ऐसा कैसे समझें? जबकि हमें प्रतीति इसके विरुद्ध हो रही है। आप कहते हैं–समझना ही पड़ेगा। वैज्ञानिक भाव से देखने पर इसी को सत्य मानना पड़ता है। मानते हैं–आपामर इसे ऐसा न समझें, परन्तु वैज्ञानिकों को अवश्य ही प्रतीति के विरूद्ध स्थिति माननी पड़ेगी। इसीलिए भगवान् भी कहते हैं—

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः" ॥[1]

बस, हम कहते हैं कि ठीक इसी प्रकार से आपको ज्ञान और विषय के विषय में भी यही व्यवस्था माननी पड़ेगी। विषय अवश्य ज्ञान से दूसरी चीज मालूम होती है, परन्तु विचार करने पर-सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन करने पर यह भेदभाव हट जाता है। सारे विषय ज्ञानमय ही हैं। ज्ञान ही विषयरूप में परिणत हो रहा है। हम देखते हैं कि इन सारे विषयों की उत्पत्ति इस ज्ञान ही से होती है। मैं घड़े को जानता हूँ–यही तो ज्ञान की सत्ता है एवं उस ज्ञान से उत्पन्न होकर सारे विषय उसी

१ गीता २।६६।

ज्ञान पर प्रतिष्ठित रहते हैं। वास्तव में बात ठीक है-मृत्तिका से उत्पन्न होने वाला घट मृत्तिका ही पर तो प्रतिष्ठित रहता है। तद्वत् ज्ञान से उत्पन्न होने वाले विषय ज्ञान ही पर तो प्रतिष्ठित रहते हैं एवं अन्त में इसी में उनका लय हो जाता है। घड़ा फूट कर मृत्तिका में ही जैसे समा जाता है, तथैव सारे विषय प्रतिसञ्चर क्रिया से ज्ञान में ही लीन हो जाते हैं। ज्ञान ही विषय का प्रभव है-ज्ञान ही प्रतिष्ठा है एवं ज्ञान ही परायण है अर्थात् अन्तिम गति है। **'यो हि यस्य प्रभवः प्रतिष्ठा परायणं ततो न भिद्यते'**-जबकि यह नियम है तो फिर विषयों को ज्ञानस्वरूपता से क्योंकर हटाया जा सकता है? वास्तव में सारे विषय ज्ञानस्वरूप ही हैं। मृत्तिका घट का प्रभव है-परायण है-प्रतिष्ठा है-इसीलिए तो घट मृत्तिका से अभिन्न है। उसी मिट्टी से तो घड़ा बन गया है-भला. वह घड़ा जो कि सत्य से पैदा होता है-झूंठा क्योंकर हो सकता है? प्रकाश से भी कभी अन्धकार उत्पन्न हुआ है? अग्नि की सारी चितियाँ अग्निस्वरूप ही तो हैं। पानी से उत्पन्न होने वाला बुलबुला पानीमय ही तो है। भला, ऐसी अवस्था में ज्ञान से उत्पन्न होने वाले विषय कैसे ज्ञानमय नहीं हैं? हैं-और अवश्य हैं।

और तो और जिस ज्ञान की आप डींग मार रहे हैं-उसका ज्ञान भी ये विषय ही हैं। विषयों से ही ज्ञान का ज्ञान होता है, अतः विषय तो आपके ज्ञान के भी ज्ञान हैं। विना विषय के कृपाकर आप जरा ज्ञान का स्वरूप तो बतलाइए? निश्चय समझिए-विना विषय के आप त्रिकाल में भी ज्ञानस्वरूप नहीं बतला सकते। **'अहं जानामि'**-इसके साथ विषय बँधा हुआ है। ज्ञान का ज्ञान जब भी होता है-विषयाकाराकार में परिणत होकर ही होता है। जिस ज्ञान में विषय नहीं होता है-वह ज्ञान स्वयं लुप्त हो जाता है-जिस ज्ञान को कि आप निर्विकल्पक ज्ञान कहा करते हैं। विषय जिस दिन ज्ञान में नहीं रहेगा-**'अहं जानामि'**-इत्यादि ज्ञान लुप्त हो जाएगा। **'अहं जानामि'**-इस ज्ञान का ज्ञान करवाने वाले एकमात्र विषय ही हैं। तो भला जो विषय ज्ञान के भी ज्ञान हैं-वे मिथ्या क्योंकर हो सकते हैं? विना विषयों के तो इस ज्ञान का ज्ञान कभी हो ही नहीं सकता। बस, इसलिए हम आप से सुहृद्भाव से कहते हैं कि आपको चुपचाप विषयों को सत्य मान लेना चाहिए-इतना फिर हम कह देते हैं कि विषय सत्य हैं, परन्तु इनकी ज्ञान से पृथक् सत्ता नहीं है। ज्ञान ही विषय बने हुए हैं। ज्ञान ही द्रष्टा और दृश्य, ग्राहक और ग्राह्यस्वरूप में परिणत हो रहा है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्ञानं हि तेषां प्रभवः प्रतिष्ठा परायणं तेन ततो न भिन्नाः।
ज्ञानस्य हि ज्ञानमिमे विना तैर्न ज्ञायते ज्ञानमिदं कदाचित्" ॥२१०॥

वादी प्रश्न करता है कि वाह! आपने भी हमें अच्छे भ्रम में डाला। परन्तु आखिर हम भी आप जैसे ही मनुष्य हैं, भला हम आपके इस व्यर्थ के सारशून्य वागाडम्बर को क्योंकर मान सकते हैं? हमारा तो सिद्धान्त है कि विषय ज्ञान नहीं हो सकता-ज्ञान विषय नहीं हो सकता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण नानाभाव ही हैं। ज्ञान एक है, परन्तु उसमें आने वाले पदार्थ अनन्त हैं। एक ज्ञान में घट-पट-वस्त्र-सूर्य्य-चन्द्र-कुर्सी-मेज-बालक-बुड्ढे-इत्यादि नानाभाव प्रतिभासित हो रहे हैं। भला यदि ज्ञान ही के ये सारे पदार्थ बने हुए होते तो ज्ञानैक्यात् नानाभाव ही क्योंकर होते? विषयों को ज्ञानस्वरूप

मान लेने पर ज्ञानैक्यहेतु से कथमपि नानात्व सिद्ध नहीं हो सकता। प्रतीति नानाभावों की अवश्य होती है-इससे मालूम होता है कि विषय ज्ञान से पृथक् हैं। सारे विषय उस एक ज्ञान पटल पर प्रतिभासित होते रहते हैं। हम वादी की इस दलील को धन्यवादपूर्वक वापस लौटाते हैं। ज्ञानैकता में जो अनेकता होती प्रतीत हो रही है-उसका एकमात्र विवर्त्त ही कारण है। नानाभाव तो ज्ञान की वृत्तियाँ हैं। जिस प्रकार से एक ही आतिशबाजी की अनार में से अनन्तानन्त फूल झड़ते रहते हैं, परन्तु वे सारे फूल उसी द्रव्यमय हैं-जिनसे कि वह अनार बना हुआ है। बस, ठीक यही भाव ज्ञान और ज्ञानोत्पन्न विषयों में समझना चाहिए। ज्ञान एक अग्नि का पुञ्ज है-उसमें से चमाचम करते हुए नानाभाव अग्नि की चिनगारियों की तरह निकल रहे हैं। इससे क्या चिनगारियाँ ज्ञानस्वरूप से च्युत हो गईं? हर्गिज नहीं। अनन्तानन्त वृत्तियाँ आग की चिनगारियों के माफिक उसमें से निकला करती हैं एवं उसी में लीन होती रहती हैं- इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

तदेतत्सत्यम्—

"यथा सुदीप्तात्-पावकाद्विस्फुलिङ्गा सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" ॥[1]

विविध वृत्तिता को ही **'विवर्त्त'** कहते हैं। इस वृत्तित्वप्रयुक्त नानाभाव से भी कहीं विषयों की ज्ञानस्वरूपता को काटा जा सकता है? अरे! नानात्व तो उस ज्ञान का विवर्त्त है-विविधवृत्तिता है। उसकी वृत्तियों ही का नाम विषय है। हम हँसते हैं, रोते हैं, चलते हैं, खाते हैं, पीते हैं, सोते हैं-तो क्या यह नानाभाव हमसे उत्पन्न नहीं हुआ है? नानाभाव में मैं ही तो परिणत हो रहा हूँ। मैं ही हँसता हूँ-मैं ही रोता हूँ-मैं ही चलता हूँ-सब कुछ मैं हूँ। बस, ठीक इसी प्रकार से घट भी ज्ञान है-पट भी ज्ञान है, मठ भी ज्ञान है। सारे विषय ज्ञान हैं-उस एक ज्ञान के विवर्त्त हैं।

जो कुछ मैं देख रहा हूँ-वह मेरे ज्ञान से बना हुआ है। मेरे ज्ञान के साथ ज्ञानीय विषय की सत्ता है। कदाचित् कहो कि-अन्तर्जगत् तो थोड़े देर के लिए ज्ञान ही से बना मान सकते हैं-हम, हमारा अन्तर्जगत् हमारे ही ज्ञान से बना हुआ है-यह बात तो यथाकथंचित् मान भी सकते हैं, परन्तु सत्तासिद्ध जगत् भी मेरे ही ज्ञान से बना हुआ है-यह बात क्योंकर मानी जा सकती है? उसे तो अवश्य ही ज्ञान से पृथक् मानना पड़ेगा। सत्तासिद्ध जगत् का अपलाप आप कर नहीं सकते। यदि सत्तासिद्ध जगत् न होता तो हमारा ज्ञान जब चाहता-चाहे जो बना डालता। परन्तु हमारा ज्ञान अपने अन्तर्जगत् में स्वतन्त्र नहीं है, अतएव मानना पड़ता है कि इस ज्ञानीय अन्तर्जगत् का आलम्बन सत्तासिद्ध जगत् अवश्य ही है। यह है-तो हमारा अन्तर्जगत् भी है। बाहर यदि घड़ा है तो हमारे ज्ञानीय घट का भी निर्म्माण होता है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि अन्तर्जगत् की सत्ता कायम रखने वाला अवश्य ही सत्तासिद्ध बहिर्जगत् है। अब यहीं हम आपसे पूछते हैं कि बहिर्जगत् हमारे ज्ञान से तो बना नहीं

---

१ मुण्डकोप० २।१।१।

है-हमारे ज्ञान से तो केवल अन्तर्जगत् बना हुआ है-ऐसी अवस्था में आप को बहिर्जगत् को कम से कम अवश्य ही ज्ञान से पृथक् मानना ही पड़ेगा। इस पर हमें और कुछ नहीं कहना-कहना केवल इतना सा ही है कि हमारा अन्तर्जगत् भी जगत् है एवं बहिर्जगत् भी जगत् है। जगत्त्वसादृश्यात् दोनों जगत् हैं। हम देखते हैं कि हमारा जगत् हमारे ज्ञान से बना हुआ है तो इस ज्ञानत्वसादृश्यात् बहिर्जगत् को भी अवश्य अवश्य किसी न किसी के ज्ञान ही से बना हुआ मानना पड़ेगा। अर्ब-खर्ब जीवों के अर्ब-खर्ब अन्तर्जगत् जब ज्ञानमय हैं तो फिर जगत्त्वसादृश्यात् बहिर्जगत् को ज्ञान की लाइन से हर्गिज हर्गिज नहीं हटाया जा सकता। अन्तर्जगद्वत् बहिर्जगत् ज्ञान से विभिन्न हो ही नहीं सकता। अन्तर्जगद्वत् अवश्य ही बहिर्जगत् भी जगत्त्वसादृश्यात् किसी के ज्ञान से ही बना हुआ मानना पड़ेगा। बस, जिसके ज्ञान से यह बहिर्जगत् बना है-उसे ही हम 'ईश्वर' कहते हैं। अन्तर्जगत् का निर्म्माता जीव है, बहिर्जगत् का निर्म्माता ईश्वर है। केवल एक बात और कहकर आपसे छुट्टी लेते हैं।

आपने कहा था कि एक ज्ञान में विविध विषय भासित होते हैं, अत: विषय और ज्ञान सर्वथा पृथक् वस्तु हैं। ज्ञान एक है एवं विषय नाना हैं। इन दोनों का योग कैसा? युद्ध में पिता-पुत्र का मेल कैसा? इसका एक उत्तर तो विवर्त्तवाद से दे चुके। अब हम आपको इसका प्रत्यक्ष ही करवाते हैं और बतलाते हैं कि एक ही ज्ञान नानाभाव में कैसे परिणत हो जाता है? जाग्रत्-अवस्था को छोडिए क्योंकि उसमें तो आपके और हमारे दोनों में विवाद है। विचार कीजिए-स्वप्नावस्था का। स्वप्नावस्था में केवल जीवज्ञान ही हाथी-घोड़ा-मकान-फौज-शत्रु-मैदान-इत्यादि इत्यादि नाना पदार्थों का निर्म्माण कर डालता है। ज्ञान ही सब कुछ बना हुआ है। ज्ञान ही नाना भावों में परिणत हो रहा है। सिवाय ज्ञान के उस समय और है ही क्या? कदाचित् कहो कि जाग्रत्-अवस्था में जिन पदार्थों का वासनासंस्कार जीव में हो गया है-वे ही स्वप्न में उद्बुद्ध हो पड़ते हैं-इसीलिए दृष्ट पदार्थ का सपना आया करता है-ऐसी हालत में ज्ञान ही स्वप्नसृष्टि बनाता है-यह बात क्योंकर सिद्ध हो सकती है-हम कहते हैं-अवश्य आपका कहना सच है। वासना ही स्वप्न का कारण है। परन्तु कृपाकर यह तो बतलाइए कि यह वासना क्या चीज है? वासना भी ज्ञानस्वरूपा ही तो है। सचमुच में घोड़ा आकर उस वासना में थोड़ा ही बैठ जाता है-यदि ऐसा हो तो हम घोड़े के बोझ से ही दब जाएँ। इससे मानना पड़ता है कि वासना भी ज्ञानात्मिका है, ज्ञानमयी है। इस प्रकार जैसे तो बस, से स्वप्न में ज्ञान ही नाना पदार्थों को उत्पन्न कर देता है, फिर भी ज्ञान एक ही रहता है-तद्वत् जाग्रत्-अवस्था में भी वही ज्ञान वृत्तिरूप से अन्तर्जगत् में परिणत होता हुआ नानाभावों में परिणत हो जाता है। इससे ज्ञान और विषय पृथक् हैं-यह बात क्योंकर बतलाई जा सकती है? हम हजार काम करते हैं-इसलिए हम हजार हो गए-यह बात सिवाय प्रलापी के और कौन कह सकता है? बस, इसी प्रकार से विवर्त्ततया नानात्व हो जाने पर ज्ञान और विषय को पृथक्-पृथक् बतलाना-ज्ञान से विषय को विजातीय बतलाना सिवाय प्रलाप के और कुछ नहीं कहा जा सकता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है--

"ज्ञानैकतायां यदनेकतेयं जगत्तदाहुः स हि तद्विवर्तः।
अन्तर्जगद्वच्च बहिर्जगत्तज्ज्ञानाद्विभिन्नं न कदाचिदस्ति" ॥२११॥

इस ज्ञान ही के घट-पट-वस्त्र–इत्यादि कर्म्म हैं। चूंकि वृत्तिभेद से कर्म्म भिन्न-भिन्न हैं, अतएव इन कर्म्मों में अपने-अपने भिन्न-भिन्न रूप हैं एवं रूपों के साथ ही इनके नाम भी मैं भिन्न-भिन्न ही देखता हूँ। ज्ञान से बनी हुई एक लकड़ी है। अब उसमें अग्नि का सम्बन्ध किया जाता है। अग्नि का सम्बन्ध होते ही लकड़ी में दाह कर्म्म उत्पन्न हो जाता है एवं पीले से उसका स्वरूप लाल (अङ्गारा) हो जाता है एवं नाम ज्वाला हो जाता है। जले बाद उसका नाम हो जाता है–कोयला। रूप हो जाता है–काला। बाद में और भी अग्निसम्बन्ध से नाम उसका हो जाता है–भस्म। रूप हो जाता है–सफेद। तात्पर्य्य यही है कि ज्ञान के कर्म्म, रूप और नाम प्रति पदार्थ में भिन्न-भिन्न हैं। नाम-रूप और कर्म्म–ये ही तो ज्ञान का स्वरूप है। ज्ञान धर्म्मी है–नाम-रूप-कर्म्म धर्म्म हैं। विना धर्म्म के चूँकि धर्म्मी एक सैकिण्ड भी अपनी स्थिति नहीं रख सकता है एवं नाम-रूप-कर्म्म हैं–धर्म्म, बस, इसीलिए हम ज्ञान और विषय को अभिन्न कहने के लिए तय्यार हैं। अग्नि धर्म्मी है एवं ताप उसका धर्म्म है। सूर्य्य धर्म्मी है एवं प्रकाश उसका धर्म्म है। विना ताप के अग्नि की सत्ता एक मिनिट भी नहीं रह सकती। विना प्रकाश के सूर्य्य कोई वस्तु ही नहीं है-बस, ठीक इसी प्रकार से विना नाम-रूप-कर्म्म के ज्ञान कोई वस्तु ही नहीं है। जब तक नाम-रूप-कर्म्म हैं–तभी तक ज्ञान का ज्ञान है। यदि नाम-रूप-कर्म्म (विषय) नहीं हैं तो ज्ञान का ज्ञान ही नहीं है। वृक्षों की समष्टि का नाम ही 'वन' है। यदि सारे वृक्ष काट दिए जाएँ तो वन कोई चीज ही न रहे-बस, ठीक इसी प्रकार नाम-रूप-कर्म्म ये तीनों धर्म्म ही ज्ञान है।

एक वन में जैसे वृक्ष नये-नये उत्पन्न होते रहते हैं एवं नष्ट होते रहते हैं, इस ज्ञान में ज्ञान से नये-नये नामरूपकर्म्मात्मक विषय उत्पन्न होते रहते हैं एवं उसी में विलीन होते रहते हैं। जब तक विषय वृत्तिरूप से ज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित रहते हैं, तब तक वे 'विषय' उस भिन्न नाम से व्यवहृत होते हैं, परन्तु जब प्रतिसञ्चरक्रम से विषय उसमें (ज्ञान में) लीन हो जाते हैं–तो उनका नाम-रूप-कर्म्म हट जाता है एवं ज्ञान ही कहलाने लगते हैं। इसी अभिप्राय से तो श्रुति कहती है—

'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति'॥[1]

उसी समुद्र से निकलने वाला पानी 'नदी' कहलाता है, परन्तु जब वह वापस उस समुद्र में विलीन हो जाता है तो उसका 'नदी' यह नाम एवं क्षुद्रस्वरूप रूप टूट जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्"॥[2]

१–मुण्डकोप० ३।२।७। २–मुण्डकोप० ३।२।८।

भला, ऐसे नामरूपात्मक जगत् को जो कि ज्ञान से उत्पन्न हुआ है एवं ज्ञानस्वरूप है-क्योंकर मिथ्या बतलाया जा सकता है ? एक ही ज्ञान सञ्चरक्रम में नाम-रूप-कर्म्म तीनों में परिणत हो रहा है एवं प्रतिसञ्चरक्रम में नाम-रूप-कर्म तीनों एक बन जाते हैं। बस, सृष्टिसाक्षी एवं मुक्तिसाक्षी बल से एक तीन बन जाता है-तीनों एक बन जाते हैं। तीनों एक वस्तु हैं। नामरूपकर्म तीनों ज्ञान हैं-ज्ञान सत्य है-इसलिए नामरूपात्मक विषय भी सत्य हैं। तर्क से, अनुभव से हम विषय को ज्ञानस्वरूप बतला चुके अब—

"यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि" ।।[1]

भगवान् के इस उपदेश के अनुसार पूर्वोक्त नामरूपकर्म्मात्मिक विषय के सत्यत्व में प्रमाण बतला देते हैं। श्रुति कहती है—

"त्रयं वाऽइदं नाम रूपं कर्म । तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्त्येतदेषां सामैतद्धि सर्वैर्नामभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ।।१।।

अथ रूपाणाम् । चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषां सामैतद्धि सर्वै रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ।।२।।

अथ कर्मणाम् । आत्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषां सामैतद्धि सर्वैः कर्मभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति तदेतत्त्रयं सदेकमयमात्माऽऽत्मोऽएकः सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतं सत्येन च्छन्नं प्राणो वाऽअमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः" ।।३।।[2]

भला, नामरूपकर्म्मात्मक विषय की सत्यता में इससे अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है ? जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

१-गीता १६।२३-२४ । २-शत० ब्रा० १४।४।४।१-३ ।

"ज्ञानस्य कर्माणि ततोऽत्र रूपाण्येषां च नामानि पृथक् प्रतीमः ।
उन्मुच्य धर्मान्न कदापि धर्मी संभाव्यते तेन तदेकमस्ति" ।।२१२।।

आत्मा को-ज्ञान को द्रव्यशब्द से कहा जाता है। आत्मा द्रव्य है। गुणसमष्टि का नाम ही आपके मत में द्रव्य का लक्षण है। **'गुणकूटो द्रव्यम्'**-यह आप ही का मत है। बात बिलकुल यथार्थ है-गुण और कर्म्म की समष्टि के अलावा और द्रव्य पदार्थ है ही क्या? गुणकर्म्म की समष्टि को ही द्रव्य कहते हैं एवं द्रव्य ही को आत्मा कहते हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि आप कर्म्म और गुणों को मिथ्या मानेंगे तो द्रव्य पहले मिथ्या होगा। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-इत्यादि इत्यादि २४ गुण हैं एवं उत्क्षेपणादि कर्म्म हैं। द्रव्य में रूपादि के अलावा और है ही क्या? यदि रूपादि मिथ्या है तो द्रव्य अवश्यमेव मिथ्या मानना पड़ेगा। द्रव्य सत्यस्वरूप है और गुणकर्म्म मिथ्या हैं-यह बोलना वदतोव्याघात करना है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"कर्म्माणि यावच्च गुणाश्च यावत् द्रव्यं च तावन्न विविच्य तत् स्यात् ।
चेन्मन्यसे कर्म्मगुणांस्तु मिथ्या द्रव्यं च मिथ्या ध्रुवमेव तत्स्यात्" ।।२१३।।

बस, ठीक इसी प्रकार से नाम-रूप और कर्म्म इससे अलावा ज्ञान का स्वरूप कुछ बचता ही नहीं है। नाम-रूप और कर्म-इन तीनों की समष्टि का नाम ही तो ज्ञान है। वृक्षसमष्टि का नाम ही तो 'वन' है। यदि वृक्षों को उखाड़कर फेंक दिया जाएगा-वृक्ष किसी काम की वस्तु न समझी जाएगी तो 'वन' जी पहले नेस्तनाबूद होंगे। बस, यदि नाम-रूप-कर्म्म नहीं रहेंगे एवं ये मिथ्या होंगे तो फिर ज्ञान की सत्यता तो पहले ही से कट जाएगी। बस, इसीलिए हम नामरूपकर्म्मात्मक जगत् और ज्ञान दोनों को एक चीज कहने के लिए तय्यार हैं। वह एक ही तत्त्व इस बहिर्जगत् में परिणत हो रहा है। सारा बहिर्जगत् ईश्वर के ज्ञान से बना हुआ है। जगत्विशिष्ट उस युनिवर्सल नॉलेज को-सारी ज्ञानसमष्टि को ही हम 'ईश्वर' कहते हैं। उसी ईश्वर के ज्ञान की चिनगारियाँ जीव हैं एवं सारे जीवजगत् जीव के ज्ञान से बने हुए हैं। **'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभेद'**:-यह एक नियम है।

ईश्वर ज्ञानस्वरूप है एवं उसका जगत् उसके ज्ञान से बना हुआ है, अतः वह भी ज्ञानस्वरूप ही है। तो वह (तत्-जगत्) उस ईश्वरज्ञान से अभिन्न है-उस ईश्वरज्ञान से हम अभिन्न हैं, अतएव उसके साथ बहिर्जगत् के साथ हमारा अभेद है। एवमेव हम (तत्) उस ईश्वर से अभिन्न हैं एवं उस ईश्वर से अभिन्न उसका बहिर्जगत् है-उसके साथ मेरा अभेद है। तात्पर्य्य यही है कि उस व्यापक ज्ञान के पेट में ही ज्ञानीय बहिर्जगत् जीव एवं जीव के अन्तर्जगत् समा रहे हैं। सारा प्रपञ्च ज्ञानमय ही है। सारे विषय ज्ञानमय हैं-सत्य हैं एवं वह ज्ञान है-एक, अतएव हम **'विषयाणां ज्ञानात्मकत्वात्-एकसत्तावादः'** का घण्टाघोष अवश्य ही कर सकते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है।

"तथैव तन्नाम च कर्म्मरूपं ज्ञानात् पृथङ् नास्ति तदेकमेतत् ।
तदेकतत्त्वं जगदस्ति सर्वं स ईश्वरः सोऽहमिमे च सर्वे" ।।२१४।।

वादी फिर प्रश्न करता है कि क्या करें-तबियत नहीं मानती। ज्ञान और विषय को एक चीज न मानने के लिए दिल मजबूर है। हम कहते हैं-भाई! इस नानात्व को देखकर के तुम घबड़ाते क्यों हो? यह नानात्व तो उस ज्ञान का स्वरूप ही है। नाम-रूप-कर्म्म तो उस ज्ञानब्रह्म का शरीर है। विना शरीर के क्या कभी आत्मा रह सकता है? ज्ञान एक है-वृत्तियाँ नाना हैं। इसमें घबड़ाने की कौनसी बात है? अच्छा यों नहीं समझते हो तो दृष्टान्त से समझो। समुद्र के जल पर ध्यान दो। तुम्हें मालूम होगा कि समुद्र के पानी में नाना तरंगें उठ रही हैं। अनन्तानन्त वीचिएँ वायु के झोके से इधर से उधर, उधर से इधर कल्लोलें कर रही हैं। आप उस वीचिसमूह को क्या कहेंगे? आप उत्तर देते हैं-'लहर', 'पानी में लहर है'-वीचिसमूह को देखकर आप यही तो कहेंगे। बस, अब आपका समाधान हो गया। देखिए लहर एक है-परन्तु वीचिएँ अनन्त हैं। अच्छा जरा वीचिसमूह को निकाल दीजिए-फिर 'लहर' बचती है क्या? हर्गिज नहीं-मुतलक नहीं। वीचि ही उस एक लहर का स्वरूप है। वृक्ष ही उस एक वन का स्वरूप है। एक एक वीचि को कम करते जाइए-जब सारी वीचिएँ समाप्त हो जाएँगी-लहर जी उसी समय लापता हो जाएँगे। एक एक वृक्ष को काटते चले जाइए जहाँ सारे वृक्ष कटे कि 'वन' जी गायब हुए।

बस, ठीक वही बात ज्ञान और विषय में समझिए। अनन्तानन्त नाम-रूप-कर्म्म से 'ज्ञान इस एक पदार्थ की प्रतीति हो रही है। यदि नामरूपकर्म्मसमष्टि को निकाल दोगे तो लहर एवं वन की तरह 'ज्ञान' जी उसी समय गायब हो जायेंगे।

अपि च-ध्यान दीजिए एक चित्रवस्त्र पर। एक वस्त्र १० रंगो से रंगा हुआ है-उसे ही आप 'चित्र'वस्त्र कहते हैं। चित्र एक वस्तु है, परन्तु उस चित्र में ५० रंग है। अब आप एक एक रंग को हटाते चले जाइए-जहाँ सारी रंगसमष्टि को आपने हटाया नहीं कि 'चित्र'-स्वरूपएकत्वभाव हटा नहीं। तो जैसे लोक में अन्तर्द्वैतवान् अद्वैत प्रसिद्ध है-बस, वैसे ही ज्ञान को भी अन्तर्द्वैतवान् अद्वैत समझना चाहिए। ज्ञान और विषय का भेदसहिष्णु अभेद है। सूर्य्य की प्रतिरश्मि भिन्न-भिन्न है, परन्तु सूर्य्य के साथ सारी रश्मियाँ अभिन्न हैं। बस, यही बात ज्ञान और विषय में समझनी चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यदत्र नानात्वमिदं तु तस्य स्वरूपमेवास्ति तदस्य कर्म्म।
वीचिर्जले वाससि चित्रवर्णोऽन्तर्द्वैतवानद्वयवत् प्रसिद्धः" ॥२१५॥

वादी पूर्वपक्ष करता है कि अच्छा बाबा! हमने तुम्हारा कहना माना, परन्तु तुम्हारे इस मत में जो श्रुतिविरोध आता है-उसे कैसे हटाओगे? श्रुति ब्रह्म के लिए कहती है-'**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**'। संसार में भेद निम्नलिखित कुल तीन ही प्रकार का होता है। १-सजातीय, २-विजातीय, ३-स्वगत। यदि भेद हो सकता है-तो तीन ही प्रकार का हो सकता है। विश्व के यच्चयावत् पदार्थों में इन तीन भेदों के अतिरिक्त आप चौथा भेद नहीं बतला सकते। कल्पना कर लीजिए-५० वृक्ष तो आम के हैं, ५० ही जामून के हैं एवं ५० ही नारङ्गी के हैं। इन ५० आम के वृक्षों में जो परस्पर भेद है-वह

सजातीय भेद कहलाता है। आम के पचासों वृक्ष एक जाति के हैं, परन्तु एक से एक भिन्न हैं। यह भेद सजातीय भेद कहलाता है। परन्तु जामून और नारङ्गी के साथ आम के वृक्षों का विजातीय भेद है। आम विभिन्न सजातीय वृक्ष हैं–नारङ्गी–जामून विभिन्न जातीय भेद है। एवमेव परन्तु आम के वृक्ष में भी उसकी टहनी अलग है–शाखा अलग हैं–पत्ते अलग हैं–पत्तों में बीच का मेरुदण्ड अलग है–शाखाओं में भी प्रशाखाएँ अलग हैं–बस, इसी भेद को स्वगतभेद कहते हैं।

दो घड़े और एक पीतल की अमरती रखी हुई है। इस घड़ों का और अमरती का जो भेद है–वह विजातीय भेद है। घड़ों में जो परस्पर भेद है–वह सजातीय भेद है एवं घड़े का पैन्दा अलग है–कम्बु-ग्रीवादि अलग-अलग हैं-यह जो भेद है–वह स्वगतभेद है। हमारा और अन्य मनुष्यों का जो भेद है–वह सजातीय भेद है एवं गाय-बैल का और हमारा विजातीय भेद है एवं कान-नाक-आँख-मुँह-नसें-हड्डियाँ-फसलियाँ–इनका और मेरा स्वगतभेद है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि भेद कुल तीन ही प्रकार का हो सकता है। ऐसी हालत में यद्यपि **'अद्वितीयं ब्रह्म'**–इस अद्वितीय पद से ही भेदवाद का खण्डन हो सकता था, परन्तु कोई स्वगत एवं सजातीय भेद भी ब्रह्म में न समझ बैठे–इसीलिए सजातीय-विजातीय-स्वगत–इन तीनों भेदों की व्यावृत्ति के लिए 'एकम्, एव, अद्वितीयम्,' ब्रह्म–यह कहा गया है। 'एकम्' से विजातीय भेद की वृत्ति सूचित की जाती है, 'अद्वितीयम्' से सजातीय भेद को हटाया जाता है एवं 'एव' पद से स्वगत भेद की व्यावृत्ति बतलाई जाती है।

ब्रह्म एक है–यदि इससे दूसरी कोई वस्तु होती तो विजातीय भेद हो सकता था। ब्रह्म से विजातीय तो क्या सजातीय भी कोई दूसरा ब्रह्म नहीं है–जिससे कि उसके साथ इस ब्रह्म का सजातीय भेद बने। इतना ही नहीं कान-नाक-मुँह की तरह वह अद्वितीय ब्रह्म सखण्ड (सकाम) भी नहीं है–जिससे कि उसमें स्वगतभेद बतला जाए। वह तो अखण्ड है–अद्वितीय है–एक है।

वादी कहता है कि जो विषयों को सर्वथा मायिक मिथ्या बतलाते हैं–उनके मत में (शङ्कराचार्य के मत में) तो **'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'**–इस श्रुति का समन्वय हो जाता है, परन्तु जिनके मत में ज्ञानवत् नामरूपकर्म्मात्मक जगत् सत्यस्वरूप है–उनके मत में इस श्रुति का समन्वय कथमपि नहीं हो सकता। हमने माना कि उन सत्यता वादियों के मत में सजातीय और विजातीय भेद तो नहीं होगा, परन्तु स्वगत भेद का क्या इलाज करेंगे? जबकि उस ब्रह्म की नाम-रूप और कर्म्म ये तीन कला मानली–तीन खण्ड मान लिए गए तो फिर क्योंकर उनके मत में ब्रह्म को स्वगतभेद शून्य बतलाया जा सकेगा? अतः श्रुतिसमन्वय करने के लिए उन्हें अवश्य ही जगत् को 'मिथ्या' मानना चाहिए।

इस पूर्वपक्ष का उत्तर हम एक प्रकार से दे चुके, परन्तु वादी जी अभी उसे नहीं समझे। इस-लिए अभी उसी बेसुरी राग का आलाप कर रहे हैं। हम नहीं समझें कि द्वैत और अद्वैत की उन महाशयों ने क्या परिभाषा बना रखी है। यदि द्वैत-अद्वैत का यथार्थस्वरूप उन्होंने समझ लिया होता तो सन्देह का ही मौका ही नहीं आता। खैर, अब तक नहीं समझा है तो अब समझ लीजिए–जिससे कि आपका सन्देह दूर हो जाए।

घट दो हैं-तभी हम दो सत्ता मानने के लिए तय्यार हैं। जहाँ दो अस्ति होती हैं-वह सत्ता-द्वैत माना जा सकता है। परन्तु जहाँ एक ही 'अस्ति' है-सत्ता एक ही है-वहाँ भले ही १० हजार वस्तु और क्यों न हों-अद्वैत ही का व्यवहार होगा। अन्य सत्ता से ही मैं द्वैत मानता हूँ। जहाँ सत्ता एक है-चाहे फिर उसमें बहुत से ही पदार्थ क्यों न हों-मैं उसे एक ही कहूँगा। मेरे खयाल से वह अभिन्न ही वस्तु है। ऐसी हालत में 'अद्वैत' का बाध क्योंकर हो सकता है? अब भी बात समझ में न आई हो तो दृष्टान्त द्वारा समझ लीजिए-एक मनुष्य ने अपने माथे पर पगड़ी बाँध रखी है। हम आपसे पूछते हैं कि उसके मस्तक पर एक वस्तु है-अथवा दो। आप कहेंगे कैसा बेहूदा प्रश्न है? अरे भाई! एक पगड़ी है-क्या तुम्हें इतना भी नहीं दीखता? बस, हमारा काम हो गया-अब हम आपसे पूछते हैं कि द्वैत का जैसा स्वरूप आपने समझ रखा है-उसके अनुसार तो इसके मस्तक पर १० चीजों का व्यवहार समझना चाहिए। क्योंकि पगड़ी किसी लीर की बनी हुई है, अतः लीर भी इसमें मौजूद है। लीर किसी वस्त्र से चीरी गई थी, अतः वस्त्र भी इस पगड़ी में मौजूद है। वस्त्र तन्तु से बना था, अतः तन्तु भी इसमें है। तन्तु रूई से बना था-इसलिए रूई भी इसमें है। रूई कपास से बनी थी इसलिए कपास भी इसमें है। कपास उस वृक्ष से बना था, अतः वह वृक्ष भी इसमें है-वृक्ष मिट्टी से बना था-इसलिए इस पगड़ी में मिट्टी भी है। मिट्टी पानी से बनी थी-इसलिए पानी भी इसमें है-पानी अग्नि से बना था-इसलिए अग्नि भी इसमें है। अग्नि वायु से उत्पन्न हुआ था-इसलिए इसमें वायु भी है-वायु आकाश से उत्पन्न हुआ था-इसलिए इसमें आकाश भी है। आकाश प्राण से उत्पन्न हुआ था-इसलिए प्राण भी इसमें है-प्राण मन से उत्पन्न हुआ था-वह भी इसमें है। गरज यह है कि आपके मतानुसार इस पगड़ी में लीर-वस्त्र-तन्तु-रूईकपास-वृक्ष-मिट्टी-जल-तेज-वायु-आकाश-प्राण और मन-इन सबकी अलग-अलग सत्ता मौजूद है एवं आपके अनुसार इन सब शब्दों से इस पगड़ी को व्यवहार में लाया जा सकता है। पगड़ी के लिए आपके मतानुसार लीर लाओ, मिट्टी लाओ, जल लाओ-सब कुछ कह सकते हैं। परन्तु न तो आज तक ऐसे पागलपने का व्यवहार किसी ने किया एवं न आगे करने की आशा है। आप ही की कृपा से हमें द्वैत का यह लक्षण सुनना पड़ा है। बस, इसलिए आपको मानना चाहिए कि चाहे हजार वस्तु हों-यदि सत्ता एक है तो यहाँ अद्वैत व्यवहार अवश्य होगा ही। उसी मन की सत्ता को लेकर उत्तरोत्तर के प्राण आकाशादि पदार्थ सत्तावान् कहलाते हैं-सबकी सत्ता एक है। इसलिए सर पर रखे हुए मनप्राणाकाशादि अनन्तानन्त पदार्थों की समष्टि को भी-'एक पगड़ी है'-इस प्रकार एकत्वेन अद्वैतत्वेन ही व्यवहृत किया जाता है। बस, इसी प्रकार से नाम-रूप-कर्म्मात्मक सारे विषय उस ज्ञानसत्ता से ही सत्तावान् हैं। उनकी पृथक् सत्ता नहीं है-इसलिए ज्ञान के ब्रह्म के नाम-रूपकर्म्मात्मक रहने पर भी **'अद्वैतत्व'** में कोई बाधा नहीं आती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"द्वैतं तु सत्तान्यतयैव मन्ये सत्तैकतायां बहु चैकमस्ति।
उष्णीषबन्धाम्बरतन्तुतूलानैक्येऽपि मूर्ध्न्येक इवायमर्थः" ॥२१६॥

हमने बतलाया है कि ज्ञान और विषय दोनों ज्ञान हैं। अर्थात् ज्ञान तो ज्ञान है ही, परन्तु इसमे उत्पन्न होने वाला विषय भी ज्ञान ही है। हीरा तो हीरा है ही–मगर हीरे के खण्ड भी हीरे ही हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि सब कुछ ज्ञान ही ज्ञान है। ज्ञान ही को सत्ता कहते हैं। ज्ञान के ग्राहक और ग्राह्य ये दो पार्ट बतलाए हैं। कन्दलस्थ चितिपूर्वक जो ज्ञान चारों ओर फैलता हुआ निकलता है–वह ज्ञान तो ग्राहक है एवं वृत्तिस्वरूप से जो ज्ञान नानरूपकर्म्मात्मक विषयस्वरूप में परिणत हो गया है–वह ज्ञान ग्राह्य है। उस ग्राह्य को-नामरूपकर्म्मात्मक ज्ञान ही को 'सत्ता' कहते हैं। सत्ता ज्ञान से अतिरिक्त वस्तु हर्गिज नहीं है। ज्ञान ही सत्ता है। ज्ञान सत्ता से भिन्न नहीं है–सत्ता ज्ञान से भिन्न नहीं है। ज्ञान की सत्ता कभी ज्ञान से भिन्न होती ही नहीं है। हो कैसे ? ज्ञान ही तो ग्राह्यत्वेन सत्तारूप में परिणत होता है। इस प्रकार से जबकि ज्ञान ही सत्ता है एव ज्ञान का ही स्वरूप यह सारा जगत् है अर्थात्–नानरूपकर्म्मात्मक सारा जगत् ज्ञान ही से बना हुआ है; बस, इसलिए इस सम्पूर्ण जगत् की सत्ता और इसके उपादानभूत ज्ञान की सत्ता परस्पर भिन्न नहीं हो सकती है। ज्ञान ही को सत्ता कहते हैं–सारा जगत् ज्ञानस्वरूप ही है– ऐसी हालत में दो सत्ता क्योंकर हो सकती हैं ? जबकि सत्ता एक है तो फिर ,स्वगतभेद की कथा ही क्या है ? सत्तैक्य में अद्वैत का बाध क्योंकर हो सकता है ? ब्रह्म को सच्चिदानन्द' कहा जाता है। जो ज्ञान का कन्दल है–वही आनन्द है–जो ज्ञान रश्मिरूप से बाहर निकलता है–वही चित् है–और जो ज्ञान वृत्तिरूप से–नामरूपकर्म्मात्मक विषयभेद से ग्राह्यता में परिणत होता है–वही सत् है। कहने को तीन हैं–वास्तव में तीनों एक हैं। सच्चिदानन्द भगवान् अखण्ड है, अद्वितीय है–एक है–अतएव सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदशून्य है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्ञानं हि सत्ता न तदस्ति भिन्नं ज्ञानस्य सर्वं जगदस्ति रूपम् ।
कृत्स्नस्य तस्माज्जगतोऽस्य सत्ता ज्ञानस्य सत्तैव न भिद्यते सा" ॥२१७॥

हमारा (जीव का) जो ज्ञान है–उसे हम प्रतिरूपशिल्प और अपूर्वशिल्प दो प्रकार का कहने के लिए तय्यार हैं। अपूर्वशिल्प को हमारा ज्ञान विना बहिर्जगत् की सहायता के सहसा बना डालता है। जो रेलगाड़ी–जो बेलून–जो जहाज–जो फोनोग्राफ–जो तार–जो वायरलेस पृथिवीमण्डल भर में कहीं न था उसी को इस जीव के ज्ञान ने बना डाला। क्यों न बनावे ? आखिर यह जीव भी तो ईश्वर ही का अंश है। उसी के ज्ञान की तो चिनगारी है। अग्नि का पुञ्ज यदि सारे ग्राम को जला सकता है तो एक चिनगारी भी थोड़े बहुत तृणसमूह के लिए तो काफी है ही है। तो बस, जो नया आविष्कार है–जिसे कि जीवज्ञान ने निर्म्मित कर बहिर्जगत् में स्थापित किया है–वही 'अपूर्वशिल्प' कहलाता है।

इस प्रकार से यह जीवज्ञान अकस्मात् अपूर्वरूपों को अर्थात् नयी वस्तुओं को उत्पन्न कर डालता है। परन्तु प्रतिरूपशिल्प में जैसे स्वरूप बहिर्जगत् में हैं–उन्हीं का ग्रहण करता है। पहले हाथी की तस्वीर अपने में उतारना बाद में उसी के माफिक मिट्टी का-पाषाण का अथवा और किसी अन्य धातु का वैसे का वैसा ही हाथी बना डालना प्रतिरूपशिल्प कहलाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अपूर्वशिल्पे प्रतिरूपशिल्पे ज्ञानस्वभावो द्विविधः प्रतीतः ।
अपूर्वरूपाणि करोत्यकस्माद् गृह्णाति रूपाणि यथास्थितानि" ॥२१८॥

ईश्वर ज्ञान से बना हुआ जो बहिर्जगत् है-उससे मिलकर जैसे हमारा ज्ञान उसी के माफिक वस्तु बना डालता है-तद्वत् उस बहिर्जगत् से भिन्न भी नये स्वरूप भी (रेल-तार वगैरह नये आविष्कार) बना डालता है। बस, बहिर्जगत् के आधार से जो कुछ नयी वस्तु बनाता है-वह प्रतिरूपशिल्प कहलाता है एवं अपने ज्ञान से विना बहिर्जगत् के आधार पर जो वस्तु बनाता है-वह अपूर्वशिल्प कहलाता है। परन्तु वास्तव में यदि देखा जाए तो इन दोनों प्रकार के शिल्पों में बहिर्जगत् की ही प्रधानतया अपेक्षा है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यदीश्वरज्ञानमनेन क्लृप्तं बहिर्जगत् तेन च संयुतं नः ।
ज्ञानं तथा रूपमुदेति तद्वद्भिन्नं क्वचित्कल्पयते स्वरूपम्" ॥२१९॥

ज्ञान ही से जगत् बनता है-यह बात अवश्य है, परन्तु जैसे तृण (घास) से दूध का रूप बनता है-लोहे से जैसे जंग उत्पन्न होता है, तद्वत् ज्ञान से जगत् उत्पन्न नहीं होता अर्थात्-विकारभाव को प्राप्त नहीं होता। तृण विकृत होकर दूध बन जाता है-जगत् और ज्ञान में ऐसा कार्य्य-कारणभाव नहीं है। अपितु, जैसे समुद्र से उत्पन्न लहरें इधर-उधर समुद्र के ऊपर नाचा करती हैं-बस, उसी प्रकार से ज्ञान से उत्पन्न ज्ञानजगत् ज्ञान पर लहरों के माफिक नाचा करता है। लहरें समुद्र से ही उत्पन्न हुई हैं, परन्तु समुद्र का पानी विकृत होकर लहर में परिणत नहीं हुआ है। जैसा स्वच्छ पानी समुद्र में है-वैसा ही तरङ्गों में है। बस, ठीक इसी प्रकार से ज्ञान से उत्पन्न जगत् भी ज्ञान के तुल्य ही समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

तृणं यथा रूपमुपैति दुग्धं ज्ञानं तथा नैति विकारभावम् ।
यथा समुद्रे बहवस्तरङ्गा नानाविधास्तद्वदिदं जगत् स्यात्" ॥२२०॥

जो कि ईश्वर ज्ञानमय है-उसमें जैसे बहिर्जगत् रहता है-तद्वत् उसी में सारे जीव रहते हैं। अर्थात् जैसे बहिर्जगत् ज्ञानमय है, तद्वत् हम (जीव) भी उसी के ज्ञान के पेट में पड़े हुए हैं अर्थात्-बहिर्जगद्वत् हम भी ज्ञानस्वरूप ही हैं एवं प्रत्येक जीव में जो फिर एक अन्तर्जगत् होता है-वह भी ज्ञानमय ही है। इस प्रकार से ईश्वर, बहिर्जगत्, जीव, अन्तर्जगत् चारों ज्ञानस्वरूप ही हैं। ज्ञान एक है एवं ज्ञान ही को सत्ता कहते हैं, अतः हम '**विषयाणां ज्ञानात्मकत्वात्** 'एकसत्तावादः'-मानने के लिए अवश्य ही तय्यार हैं। हमारे खयाल से तीनों मतों में से यही मत अच्छा है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

य ईश्वरो ज्ञानमयोऽस्ति तस्मिन् बहिर्जगन्तीव भवन्ति जीवाः ।
प्रत्येकजीवे च पुनर्जगत्स्यादिति द्वितीयं मतमस्ति साधु" ॥२२१॥

॥इति विषयाणां ज्ञानात्मकत्वादेकसत्तावादः॥

—※—

विषयाणां ज्ञानातिरिक्तत्वात् पृथक्सत्तावादः ॥३॥

विषयों के ज्ञान से पृथक् होने के कारण पृथक्सत्तावाद

इस प्रकार से कई 'विषयाणां मिथ्यात्वादेकसत्तावादः' मानते हैं, कई-'विषयाणां ज्ञानात्मकत्वादेकसत्तावादः' मानते हैं । परन्तु कई दार्शनिकों का इस विषय में तीसरा ही सिद्धान्त है । उनका कहना है कि विषय का और ज्ञान का जो आप ऐक्य बतलाते हैं-विषयों को ज्ञानस्वरूपयुक्त बतलाते हैं-वास्तव में यह बात सर्वथा गलत है । हमारे खयाल से ईश्वर बिलकुल जुदी चीज है, जीव ईश्वर से सर्वथा भिन्न है एवं जगत् इन दोनों ही से निराली वस्तु है । एक का दूसरे के साथ सिवाय भिन्नसत्ताक आधाराधेयभाव के कोई सम्बन्ध नहीं है । बात सच है-ज्ञान और विषय एक कैसे हो सकते हैं-जबकि हम विषय को 'ज्ञान में' देखते हैं । विषय चूंकि ज्ञान में दीखता है-इसीलिए हम ज्ञान और विषय को सर्वथा पृथक् कहने के लिए तय्यार हैं । 'सांख्यकारिका' के रचयिता ईश्वरकृष्ण अपनी सांख्यकारिका में विषयों का प्रत्यक्ष किन किन कारणों से नहीं होता-यह बतलाने के लिए कहते हैं—

"अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च" ॥[1]

हमारा इस समय और किसी हेतु से प्रयोजन नहीं है-केवल **'समानाभिहाराच्च'** से ही ताल्लुक है । **'समानाभिहारात्'** का तात्पर्य्य यही है कि यदि समानजातीय दो वस्तु परस्पर मिल जाती हैं तो उनमें भेदग्रह नहीं होता है । इसी का अर्थ 'चन्द्रिका टीका' के रचयिता नारायण स्वामी कहते हैं—

"समानाभिहारः समगुणानां मिश्रणं-यथामहिषादिदुग्धे पतितं गव्यदुग्धं न गृह्यते"-इति ॥

तात्पर्य्य इसका यही है कि दूध दूध समानजातीय पदार्थ हैं-इसलिए इनके मेल से भेदग्रह नहीं हुआ करता है ।

हमें प्रकृत में यही कहना है कि यदि विषय ज्ञानस्वरूप ही हैं-ज्ञान और विषय में समानाभिहार ही है-अर्थात् ज्ञान और विषय समानजातीय पदार्थ ही हैं तो फिर 'समानाभिहाराच्च' के अनुसार इन

१-सांख्यकारिका ७ ।

दोनों में भेद-प्रतीति कभी होनी ही नहीं चाहिए। समुद्र पानी से लबालब भरा हुआ है-उसमें यदि एक लोटा पानी का और डाल दिया जाता है-गङ्गा जल में यदि यमुना जल डाल दिया जाता है-तो वहाँ भेदग्रह सर्वथा नहीं होता है-बस, इसीलिए हम लोटे के पानी को और समुद्र के पानी को समानजातीय वस्तु कहने के लिए तय्यार हैं। परन्तु यदि एक रंग भरा लोटा समुद्र के पानी में हम डालते हैं तो वह रंग हमें उस पानी में अलग दिखलाई पड़ता है-इससे सिद्ध हो जाता है कि रंग अलग वस्तु है-और पानी अलग वस्तु है। इस प्रकार से जहाँ परस्पर भेद-प्रतीति होती है-वहाँ उन दोनों पदार्थों में विजातीयता मानी जाती है एवं जहाँ भेदग्रह नहीं होता है-वहाँ सजातीयता मानी जाती है। सजातीयता और विजातीयता की प्रतीति करवाने वाला तो भेदग्रह और अभेदग्रह ही है। हम देखते हैं कि हमारे ज्ञान में बैठा घड़ा भिन्न-रूप से बैठा रहता है। हम जब भी विषयों को ज्ञान में देखते हैं-ज्ञान से जुदा ही करके देखते हैं। यदि विषय भी ज्ञानस्वरूप ही होता तो जैसे लोटे का पानी समुद्र में गिरकर तद्रूप हीं हो जाता है-उसका भेदग्रह नहीं होता, तद्वत् ही यह विषय ज्ञान में कूदते ही ज्ञान-स्वरूप में परिणत हो जाता है। ज्ञान ज्ञान में डूबकर एक चीज बन जाता। परन्तु हम देखते हैं कि जैसे सूर्य्य के प्रकाश में घटपटादि अलग दिखलाई पड़ते हैं-तद्वत् ही ज्ञानप्रकाश में घटपटादि पृथक्रूप से दिखलाई देते हैं। अपि च-यदि विषय ज्ञानस्वरूप ही होते तो फिर कभी ज्ञान का प्रत्यक्ष ही नहीं होता। ज्ञान का प्रत्यक्ष इस विषय से ही होता है। घटपटादि विषय ही ज्ञान का ज्ञान करवाते हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि विषय ज्ञान से सर्वथा पृथक् वस्तु है। बस, इसीलिए मैं कह सकता हूँ कि ज्ञान भी सत्य है-जगत् भी सत्य है एवं जीव भी सत्य है तीनों की सत्ता सर्वथा पृथक्-पृथक् है। ऐसी हालत में एकसत्तावाद को क्योंकर माना जा सकता है? जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अथापरे प्राहुरिदं यदैक्यं प्रस्तूयते साधु न तत् प्रतीमः।
स ईश्वरो भिद्यत एव, जीवा भिन्ना, जगद्भिन्नमिति, त्रिसत्यम्" ॥२२२॥

ज्ञान प्रकाशस्वरूप है और विषय तमोवत् है। इन दोनों की परस्पर एकता हो ही कैसे सकती है? वादी प्रश्न करता है-जब विषयज्ञानवत् नहीं मानें एवं तमःस्वरूप मानें तो घट का ज्ञान ही कभी नहीं होगा। क्योंकि जहाँ ज्ञान प्रकाश हुआ कि विषयान्धकार दूर हुआ। ज्ञान में कभी विषय की प्रतीति ही नहीं होगी। परन्तु होती है-इसलिए मानना चाहिए कि विषय भी अवश्य ज्ञानस्वरूप ही है। इस प्रश्न के उत्तर में हमें यही कहना है कि यदि वास्तव में विषय आपकी समझ के अनुसार अन्धकारस्वरूप ही होता तो आपका प्रश्न ठीक हो सकता था। परन्तु हमने ज्ञान को तम नहीं बतलाया है-अपि तु, 'तमोवत्' बतलाया है। यहाँ पर तमोवत् से केवल प्रकाशाभाव का तात्पर्य्य है-न कि अज्योति का। पदार्थ चार प्रकार के होते हैं—१-स्वज्योति, २-परज्योति, ३-भूतज्योति, ४-अज्योति। सूर्य्यादि स्वज्योति पदार्थ हैं, चन्द्रमादि परज्योति हैं एवं पृथिवी आदि भू-ज्योति हैं एवं गन्धर्व-वायु-अन्धकार इत्यादि अज्योति पदार्थ हैं। प्रकृत में तमोवत् से भूतज्योति अभिप्रेत है-जिसे कि दूसरे शब्दों में पर-ज्योति भी कह सकते हैं। इसी भूतज्योति को-स्वज्योति को अभावात्मकतया तमोवत् कहा गया है।

यदि अज्योति ही ये पदार्थ होते तो इन्हें तमोवत् न कहकर 'तम'-स्वरूप ही कहा जाता । सूर्य्य ही से इस मृतज्योतिमय घटपटादि पार्थिव पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है । घटपटादि तमोवत् पदार्थ प्रकाश्य हैं एवं सौर प्रकाश प्रकाशक है । भला, इन परस्पर सर्वथा भिन्न पदार्थों का मेल कैसा ? मेल होता है-परन्तु एकीभाव नहीं है । विषय सारे यद्यपि इसी ज्ञान पर रहते हैं, परन्तु इनकी पृथक् सत्ता है । ज्ञान-स्वरूप ही यह विषय नहीं है । इस प्रकार से तमोवत् और प्रकाशस्वरूप विषय और विषयी में ऐकात्म्य नहीं हो सकता-यह पहला हेतु है । अपि च-हम ज्ञान को एकस्वरूप मानते हैं । इस एक ज्ञान में कभी घड़ा आता है-कभी हाथी आता है-कभी ऊँट आता है-कभी मकान आता है-इस प्रकार से समान ज्ञान में अर्थात् एकाकार ज्ञान में नानाभाव आते रहते हैं एवं जाते रहते हैं । ज्ञान एक प्रकार का स्वच्छ काच है-इस आदर्शवत् स्वच्छ स्थिर नित्य एवं एकाकार ज्ञान में सारे विषय सर्वथा पृथक्रूप से निहित रहते हैं । काच में जैसे हजारों तस्वीरें उतरती रहती हैं तद्वत् मेरे ज्ञान के काच में घटपटादि यच्चयावत्पदार्थों का फोटू खिचता रहता है एवं साथ ही में मिटता भी रहता है । बस, ज्ञान और विषय की पृथक् सत्ता में यह विषय का नानात्व और ज्ञान का समानत्व भी कारण है ।

अपि च-यदि हमारा ज्ञान ही विषयस्वरूप में परिणत होता तो हमें किसी के ढूंढने की जरूरत नहीं होती । यदि कोई हमसे पूछता है कि घड़ा कहाँ रखा है ? वह कहता है-जरा सोच लूं । आखिर थोड़ी देर में सोच-साचकर वह कहता है कि हाँ हाँ मिल गया-मिल गया-अच्छा देखो फलाने स्थान पर घड़ा रखा हुआ है । हम कहते हैं कि यदि वह घड़ा ज्ञान ही का बना हुआ होता तो ज्ञान-स्वरूप चूंकि हम हैं, अतः ज्ञान तो सदा हमारे पास रहता है-फिर ढूंढने की जरूरत ही क्या है ? यह तो हुई सत्तासिद्ध जगत् की बात-अब लीजिए अन्तर्जगत् की बात । जैसे बहिर्जगत् सत्तासिद्ध है, तद्वत् अन्तर्जगत् भी (बौद्ध जगत् भी) सत्तासिद्ध है । इसीलिए हमें यदि कोई त्रैराशिक का हिसाब पूछता है तो हम अपने ज्ञानीय जगत् में उसे टटोलते हैं । थोड़ी देर में टटोलते टटोलते हमारे मुंह से उसका उत्तर निकल पड़ता है । यदि नहीं निकलता है तो वह कह देता है कि साहब ! आपकी बतलाई हुई त्रैराशिक गणित मैं इस समय भूल रहा हूँ-आशा है थोड़ी देर में बतला दूंगा । घटपटादि को तो बाहर सत्ता भी है, परन्तु इस त्रैराशिक गणित की तो कहीं सत्ता भी नहीं है-फिर तो ढूंढ लूंगा-मिला नहीं-भूल रहा हूँ-याद नहीं आया-इत्यादि व्यवहार ही-यह सिद्ध करता है कि बहिर्जगत्वत् बौद्धजगत् की भी पृथक् सत्ता है । यदि हमारा ज्ञान ही सब कुछ बनता होता तो हमें ढूंढने की आवश्यकता ही क्या थी ? बस, इन्हीं पूर्वोक्त कारणों से हम ज्ञान और विषय की एक सत्ता नहीं मान सकते । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्ञानं प्रकाशो विषयास्तमोवत् कथं तयोः संभवतीदमैक्यम् ।
ज्ञाने समाने विषया विभक्ता दृश्यन्त एते निहिताः पृथङ् नः" ॥२२३॥

अपि च-संसार के हर वस्तु के जानने के लिए ज्ञान ही प्रमाण है । **'प्रमाजनकत्वं प्रमाणत्वम्'**-यही प्रमाण का लक्षण है एवं ज्ञान ही प्रमा का जनक है, अतएव हम ज्ञान को प्रमाणों का शिरोमणि

कह सकते हैं। हम जानते हैं-हमारा ज्ञान उस वस्तु को सच्ची बतला देता है, अतएव हम ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। ज्ञान ही प्रत्यक्षादि सारे प्रमाणों से उत्कृष्ट प्रमाण है। इसी ज्ञान से इसी ज्ञानपटल पर यच्चयावत् विषयों की प्रतीति होती है। 'अहं जानामि'-यही तो विषयसत्ता का प्रमाण है। यदि 'न जानामि' तो पदार्थ भी हमारी ओर से 'नास्ति' ही है। तो बस, जो ज्ञान हमें यच्चयावत् विषयों की भेदप्रतीति करवाता है-वही ज्ञान विषयों को अपने आपसे भिन्न समझने के लिए भी हमें मजबूर करता है। ज्ञान ही विषयों की तरह उनके ज्ञानपार्थक्य का भी ज्ञान करवाता है। घड़ा ज्ञान से अलग है-इसमें ज्ञान ही प्रमाण है। बस, इसी भेद के कारण एक ही ज्ञान के 'घटं जानामि, पटं जानामि, मठं जानामि'-इत्यादि नाना भेद हो जाते हैं। इस प्रतिपत्तिभेद से ही ज्ञान से इन विषयों को हम भिन्न बतलाते हैं। विषय ज्ञान से भिन्न हैं एवं नाना हैं-इसीलिए तो एकस्वरूप ज्ञान को भी नाना भावों में परिणत होना पड़ता है। विषयपरिच्छेदेन उस व्यापक ज्ञान को भी तो घट-मठ रूप से परिच्छिन्न होना पड़ता है। जैसे घटज्ञान में ज्ञान कारण है-वैसे 'अयं घटः ज्ञानाद् भिन्नः'-इस भेदप्रतीति में भी वह ज्ञान ही तो कारण है। जो घट का ज्ञान करवाता है-भिन्नता का ज्ञान भी तो वही करवाता है। ज्ञान घट का ज्ञान करवाता है-इस अंश को तो मान लेना एवं वही ज्ञान भेदप्रतीति करवाता है-इस अंश को न मानना-इसमें कोई भी विनिगमक नहीं है। अतः अर्द्धजरतीय को छोडकर घटज्ञानवत् भेद-ग्रह का भी कारण ज्ञान को अवश्य ही मानना चाहिए। बस, इसी कारण से हम ज्ञान से विषय को अलग पृथक्सत्तावाला कहने के लिए तय्यार हैं।

अपि च-ज्ञान से विषय को अलग न मानने पर एक अड़चन ऐसी पड़ेगी कि जिसका आप कोई समाधान कर ही नहीं सकते हैं।

घटपटादि विषय दृश्य हैं एवं ज्ञान द्रष्टा है। यदि दृश्य की सत्ता है तो द्रष्टा दृष्टि कर सकता है। अर्थात् बाहर घड़ा है तो हमारा ज्ञान उस घड़े का प्रत्यय कर सकता है। उसका द्रष्टृत्व ही दृश्य-सत्ता पर अवलम्बित है। यदि ऐसा न हो और बिना सत्तासिद्ध बहिर्जगत् की सहायता के भी यदि द्रष्टा दृश्यजगत् का निर्म्माण कर सकता तो फिर वह चाहे जब चाहे जहाँ जो कुछ चाहता बना लेता। गङ्गा स्नान करने सत्तासिद्धा भागीरथी के तट पर न जाता-अपने घर के पास ही ज्ञान से गङ्गा जी बना लेता एवं उस ज्ञानीय गंगा में स्नान कर लेता। परन्तु हम देखते हैं कि हमारा ज्ञान 'तृणस्य कुब्जीकरणेऽपि' असमर्थ है-अतः इन विषयों को क्योंकर ज्ञानस्वरूप माना जा सकता है? भला जिस दृश्य के कारण द्रष्टा दृष्टि कर सकता है-अपने द्रष्टृत्व को कायम रख सकता है-उस दृश्य को द्रष्टास्वरूप (ज्ञान) ही क्योंकर माना जा सकता है? भला, दृश्य तो द्रष्टा के द्रष्टृत्व को कायम रखने वाला है। बस, इसलिए भी हम विषय को ज्ञान से पृथक् पृथक् सत्तायुक्त मानते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्ञानं प्रमाणं तत एव सर्वं प्रमीयते तेन वदामि भिन्नान्।
ज्ञानात्तदर्थान् प्रतिपत्तिभेदात् दृश्यादृते द्रष्टृ न दृष्टिमेयात्" ॥२९४॥

अखिल विश्व का आधारभूत जो एक पूर्णज्ञान है-युनिवर्सल नॉलेज है-वह (ईश्वर नामक) जीव और जगत् से पृथक् पदार्थ है। जीवसत्ता से उस ईश्वरसत्ता का कोई सम्बन्ध नहीं है। जीवसत्ता विनष्ट हो सकती है-जगत्सत्ता विनष्ट हो सकती है, परन्तु ईश्वरसत्ता का इस सत्ता से कोई सम्बन्ध नहीं। एक वन में २ हजार वृक्ष हैं। आप उनमें से भले ही एक वृक्ष को काट दीजिए-उसके कटने से उन २ हजार वृक्षों पर रहने वाले व्यापक 'वन' की सत्ता नष्ट नहीं हो सकती। आँख के फूट जाने से हमारा नाश नहीं होता। बस, इसी प्रकार से जीव और जगत् के नाश से ईश्वरसत्ता का विनाश नहीं होता। इसी प्रकार से जीव और जगत् की सत्ता भी उस ईश्वर से सर्वथा पृथक् है। हम मानते हैं कि जीव और जगत् का आधार वह व्यापक ईश्वर ही है, परन्तु इनका कार्य्यकारणभाव पिता-पुत्रवत् है। ईश्वर और जीव जगत् का आधाराधेय सम्बन्ध भिन्नसत्ताक है। पुत्र पिता ही के अंश से उत्पन्न हुआ है; तथापि पुत्र की सत्ता पृथक् है-पिता की पृथक् है। पुत्र के मरने से पिता नहीं मरता-पिता के मरने से पुत्र नहीं मरता। ईश्वर और जीवजगत् में घटमृत्तिकावत् एकसत्ताक ही आधाराधेयभाव है-पिता पुत्रवत् भिन्न सत्ताक नहीं है-इसमें आप क्या सुबूत रखते हैं? दृष्टान्त वैसा भी है-ऐसा भी है-फिर वैसा ही मानें-ऐसा न मानें-इसमें क्या प्रमाण है? अपि च-ज्ञानात्मक आप मान भी नहीं सकते-क्योंकि ज्ञानात्मक मानने में कई बाधाएँ हैं-जैसा कि पूर्व के कथन से सिद्ध हो जाता है।

हाँ! तो हम कह रहे थे कि जो एक वन की तरह व्यापक ज्ञान है-वह ईश्वर है जो कि जीव और जगत् से सर्वथा भिन्न वस्तु है। परन्तु इतना अवश्य है कि उसी व्यापक ईश्वर के पेट में जीव और जगत् अर्थात् जड़ और चेतन दोनों प्रतिष्ठित हैं। जैसे मटकी में नाज(अनाज) भरा हुआ है-ठीक वैसे ही सारे जीव और जगत् उस वर्त्तुलवृत्त ईश्वर के पेट में भरे हुए हैं। जैसे मटकी के आधार पर रहने पर भी अनाज की सत्ता मटकी से पृथक् है, तद्वत् उसी ईश्वरसत्ता के आधार पर रहने पर भी जीव और जगत् की सत्ता ईश्वरसत्ता से सर्वथा पृथक् है।

सूत की सत्ता से जैसे वस्त्र सत्तावान् है-मृत्तिका की सत्ता से जैसे घट सत्तावान् है-ऐसा कार्य्य-कारणभाव जीव और ईश्वर में नहीं है, किन्तु दोनों का पितापुत्रवत् आधाराधेयभाव भिन्नसत्ताक है। दो मित्र सदा अविनाभूत रहते हैं-साथ खाते हैं-साथ सोते हैं-साथ उठते हैं-साथ बैठते हैं,परन्तु क्या उन दोनों की सत्ता एक है? हर्गिज नहीं। बस, यही बात ईश्वर और जीव एवं जगत् के विषय में समझनी चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्ञानं तु कार्त्स्न्याद् यदशेषमेकं स ईश्वरो नाम पृथक् पदार्थः।
तत्रैव जीवाश्च जगन्ति चास्थुः सत्तोभयेषां पृथगीश्वरात् स्यात्" ।।२२५।।

कहाँ तक कहें-ईश्वर और जीव कथमपि एक वस्तु नहीं हो सकती। जीव का ज्ञान सदा अज्ञानावृत रहता है, अतएव उसका ज्ञान मलिन रहता है। इसी अज्ञानावृत ज्ञान के कारण जीव जो कुछ काम करता है-उसमें कुछ न कुछ दोष रह ही जाता है। इसी अभिप्राय से दार्शनिक शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः" ।[1]

अपि च-यह जीव क्षुद्रशरीरवाला है एवं इसमें जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-ये तीन अवस्थाएँ हैं। यदि और भी विशकलन किया जाता है तो जीव में क्षुधा-पिपासा-जरा-शोक-मोह-मृत्यु-इन ६ ऊर्मियों की सत्ता दिखलाई पड़ती है एवं ६ ही अवस्थाएँ रहती हैं। जीव की इच्छा का सर्वथा बाध है। यह सदा दुःख से छटपटाया करता है। उद्योग करता है-दुःख से छुटकारा हो जाय, परन्तु नहीं होता। परन्तु ईश्वर इससे ठीक विरुद्ध स्वभाव वाला है। वह षडूर्म्मियों एवं ६ अवस्थाओं से शून्य है-वह इस जीव की तरह क्षुद्र नहीं है-अपि तु, व्यापक है, अतएव शरीरशून्य है। सत्य-संकल्प है-सत्यकाम है-आप्तकाम है, अतएव सर्वकाम है। इस प्रकार से अत्यन्त पवित्र ज्ञान वाले उपाधिशून्य (ऊर्म्मि-अवस्था से शून्य) व्यापक अशरीरधारी उस ईश्वर से अज्ञानावृतज्ञानयुक्त, अतएव मलिन क्षुद्र-शरीर में परिच्छिन्न-यह जीव सर्वथा भिन्न है। भला ऐसे जीव और ईश्वर को एक कैसे बतलाया जा सकता है? जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है-

"ज्ञानं यदज्ञानवृतं मलीमसं क्षुद्रं त्र्यवस्थोपहितं शरीरगम् ।
जीवः स मेध्यादनुपाधितः परादविग्रहादीश्वरतो विभिद्यते" ।।२२६।।

इस ईश्वर नाम के ज्ञान से एवं जीव नाम के ज्ञान से पृथक्वत् नया जगत् उत्पन्न होता है। जो ईश्वर का जगत् है-वह बहिर्जगत् कहलाता है एवं जीव का जगत् अन्तर्जगत् कहलाता है। परन्तु इतना याद रखो कि उस ईश्वरज्ञान से किं वा जीवज्ञान से सर्वात्मना जगत् नहीं बनता। अर्थात् सारा का सारा ज्ञान जगत्रूप में परिणत नहीं होता-अपि तु, ईश्वर के ज्ञान के एक जरा से अंश से एवमेव जीवज्ञान के एक जरा से अंश से वह बहिर्जगत्-अन्तर्जगत् उत्पन्न होता है। बस, जहाँ यह जगत् उत्पन्न हुआ कि पुत्रवत् इसकी पृथक् सत्ता हुई। अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् दोनों की सत्ता ईश्वर एवं जीव से भिन्न है। ईश्वर का जगत् बाह्यजगत् कहलाता है एवं जीव का जगत् बौद्धजगत् कहलाता है। जैसे बाह्यजगत् की ईश्वर से पृथक् सत्ता है, तद्वत् इस बौद्धजगत् की भी जीवसत्ता से पृथक् सत्ता है-इसीलिए तो भूल गया-याद आ गया-इत्यादि व्यवहार होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है-

"तत्रेश्वराख्यादथ जीवनाम्नो ज्ञानाज्जगच्चोदयते पृथग्वत् ।
न कात्स्न्र्यतः किन्तु तदेकदेशादुद्भूय तत्रास्ति विभिन्नसत्तम्" ।।२२७।।

जैसे दूध से दही बनता है, सूत से कपड़ा बनता है, मिट्टी से घड़ा बनता है-ऐसे ईश्वर से जीव और जगत् की उत्पत्ति नहीं होती। एकसत्ताक आधाराधेयभाव-कार्य्यकारणभाव जीव और ईश्वर में नहीं है-अपि तु, जैसे दूध से मलाई उत्पन्न होती है-जल में बुद्बुद उत्पन्न होता है, लोहे से जंग उत्पन्न होता है-बस, ठीक इसी प्रकार से ज्ञान से जगत् की उत्पत्ति होती है।

---

१ गीता १८।४८।

दूध पर जो मलाई उत्पन्न होती है- वह दूध से पैदा होकर अपनी पृथक् सत्ता धारण कर लेती है । उसका नाम-रूप-कर्म्म दूध से सर्वथा पृथक् हो जाता है । पानी बिलकुल समधरातल होता है–बुद्बुद बिलकुल गोल है । भला, इस बुद्बुदे की और पानी की सत्ता एक कैसे हो सकती है ? और तो और पैदा होते ही बुद्बुद अपने पैदा करने वाले जल को छोडकर स्वतन्त्रता से इधर-उधर विचरने लगता है । उसी पिता के अंश से उत्पन्न पुत्र उत्पन्न होने के साथ ही स्वतन्त्रसत्तावाला हो जाता है । परन्तु ध्यान रहे जैसे सारे का सारा पिता पुत्र नहीं बनता–अपि तु, पिता का थोड़ा सा अंश ही पुत्र-स्वरूप में परिणत होता है जैसे कि सारा ही पानी बुद्बुद नहीं बनता–बस, ठीक इसी प्रकार से सारा ही ज्ञान जगत्स्वरूप में परिणत कभी नहीं हो सकता । वीर्य्यबिन्दुवत् पिता–ज्ञान की एक बिन्दु ही से सारा जगत् बन जाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"नोद्भित्पयोवद्दधिदुग्धवद्वा सूत्रांशुवन्मृद्घटवच्च नो वा ।
ज्ञानाज्जगत् तच्छरवत्तु दुग्धान्मन्ये जले बुद्बुदफेनवद्वा" ॥२२८॥

परन्तु क्या कहें–यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार करते हैं तो इस ज्ञानजगत् में और बुद्बुद फेन में भी एक फरक रह ही जाता है । संसार में जितने भी कार्य्यकारणभाव हैं–उनका दृष्टान्त फिर मिल सकता है–परन्तु एक इस ज्ञानजगत् का ही ऐसा अद्भुत कार्य्यकारणभाव है–जिसका फिर दृष्टान्त कोई मिल ही नहीं सकता । थोड़ी बहुत विशेषता रह ही जाती है । बात वास्तव में ठीक है–भला उस अनन्त ज्ञानमूर्ति को जो परमाकाश कहलाता है–उसके पेट में रहने वाले पदार्थों का दृष्टान्त क्योंकर बतलाया जा सकता है ? आकाश का दृष्टान्त आकाश ही हो सकता है । उस सच्चिदानन्द का दृष्टान्त वही हो सकता है–और दूसरा नहीं । हमने जलोत्पन्न बुद्बुदवत् उसका कार्य्यकारणभाव बतलाया है, परन्तु इसमें भी विशेषता है । विशेषता यही है कि फेन में पानी नष्ट भी हो जाता है, एवं विकृत भी हो जाता है । लोहे से जंग बनता है, परन्तु उतना लोहा अलग होके निकल जाता है । होते होते एक समय ऐसा आता है–जबकि सारा लोहा जंग बन जाता है । परन्तु ज्ञान कभी विकृत नहीं होता है–वह सदा अविकारिरूप से ही प्रतिभासित रहता है । इस प्रकार से सर्वथा अविकृत-अविनाशी रहता हुआ–नई-नई चीजों को बनाया करता है । चाहे अनन्तानन्त पदार्थ इस ज्ञान से बनकर निकल जाएँ–फिर भी ज्ञान अविकारी एवं अविनाशी ही रहेगा । तात्पर्य्य यही है कि इसका दृष्टान्त और दूसरा मिल ही नहीं सकता । यह स्वयं ही अपने आप में दृष्टान्त है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"इयान् विशेषस्तु विभाति फेने वियन्ति तोयानि विकुर्वते च ।
ज्ञानं तु न व्येत्य विकारि भाति प्रस्तौत्यपूर्वं जगदद्भुतं तत्" ॥२२९॥

इसमें क्या प्रमाण है कि ज्ञान घटता नहीं ? यही बतलाते हैं ।

हम इस बात को खूब अच्छी तरह से जानते हैं कि बालक का ज्ञान बिलकुल थोड़ा होता है । बड़े आदमी की अपेक्षा उसमें ज्ञानमात्रा बहुत थोड़ी रहती है । परन्तु ज्यों यह संसार के पदार्थों को

देखता जाता है–अर्थात् इसका ज्ञान ज्यों-ज्यों अन्तर्जगत् का निर्म्माण करता जाता है–त्यों-त्यों इसका विज्ञान बजाय घटने के वृद्धि को प्राप्त हो जाता है। उसी ज्ञान से तो अन्तर्जगत् बनता है। भला अन्तर्जगत्–वृद्धि से ज्ञानमात्रा घटनी चाहिए–अथवा उलटी बढनी चाहिए ? हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि अन्तर्जगत्–वृद्धि से इसके ज्ञान का अन्त नहीं होता। अपि च–वृद्धि ही होती है। बस, यही इस ज्ञान में विलक्षणता है। चाहे अनन्त चीजें इससे उत्पन्न हो जायं–यह बजाय घटने के बढता ही रहता है। इसीलिए इसका कार्य्यकारणभाव हम विश्व से निराला कहने के लिए तय्यार हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"बालस्य मन्येऽल्पमिवास्ति चित्तं यथाधिकं पश्यति विश्वमेष: ।
तथास्य विज्ञानमुपैति वृद्धिं न क्षीयतेऽन्तर्जगतस्तु वृद्ध्या" ॥२३०॥

घट-पट-पर्वत-सूर्य्य-चन्द्र इत्यादि अर्थसमष्टियुक्त जो विश्व है–वह आत्मा से सर्वथा पृथक् रहता हुआ आत्मा में संनिविष्ट रहता है। अर्थात् सारे का सारा बहिर्जगत् दर्पणप्रतिबिम्बवत् हमारे ज्ञान में उतरा रहता है, परन्तु ध्यान रहे–जिनका यह प्रतिबिम्ब पड़ता है–वे मूलपदार्थ हमारे ज्ञान से सर्वथा पृथक् हैं- हमारे में जिस जगत् का प्रतिबिम्ब होता है, वह हमारे ज्ञान से सर्वथा पृथक् है। परन्तु साथ ही में जिस जगत् को हम देखते हैं–उसे हमारे ज्ञान ही का बना समझना चाहिए। हमारा अन्तर्जगत् का निर्म्माता हमारा ज्ञान है। इससे जो उत्पन्न जगत् है–उस जगत् से ज्ञान आसक्त कभी नहीं होने पाता। दर्पणवत् आत्मा सर्वथा असंग है, उस अपने विश्व में यह आत्मा रात्रि-दिन रहता हुआ भी आसक्त नहीं होने पाता–यह बडा ही आश्चर्य है। पानी में चीनी डाल दी जाती है तो चीनी पानी में घुलकर एक चीज बन जाती है। चीनी पानी का बन्धन हो जाता है। परन्तु आत्मा रात-दिन जगत् में रहता हुआ भी असंगतया उसमें आसक्त नहीं होने पाता। इस प्रकार से इस आत्मा का और जगत् का कार्य्यकारणभाव अत्यन्त विलक्षण अतएव आश्चर्य पैदा करने वाला है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"पृथक् सदत्रात्मनि संनिविष्टं सर्वात्मना विश्वमिदं समस्तम् ।
आत्मा त्वसङ्गोऽस्ति न तेन विश्वे नासज्जते किञ्चिदपीति चित्रम्" ॥२३१॥

मैं जिस समय घट को देखता हूँ–उस समय घट का अवभास अवश्य होता है–अर्थात् ज्ञान घट से मिला हुआ ही दीखता है–ज्ञान घटाकाराकारित ही प्रतीत होता है, परन्तु सिद्धान्त समझो–मिला हुआ दीखने पर भी हमारा आत्मा घट से वास्तव में मिला नहीं है। खूब मिला हुआ है, परन्तु बिलकुल जुदा है। एक घट में १० चिराग रख दीजिए–दसों का प्रकाश परस्पर में ओतप्रोत हो रहा है, फिर भी दसों का प्रकाश एक से एक जुदा है। प्रकाश परस्पर खूब मिल रहे हैं–सारों का समावेश एक ही स्थान पर हो रहा है–इतना होने पर भी सारे प्रकाश सर्वथा भिन्न हैं। आप एक दीपक को वहाँ से उठा ले जाइए–उस दीपक का प्रकाश उस समष्टि में से इस तरह निकल जाएगा जैसे इनका कभी मेल था ही

नहीं। बस, यही बात आत्मा और जगत् के विषय में समझनी चाहिए। अपि च–ध्यान दीजिए–एक काच सामने रखा हुआ है–उस पर हजारतरहों के रंगों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है–सारा काच चित्र-विचित्र वर्णों से रंग रहा है, परन्तु वास्तव में देखा जाय तो काच स्व-स्वरूप से अब भी स्वच्छ है। काच रंगों से सर्वथा बेलाग है।

अपि च–स्वच्छ-शुभ्र स्फटिकमणि पर जैसे जपा-कुसुम की लाली पड़ती है एवं उस लाली से स्फटिक लाल दिखलाई पड़ता है, परन्तु वास्तव में अब भी स्फटिक सफेद ही है–बस, इसी प्रकार से ज्ञान में आए हुए अर्थ प्रतिभासित होने लगते हैं। ज्ञान अब भी उन अर्थों से सर्वथा अलग है।

इसीलिए तो कहा जाता है—

"न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय" ॥[1]

इसी अभिप्राय से गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"घटं तु पश्यामि यदा तदानीं घटावभासो न घटानुषक्तः।
जपानुरागः स्फटिके विशुद्धे यथा तथा ज्ञानगतास्तदर्थाः" ॥२३२॥

बहिर्जगत् जैसे सत्तासिद्ध है–उसी प्रकार अन्तर्जगत् भी (बौद्ध जगत् भी) सत्तासिद्ध ही है। उसकी सत्ता भी हमारे ज्ञान से सर्वथा पृथक् है–भिन्नसत्ताक आधाराधेयभाव है। इसका विशद विवेचन हम पूर्व मे कर आए हैं–फिर भी किसी को सन्देह न हो जाय–इसलिए और भी स्पष्टीकरण कर देते हैं—

भावना द्वारा–कल्पना द्वारा–मैं जिन पदार्थों की रचना करता हूँ–अर्थात् अपने खयाल से ही जिस खयाली जगत् का विना बहिर्जगत् के सम्बन्ध के निर्म्माण करता हूँ–उन ज्ञाननिर्म्मित भावनात्मक पदार्थों की ज्ञान से सर्वथा पृथक् पृथक् सत्ता है। मेरे ज्ञान की सत्ता से मेरे बौद्ध पदार्थों की सत्ता नहीं है–अपि तु, ज्ञान से पृथक् उन-उनकी अपनी पृथक् सत्ता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनका ज्ञान से पृथक्त्वेन स्मरण में आना है। हम उस खयाली पदार्थ को भूल जाते हैं एवं सोचने पर उसका स्मरण आता है। इससे मालूम होता है कि उनकी सत्ता ज्ञान से सर्वथा पृथक् है। यदि ज्ञानसत्ता से ही उनकी सत्ता होती तो कथमपि हम उन्हें न भूलते। क्योंकि ज्ञान सत्ता तो हमारे पास सदा रहती है। परन्तु स्मरण करते हैं–उन्हें ढूंढते हैं–टटोलते हैं–इसलिए हम उनकी सत्ता ज्ञान से सर्वथा पृथक् मानने के लिए तय्यार हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

१ गीता ९।५-६।

"वयं तथार्थान् परिकल्पयामो यान् भावयित्वा पृथगेव तेषाम् ।
सत्ता हि तास्ता न तु सत्तया मे ते सन्ति यत् तान् हि पृथक् स्मरामः" ॥२३३॥

इसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

चेतना से अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान से किंवा हमारे (जीव) ज्ञान से उत्पन्न होने वाले जो पदार्थ हैं-अर्थात् बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् हैं-मैं मानता हूँ कि उनकी सत्ता उस ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। ईश्वर के ज्ञान से बहिर्जगत् की सत्ता सर्वथा भिन्ना है-एवमेव जीवज्ञान से उत्पन्न होने वाली वस्तु-सत्ता जीवज्ञान से सर्वथा अलग है। अपि च-ईश्वर के चित् (ज्ञान) ही से उत्पन्न होने वाले ज्ञानस्वरूप हमारी (जीवों) की भी सत्ता ईश्वर से पृथक् ही है। यदि यह ज्ञानस्वरूपा जीवसत्ता पृथक् न होती तो उस ईश्वर के एक चिदंश को (ज्ञान के कतरे को) लेकर हम कभी अनन्त पदार्थों को न बना सकते। ईश्वर और हम एक ही वस्तु होते तो हमारी और उसकी सत्ता एक ही होती। तो फिर बहिर्जगत्वत् हम अपना स्वतन्त्र अन्तर्जगत् क्योंकर बना सकते थे? परन्तु बहिर्जगत् से अलग हम अपना ख़याली जगत् स्वातन्त्र्येण बनाते हैं-इसलिए मानना पड़ता है कि हमारी-ईश्वर की-बहिर्जगत् की एवं अन्तर्जगत् की चारों की सत्ता सर्वथा पृथक् पृथक् है।

अपि च-यदि ईश्वर और जीव की एक ही सत्ता होती तो हम कभी मरते ही नहीं। ईश्वर जैसे सदा अजर-अमर रहता है-वैसे ही हमारे प्राणों का उत्क्रमण कभी होता ही नहीं। परन्तु हम देखते हैं कि हमारे ही सामने अनन्त जीव मर रहे हैं एवं हम भी एक दिन मर जाने हैं तो फिर ऐसे विनाशी जीवों की उस अविनाशी ईश्वर की सत्ता के साथ तुलना क्योंकर की जा सकती है? अतः सबकी भिन्न सत्ता ही माननी चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"चिज्जातसत्ताश्रयवस्तुसत्ता चित्सत्तया भिद्यत इत्यवैमि ।
न धीः पृथक् चेत् कथमीश्वरांशं धृत्वाहमर्थान् जनयेदनेकान्" ॥२३४॥

अब इस पृथक् सत्तावाद में एक प्रश्न बाकी रह जाता है-यह वही है कि इस ज्ञान ही से जीव जगत् की उत्पत्ति होती है एवं ज्ञान की सत्ता है-एक। अब बतलाइए-उस ज्ञान में से उत्पन्न जीव और जगत् में पृथक् सत्ता आई कहाँ से? ज्ञानसत्ता एक है-उसमें से दो सत्ता निकल आई-यह बात तो हो नहीं सकती-और आप बतलाते हैं कि जीव और जगत् की सत्ता ईश्वर-सत्ता से सर्वथा पृथक् है। तो बतलाइए यह भिन्नसत्ता आई कहाँ से? हमारे हिसाब से तो कोई अनुपपत्ति है ही नहीं जबकि हम सारे प्रपञ्च की एक सत्ता ही मानते हैं। बस, इसी अभिप्राय से कहते हैं-यदि ज्ञानीय सत्ता अर्थों में (जीव जगत् में) नहीं जाती है-तो फिर वह भिन्नसत्ता आ कहाँ से गई? इस प्रश्न का उत्तर आप क्या देंगे?

हम कहते हैं-इसका भी उत्तर है। यदि ऐसा अद्‌भुत कार्य्यक्रम लोक में न मिलता तो अवश्य ही आपके प्रश्न का उत्तर न होता। परन्तु हम देखते हैं कि जो वस्तु सर्वथा नहीं होती है-वह भी कहीं

न कहीं आ पड़ती है । एक लकड़ी का रूप पीला था । थोड़ी देर में लकड़ी के जले बाद उसका पीला रंग गायब हो जाता है एवं काला आ कूदता है । अब हम आपसे पूछते हैं कि बतलाइए यह पीला रंग कहाँ चला गया ? एवं यह काला रंग कहाँ से आ गया ? जिसका कि पता भी न था ? इसका उत्तर आप भी नहीं दे सकते । बस, इसी प्रकार से रूपवत् ही यहाँ भी (जीव जगत् में भी) सत्ता अकस्मात् ही उत्पन्न हो जाती है । जैसे कालरूप अकस्मात् उत्पन्न हो जाता है–ठीक इसी प्रकार से यह सत्ता भी अकस्मात् कहीं न कहीं से कूद पड़ती है–जिसका कि निर्वचन नहीं हो सकता । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्ञानीयसत्ताऽर्थगता न चेत्स्यात् सा तर्हि तस्मिन् कुत आगतेति ।
अत्रोच्यते रूपवदत्र सत्ताऽप्याकस्मिकी संभवतीति मन्ये" ।।२३५।।

लालटेन में तैल डालकर हम उसके साथ अग्नि का सम्बन्ध करा देते हैं तो दीपक जलने लगता है । वह शान्त तैल 'लौ'-स्वरूप में परिणत हो जाता है एवं उस तैल से ऊँचा चढने का कर्म्म (क्रिया) भी होने लगता है एवं उस तैल में से नया-नया रूप (लाल-सफेद-नीला) भी निकलने लगता है । अब हम आपसे पूछते हैं कि बतलाइए ? जो क्रिया, जो रूप, जो अचि-दीपक में न थी–वह कहाँ से उत्पन्न हो गई ? एवं कहाँ लीन हो गई । बस, जिस प्रकार से तैल में से कर्म्मरूप अचि उत्पन्न होती है एवं थोड़ी देर में लीन हो जाती है–बस, ठीक इसी प्रकार से सत्ता की भी उत्पत्ति समझनी चाहिए । तात्पर्य्य यही है कि जबकि हम लोक में अकस्मात् उत्पत्ति का क्रम देखते हैं तो फिर सत्ता के विषय में उसे क्यों नहीं मान सकते ? अवश्य ही मान सकते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"तैलं यदर्चिर्भजतीह तैलात्कर्म्माणि रूपाणि पृथग् भवन्ति ।
आयान्ति तानीह यतो यथा वा वियन्ति सत्तापि तथात्र भाव्या" ।।२३६।।

कारण का नाश नहीं होता है-अपि तु, उस कारण से नवीन नवीन कार्य्य उत्पन्न होते रहते हैं एवं नवीन नवीन धर्म्म उत्पन्न होते रहते हैं । बस, यह वस्तु का प्राकृतिक स्वभाव है । ऐसे ही नये-नये धर्म्मों का भिन्नसत्ता लिए पैदा होना वस्तुस्वभाव है । इसमें-'ऐसा क्यों होता है'-? यह आशङ्का नहीं करनी चाहिए । पानी ठंडा है तो आग क्यों न ठंडी हुई ? पदार्थ स्वभाव में ऐसे कुत्सित तर्कों का उठाना सिवाय प्रलाप के और कुछ नहीं कहा जा सकता, अतः जो जैसा है–उसे आँख मींच कर वैसा ही मानते जाना चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"न कारणं व्येति नवीनकार्य्यं तूदेति धर्माश्च न वा भवन्ति ।
वस्तुस्वभावो हि तथा ततोऽस्मिन् न शङ्क्यमित्यस्ति मतं तृतीयम्" ।।२३७।।

।। इति विषयाणां ज्ञानातिरिक्तत्वात् पृथक्सत्तावादः ।।

।। इति ज्ञानविषययोर्भेदाभेदवादः ।।

पञ्चमखण्डान्तर्गतः—

अथ

ज्ञानसत्तयोः पौर्वापर्य्यमूलकोऽङ्गाङ्गिवादः ।

५–स्वजगत्सत्ताया ज्ञाननिघ्नत्वम् ।

स्वजगत् सत्ता का ज्ञानाधीनत्वप्रतिपादन—

अनन्त ही अन्तर्जगत् हैं एवं अनन्त ही जीव हैं। एक बहिर्जगत् है एवं उसका प्रतिष्ठाता एक ही ईश्वर है। चारों की सत्ता पृथक्-पृथक् हैं–यही बात पूर्व के पृथक् सत्तावाद में सिद्ध की गई है। अब एक प्रश्न बाकी रह जाता है–जिसका उत्तर देने में प्रायः सभी दार्शनिक कुण्ठित हो जाते हैं। दार्शनिकों में सत्ता और उपलब्धि के विषय में बहुत दिनों से विवाद चल रहा है। कई दार्शनिक कहते हैं–जगत् है–इसलिए उसकी उपलब्धि है–अर्थात् ज्ञान अङ्ग है और सत्ता अङ्गी है–सत्ता पहले है–ज्ञान बाद में है। घट-पट हैं–इसलिए हम उन घट-पटों को जानते हैं। घट-पटों से ही हमारे ज्ञान का स्वरूप बना है। हम जानते हैं–इसलिए घट-पट हैं–यह कहना साहसमात्र है। वास्तव में जगत् सत्तारूपेण पहले है–उसी की हमें उपलब्धि होती है। अस्ति है इसलिए हम जानते हैं। जगत्सत्ता पहले है एवं उपलब्धि तदनुवर्त्तिनी है। हमारी उपलब्धि अर्थात् ज्ञान नष्ट हो जाता है, परन्तु जगत् ज्यों का त्यों ही रहता है। इसलिए मानना पड़ता है कि सत्ता से उपलब्धि होती है–न कि उपलब्धि से सत्ता। हम जानते हैं–इसलिए जगत् है–यह बात नहीं है–अपि तु, जगत् अनादिकाल से सत्तारूप से है–इसलिए हम उसे जानते हैं।

दूसरे दूसरे दार्शनिक कहते हैं कि हम जानते हैं–इसलिए जगत् है अर्थात् सत्ता है। हम पूछते हैं कि यदि हम न जानें हमारा ज्ञान घटपटादि को न दिखलावे तो उनकी सत्ता में प्रमाण ही क्या है? हम जानते हैं–इसलिए तो–'**घटोऽस्ति**' कहते हैं। हमें यदि किसी का ज्ञान नहीं होता है तो हम कह देते हैं कि 'नास्ति'। भींत के उस ओर हजारों पदार्थ रखे हुए हैं, परन्तु हम तो '**न सन्ति**' ही कहेंगे। हम '**सन्ति**' तभी कहेंगे–जबकि हम जान जाएँगे। ज्ञान से उन पदार्थों की सत्ता है, न कि पदार्थों से ज्ञान की सत्ता है। '**ज्ञायते-अतः-अस्ति–न तु अस्ति-अतो ज्ञायते**'। यदि हमारा ज्ञान विलीन हो जाता है–तो हमारी तरफ से सारा जगत् विलीन हो जाता है। बस, इसलिए ज्ञान को अङ्गी समझना चाहिए एवं सत्ता को ज्ञान का अङ्ग समझना है। ज्ञान पूर्वभावी है–सत्तापश्चाद् भाविनी है।

ज्ञान से सत्ता की सत्ता है-न कि सत्ता से ज्ञान की सत्ता है। ज्ञान के अधीन सत्ता है-न कि सत्ता के अधीन ज्ञान है।

बस, इस प्रकार से ज्ञानसत्ता के अधीन है अथवा सत्ता ज्ञान के अधीन है-यह विवाद सदा से चला आ रहा है। आज हम इसी प्रश्न का निपटारा करने के लिए उद्यत हुए हैं। सबसे पहले अन्तर्जगत्-बहिर्जगत् भेद से हम जगत्सत्ता का ज्ञानाधीनत्व ही प्रतिपादन करेंगे।

सत्तावशात् उपलब्धि होती है-अथवा इस उपलब्धि के वश से इस जगत् की सत्ता की उपलब्धि होती है-अर्थात् हम जानते हैं-इसलिए जगत् है, अथवा जगत् है-इसलिए हम जानते हैं-इस प्रश्न का समाधान बाह्य और अन्तर-इन दो जगतों की स्थिति से सम्यक्तया कर दिया गया है। अर्थात् बाह्य जगत् और अन्तर्जगत्-ये जगद्वैविध्य ही इस सत्ता एवं ज्ञान के पौर्वापर्य्य का उत्तर दे देता है। इस भेद को समझ लेने पर स्वतः ही यह प्रश्न हल हो जाता है-जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"सत्तावशादस्त्युपलब्धिरस्योपलब्धितो वोपलभेऽस्य सत्ताम्।
प्रश्नस्य चैतस्य कृतः समाधिर्बाह्यान्तरद्विष्ठजगद्विधाभ्याम्" ॥२३८॥

हमने बतलाया है कि बहिर्जगत् ईश्वर के ज्ञान से बना हुआ है एवं अन्तर्जगत् हमारे ज्ञान से (जीवज्ञान से) बना हुआ है। इससे सिद्ध हो जाता है कि पहले ईश्वर ज्ञान है-तब उससे यह बहिर्जगत् बनता है एवं पहले जीवज्ञान मौजूद है-तब उससे अन्तर्जगत् बनता है। अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् की सत्ता के पहले ईश्वरज्ञान और जीवज्ञान का होना जरूरी है। घड़े की सत्ता के पहले मिट्टी की सत्ता का होना आवश्यक है। वस्त्रसत्ता के लिए पहले तन्तुसत्ता की अपेक्षा है। बस, ठीक इसी प्रकार से जगत् के उपादानभूत ज्ञान की स्थिति जगत्सत्ता से पहले होना आवश्यक है। क्योंकि ज्ञान ही से तो जगत् बना है। ईश्वरज्ञान पहले है-तब उससे यह बहिर्जगत् बना है। अर्थात् ईश्वरज्ञान से बहिर्जगत् की सत्ता है। ईश्वर जानता है-इसलिए जगत् है-न कि पहले जगत् है और बाद में उसे ईश्वर जानता है। ज्ञानपूर्विका सत्ता है-न कि सत्तापूर्वक ज्ञान। एवमेव मेरा ज्ञान है-इसलिए मेरा अन्तर्जगत् है। मेरे ज्ञान से मेरे अन्तर्जगत् की स्थिति है-न कि अन्तर्जगत् से मेरे ज्ञान की स्थिति है। तो बस, इससे सिद्ध हो जाता है कि बहिर्जगत्सत्ता ईश्वरज्ञानपश्चाद्भाविनी है एवं जीवजगत्सत्ता जीवज्ञानपश्चाद्भाविनी है। ईश्वरज्ञान के अधीन ईश्वरजगत्सत्ता है-जीवज्ञानाधीन जीवजगत् की सत्ता है। दोनों ही जगह 'ज्ञायते' इसलिए है-न कि 'अस्ति अतः ज्ञायते'।

यह तो हुआ ज्ञानसत्ताविषयक निर्णय-अब यदि इसी के विषय में और गहरी डुबकी लगाते हैं तो मालूम होता है कि वास्तव में उपलब्धि और सत्ता एक पदार्थ हैं। दोनों एक चीज है। उपलब्धि ही सत्ता है-सत्ता ही उपलब्धि है। बात वास्तव मे ठीक है-'घटोस्ति'-यही तो उपलब्धि का स्वरूप है। हमारे ज्ञान का 'घटोऽस्ति'-यही तो स्वरूप है। 'अस्ति'-यही ज्ञान का स्वरूप है। सत्ता ही ज्ञान है एवं ज्ञान ही सत्ता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते"।
"अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति"–इति ॥[1]

'अस्ति'–इसी का तो नाम उपलब्धि है। 'अस्ति'–इससे अलावा उपलब्धि और बाकी क्या बच जाती है ? सत्ता और उपलब्धि में परस्पर कोई भेद नहीं हैं। दोनों एक चीज हैं। दोनों को मिलाकर एक आत्मा का स्वरूप बनता है। वही एक ही ज्ञानस्वरूप आत्मा–उपलब्धि और सत्ता दोनों भावों में परिणत होता है। वही ज्ञान उपलब्धि बन जाता है–वही ज्ञान सत्ता बन जाता है। मिट्टी से बनने वाला घड़ा मिट्टी ही तो है। सूत से बनने वाला कपड़ा सूत ही तो है–बस, इसी प्रकार से ज्ञान से बनने वाला सत्ता-जगत् ज्ञानस्वरूप ही तो है। ज्ञान और सत्ता कहने को दो चीज हैं। वास्तव में जो उपलब्धि है–वही सत्ता है ,जो सत्ता है–वही उपलब्धि है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अस्तीश्वरज्ञानमतोऽस्ति तज्जगत् तथास्तिमज्ज्ञानमतोऽस्ति मज्जगत्।
सत्तोपलब्धिश्च न भिद्यते मिथः स एक आत्मोभयथा प्रवर्तते" ॥२३९॥

ईश्वर को सच्चिदानन्द बतलाया जाता है। जो ज्ञान का कन्दल है–उसे ही आनन्द कहते हैं एवं जो ज्ञान की रश्मिएँ बाहर निकलती हैं–वही ज्ञान है एवं जितना सा ज्ञान ग्राह्यस्वरूप में परिणत हो जाता है–उतना सा ज्ञान 'सत्ता' कहलाता है। ज्ञान प्रकाशस्वरूप है–तेजःस्वरूप है। जितने भी प्रकाशी पदार्थ हैं–वे सदा ग्राहक और ग्राह्य दो भागों में परिणत रहते हैं। ज्योति निम्नलिखित कुल पाँच ही हैं–सूर्य्यज्योतिः, २–चन्द्रज्योतिः, ३–अग्निज्योतिः, ४–वाग्ज्योतिः, ५–आत्मज्योतिः। इनमें से चार ज्योतियाँ भूतज्योति कहलाती हैं एवं आत्मज्योति ज्ञानज्योति कहलाती है। इन पाँचों ही ज्योतियों में ग्राहकत्व और ग्राह्यत्व–ये दोनों धर्म्म हैं। सूर्य्य घटपटादि को भी दिखलाता है एवं अपने आपको भी दिखलाता है। इसी प्रकार चन्द्रमा और अग्नि के विषय में समझना चाहिए। इसी प्रकार से जैसे–'रामलाल यहाँ आओ'–यह वाक् उस रामलाल का ग्रहण करवाने वाली है–तद्वत् वह–'रा-म-ला-ल-आ-ओ–इस अपने स्वरूप को भी दिखलाती है। इसी अभिप्राय से भर्तृहरि कहते हैं—

"ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते"–इति ॥[2]

ज्ञान का प्रकाश तभी होता है–जबकि उसके साथ घटपटादि विषय का सम्बन्ध होता है। ग्राह्य पदार्थ से ही ग्राहक का स्वरूप बनता है। घटपट हैं–तभी हम 'जानामि' कह सकते हैं। यदि घटपटादि विषयजात सर्वथा नेस्तनाबूद हो जाएँ तो 'जानामि'–यह ज्ञान ही लुप्त हो जाय। भला जब भौतिक ज्योति में भी ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व दोनों धर्म्म मौजूद हैं तो फिर ज्ञानज्योति का तो कहना ही क्या ?

१–कठोप० २।३।१२-१३। २–वाक्यपदीय १।५५।

भूतज्योति तो खाली उजाले ही को एवं उजाले में रखी हुई वस्तु को ही दिखलाती है, परन्तु ज्ञानज्योति तो प्रकाशवत् अन्धेरे का भी ज्ञान करवा देती है। इसीलिए ज्ञानज्योति की प्रशंसा करती हुई श्रुति कहती है—

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" ॥[1]

यह प्रकाशस्वरूप ज्ञान 'ग्रहीता' है-ग्राहक है। चूंकि विना किसी के ग्रहण किये अपने प्रकाशस्वरूप को ग्राहकत्वस्वरूप को कायम रख नहीं सकता, अतः स्वभाव ही से इसे ग्राहकत्व और ग्राह्यत्व-ये दो रूप बनाने पड़ते हैं। प्रकाश्य से ही प्रकाश का प्रकाशत्व है। ग्राह्य से ही ग्राहक का ग्राहकत्व है। विना प्रकाश्य के प्रकाश कुछ रह ही नहीं जाता। बस, इसीलिए ज्ञानप्रकाश को स्वभाव ही से प्रकाश और प्रकाश्य दोनों भावों में परिणत होना पड़ता है। वही ज्ञान प्रकाशस्वरूप होता हुआ प्रकाश्य भी बनता है। तो बस, जो प्रकाश प्रकाश का पार्ट है-उसे तो हम 'ज्ञान' कहते हैं एवं जो प्रकाश्य का पार्ट है-उस ग्राह्यत्व सामान्य को हम सत्ता कहते हैं। सामान्य कहने का तात्पर्य्य यही है कि अनन्त ग्राह्य हैं-इसलिए अनन्त सत्ता नहीं अपि तु, ग्राह्यत्वेन सारे ग्राह्यों की एक ही सत्ता है। बस, इसका खुलासा यही हुआ कि ज्ञानज्योति ग्राहक और ग्राह्यत्वेन दो प्रकार की है। ग्राह्य को सत्ता कहते हैं-ग्राहक को ज्ञान कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्ञानं ग्रहीत्रस्ति न चागृहीत्वा भवेत् प्रकाशः स ततः स्वभावात्।
ग्राह्यग्रहीत्रित्यर्थमिदं द्विरूपं ग्राह्यत्वसामान्यमवैमि सत्ताम्" ॥२४०॥

जो ग्राहक (ज्ञान) है-वह जीव और ईश्वर भेदेन दो प्रकार का है। जीवज्ञान अपने अन्तर्जगत् का विधर्त्ता है एवं ईश्वरज्ञान अपने बहिर्जगत् का विधर्त्ता है। जीव के ज्ञान से जीवजगत् की सत्ता है, ईश्वरज्ञान से बहिर्जगत् की सत्ता है। ग्राह्य ही को सत्तामय विश्व कहते हैं। परन्तु ध्यान रहे-यह ग्राह्य और ग्राहक दोनों परस्पर सर्वथा अविनाभूत हैं। शरीर और आत्मा दोनों अविनाभूत हैं। इस प्रकार से 'सत्ता और उपलब्धि एक चीज है-यद्यपि यह सिद्ध हो जाता है, तथापि यदि इनके पौर्वापर्य्य का यदि विचार किया जाय तो सत्ता को ज्ञानपश्चाद्भाविनी ही मानना पड़ेगा। पहले उपलब्धि है-बाद में सत्ता है। अन्तर्जगत् की सत्ता जीवज्ञान से पश्चाद्भाविनी है एवं बहिर्जगत् की सत्ता ईश्वरज्ञान के पश्चाद्भाविनी है। उभयत्र-**'ज्ञायते-अतः-अस्ति'** है न कि **'अस्ति-अतो ज्ञायते'**। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यो ग्राहकः स द्विविधोस्ति जीवस्तदीश्वरश्चेति जगद्विधर्ता।
ग्राह्यं तु, सत्तामयमस्ति विश्वं ग्राह्यग्रहीत्रोरविनाकृतत्वम्" ॥२४१॥

॥ इति स्वजगत्सत्ताया ज्ञाननिघ्नत्वम् (ज्ञानाधीनत्वम्) ॥

१—मुण्डकोप० २।२।१० ।

६-जैवज्ञानस्य बाह्यसत्तानिघ्नत्वम्।
जीवज्ञान का बाह्यसत्ताधीनत्वप्रतिपादन—

अपने अपने जगत् के विषय में अवश्य ही ज्ञान पहले है और बाद में सत्ता है। पहले ज्ञान की सत्ता है-बाद में सत्ता की सत्ता है। जीव की स्वजगत्सत्ता अवश्य ही अपने अपने ज्ञानाधीन है-किन्तु ईश्वर-ज्ञानमय **'अस्तिमान्'** जो सत्तासिद्ध जगत् है-उसी से हमारे अन्तर्जगत् की उपलब्धि होती है। अर्थात् **'अहं घटं जानामि'**-यह हमारा ज्ञान बाह्यसत्ता के ही अधीन है। बाह्यसत्ता है-इसलिए हमारे अन्तर्जगत् का स्वरूप बनता है। यदि बाहर सत्तासिद्ध घटपदादि न हों तो हमारे अन्तर्जगत् का निर्म्माण ही न हो। यदि बाहर सत्तासिद्ध घड़ा नहीं है-तो लाख इच्छा करने पर भी मुझे घट का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। मैं चाहता हूँ कि मुझे घट दिख जाय, परन्तु तब तक नहीं दीखता जब तक कि सत्तासिद्ध घट की स्थिति बाहर नहीं होती। इससे मानना पड़ता है कि मेरा ज्ञान अवश्य ही सत्तासिद्ध बहिर्जगत् के अधीन है। बहिर्जगत् है इसलिए मैं जानता हूँ। न कि मैं जानता हूँ, इसलिए सत्तासिद्ध जगत् है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"किन्त्वीश्वरज्ञानमयास्तिमद्बहिर्यदस्ति तस्मादुपलभ्यते जगत्॥
बहिर्न चेदस्ति घटस्तदा ममेच्छतोऽपि साक्षात् क्रियते न तद्घटः" ॥२४२॥

बाहर यदि घड़ा नहीं है तो मैं उसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकता-इससे मानना पड़ता है कि बाहर की वस्तुओं की जो सत्ता है-उसी सत्ता से बाहर की ओर घटपटादि ज्ञान का उदय होता है। अर्थात् उस सत्ता से मुझे घटपटादि का ज्ञान होता है। बहिर्वस्तुसत्ता मेरे ज्ञान के अधीन नहीं है-अपि तु, उस बहिर्जगत् सत्ता से मेरे ज्ञान का उदय होता है। तात्पर्य्य यही है कि सत्ता से उपलब्धि होती है-न कि ज्ञान से सत्ता की उपलब्धि। हमारा अन्तर्जगत् दो प्रकार का है-१ आचुम्बित जगत्, २ आकल्पित जगत्। बाहर के पदार्थों के प्रत्याघात से-चुम्बन से जिन घटपटादि का निर्म्माण होता है-वह आन्तर जगत् आचुम्बित जगत् कहलाता है एवं विना बहिर्जगत् के आधार के हमारा ज्ञान स्वातन्त्र्येण जिस भावनामय आन्तरजगत् का निर्म्माण करता है-उसे आकल्पित जगत् कहते हैं। अपूर्वशिल्प ही को आकल्पित जगत् कहते हैं एवं प्रतिरूपशिल्प ही को आचुम्बित जगत् कहते हैं। बस, इस आचुम्बित और आकल्पित जगत् भेद से ही सत्ता और उपलब्धि के पौर्वापर्य्य की व्यवस्था है। जिस पदार्थ की (नये आविष्कारों की) संसार में सत्ता ही न थी-उनका निर्म्माण हमारा ज्ञान कर डालता है। उस नये शिल्प की कल्पना पहले ज्ञान अपने आप करता है। वह जिस वस्तु को बनाना चाहता है-उसका निर्म्माण बहिर्जगत् की अनपेक्षा से अपने ही आन्तर्जगत् में करता है। बस, इसे ही आकल्पित जगत् कहते हैं। बस, इस आकल्पित भावनामय जगत् की जो सत्ता है-वह तो हमारे ज्ञान ही के अधीन है। उस जगत् का निर्म्माण विना बहिर्जगत् की सहायता के केवल हमारे ज्ञान से ही हुआ है-अतः हम इस आकल्पित जगत्सत्ता को ज्ञान से पश्चाद्भाविनी कहने के लिए तय्यार हैं एवं जो आचुम्बित जगत् की सत्ता है-वह ज्ञानपूर्विका ही है।

तात्पर्य्य यही हुआ कि हमारे अपूर्वशिल्पात्मक जगत् की (आकल्पित जगत् की) सत्ता तो हमारे ज्ञान ही के अधीन है-इसके लिए तो हम **'ज्ञायते-अतः-अस्ति'**-यही कहेंगे एवं जो प्रतिरूपशिल्पात्मक जगत् की (आचुम्बित जगत् की) सत्ता है-उसे ज्ञानपूर्विका ही कहेंगे। उसके लिए-**'अस्ति-अतो ज्ञायते'**-यही कहेंगे। इस प्रकार से हमारे अन्तर्जगत् में आचुम्बित, आकल्पित भेद से **'ज्ञायते अतः-अस्ति'**-यह भी बात है एवं **'अस्ति-अतो ज्ञायते'**-यह भी बात है। परन्तु दोनों विषय व्यवस्थित हैं-आचुम्बित अन्तर्जगत् के विषय में सत्ताधीन ही जीवज्ञान है-जो कि छठे सूत्र का प्रतिपाद्य विषय है एवं आकल्पित जगत् के विषय में ज्ञानाधीन ही सत्ता है। आकल्पित जगत् को जानते हैं-इसलिए वह है-आचुम्बित जगत् है-इसलिए जानते हैं। परन्तु ईश्वरीय जगत् में चूँकि आचुम्बित-आकल्पित भेद नहीं है-वहाँ तो आकल्पित ही जगत् है-इसलिए उसका बहिर्जगत् उसके ज्ञान के ही अधीन है। वहाँ 'जानते हैं-इसलिए है'-वही मात्र कोटि है।

अन्तर्जगत् {
१-ज्ञायते अतः-अस्ति } आकल्पित जीवजगद्विषये
२-अस्ति-अतो ज्ञायते } आचुम्बित जीवजगद्विषये
}

ज्ञायते अतः-अस्ति। ईश्वरीयाकल्पितजगद्विषये।

अन्तर्जगत् सत्ताया ज्ञानाधीनत्वम्—आकल्पितान्तर्जगतः }
ज्ञानस्यान्तर्जगत्सत्ताधीनत्वम्——आचुम्बितान्तर्जगतः } →जीवजगतः

बहिर्जगत्सत्ताया ईश्वरज्ञानाधीनत्वम्—आकल्पितान्तर्जगतः]ईश्वरजगतः

इस प्रकार से सत्ता और उपलब्धि की व्यवस्था बिल्कुल व्यवस्थित समझनी चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"तस्माद्बहिर्वस्तुनि यास्ति सत्ता ततो मम ज्ञानमुदेति बाह्ये।
मज्ज्ञाननिघ्नास्ति न वस्तुसत्ता सत्तावशाज्ज्ञानमुदेति मेऽस्मिन्"॥२४३॥

॥ इति जैवज्ञानस्य बाह्यसत्तानिघ्नत्वम् ॥

——❀——

७-ज्ञानमयजीवस्य बाह्यसत्तानिघ्नत्वम्।

ज्ञानमय जीव का बाह्यसत्तानिघ्नत्व—

पूर्वप्रकरण में हमने बतलाया है कि जीवज्ञान का जो आकल्पित जगत् है-वह **जीवज्ञानाधीन है** एवं आचुम्बित जगत् है-उसके अधीन जीव का ज्ञान है। परन्तु वास्तव में विचार किया जाए तो

जीवज्ञान हरहालत में बाह्य सत्ता के ही अधीन है। जीवस्वरूप जब बन गया-तदनन्तर उस जीवज्ञान से उत्पन्न आकल्पित जगत् अवश्य ही जीवज्ञान के अधीन है, परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर जीवज्ञान पहले पहल उस बहिर्जगत् की सत्ता के ही अधीन मानना पड़ता है—

हम (जीव) एक नहीं हैं-अपि तु, अर्बान्-खर्बान् हैं-अनन्त हैं। अनन्त ही उत्पन्न होते हैं, अनन्त ही विलीन हो जाते हैं एवं अनन्त ही वर्त्तमान हैं। जीव का यह आविर्भावतिरोभाव क्रम अनवरत चला करता है। हमारे मरने-जीने से सत्तासिद्धजगत् का कुछ नहीं बिगड़ता है। लाखों जीव मर गए-लाखों मर जाएँगे, परन्तु जगत् अविचलरूप से अनादिकाल से वैसे ही स्थिर है। यदि हमारे ज्ञान के अधीन ही जगत् होता तो-सर्वथा विनाशी होता एवं हम अनन्त हैं-इसलिए बहिर्जगत् भी अनन्त ही होते। परन्तु हमारे अनन्तानन्त होते हुए भी-विनाशी होते हुए भी जगत् एक है-अविनाशी है-इसलिए हमें मानना पड़ता है कि हमारे ज्ञान ही के अधीन वस्तुसत्ता नहीं है। बहिर्जगत्सत्ता के अधीन हमारा ज्ञान है-न कि हमारे ज्ञान के अधीन बहिर्जगत्सत्ता-अपि तु, सत्ताधीन हमारा ज्ञान (जीवस्वरूप) है। जिस प्रकार से अर्थसत्ता का भान ज्ञान करवाता है-उसी प्रकार से सत्ता भी चिदंश का ग्रहण कर जीव को ज्ञानस्वरूप बनाती है।

हम चिदात्मा के एक अंश हैं। उस अंश की प्रतिष्ठा के लिए अवश्य ही पहले सत्तात्मक पदार्थ की आवश्यकता है-विना उसके कथमपि चिदंश का-जीवात्मा का स्वरूप नहीं बन सकता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अस्माकमानन्त्यवशाच्च विघ्नो न ज्ञाननिघ्नैव तु वस्तुसत्ता।
ज्ञानं यथा भासयतेऽर्थसत्तां सत्तापि गृह्णाति तथा चिदंशम्" ॥२४४॥

जीवात्मा के भेद से जैसे विभिन्न ज्ञानार्थ सत्ता के (आकल्पित सत्ता के) जनक जैसे हम हैं अर्थात् जीव हैं-बस, ठीक इसी प्रकार से चिदंश का ग्रहण करने वाली ऐसी सत्तात्मक वस्तुएँ हमसे पहले अवश्य ही माननी पड़ेंगी-जिन सत्तासिद्ध वस्तुओं से अहमर्थ की अर्थात् जीवस्वरूप की सिद्धि होती है। तात्पर्य्य यही है कि किसी भी आधेय की स्थिति तभी बन सकती है-जबकि उस आधेय के लिए कोई आधार हो। घटपटादि पदार्थों का भान तभी हो सकता है-जबकि उनके प्रतिभासित होने के लिए उनका कोई आधार हो। उस आधार के विना आधेय अर्थसत्ता उपपन्न ही नहीं हो सकती। तो जैसे इस अर्थसत्ता के लिए हमारा ज्ञान आधार है-विना ज्ञान के अर्थसत्ता बन ही नहीं सकती तद्वत् हम अनन्तानन्त चिदंशो के लिए भी किसी आधार को अवश्य ही मानना पड़ेगा। जीव को चित् का अंश माना जाता है-प्रतिबिम्ब माना जाता है। इसके लिए पहले सत्तात्मक पदार्थ की आवश्यकता है-जिसके कि आधार पर जीव का स्वरूप बनेगा। बस, इससे सिद्ध हो जाता है कि जीवज्ञान बाह्य पदार्थ की सत्ता ही के अधीन है। माता के गर्भ में शुक्र-शोणितमय एक गर्भ सत्तासिद्ध विभु है-जिसमें कि छठे महिने में चिदंश का प्रवेश होता है। पहले कोई चेतनारहित सत्तात्मक पिण्ड है-तभी उसमें चिदंश का प्रवेश हो ज्ञानमय जीव का स्वरूप बनता है। यदि सत्तासिद्ध पदार्थ न हो तो जीव का स्वरूप

ही नहीं बन सकता है। बस, इसीलिए हम कहते हैं–ज्ञानमय-ज्ञानस्वरूप जीव अवश्य ही बाह्यसत्ता के अधीन है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"जीवात्मभेदात्तु यथा विभिन्नज्ञानार्थसत्ताजनका वयं स्मः।
सन्त्येव वस्तूनि तथा चिदंशग्राहीणि तैरस्त्यहमर्थसिद्धिः" ॥२४५॥

ईश्वर के ज्ञान में आया हुआ जो जगत् है–वह अवश्य ही ईश्वरज्ञान से बना हुआ है। उसकी जगत्सत्ता उसके ज्ञान ही के अधीन है। उसके ज्ञान के लिए अवश्यमेव किसी अन्य सत्ता की अपेक्षा नहीं। परन्तु जीवात्मक ज्ञान तो ठीक ईश्वरज्ञान के विपरीत अर्थमूलक ही मानना पड़ेगा। अर्थात् ईश्वरज्ञान अवश्य ही बहिर्जगत्सत्तापूर्वक है, परन्तु जीवज्ञान सत्ता से पश्चाद्भावी ही मानना पड़ेगा। जीवात्मा की उत्पत्ति सत्ता के आधार पर ही होती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"तदीश्वरज्ञानगतार्थरूपं जगत् भवेज्ज्ञाननिबन्धनं तत्।
जीवात्मकज्ञानमिदं तु क्लृप्तं तद्वैपरीत्याज्जगदर्थमूलम्" ॥२४६॥

यदि जगत् न होता तो 'अहं' की आख्या ही नहीं होती। जगत् से ही जीवों का स्वरूप बनता है। जीव चिदाभासमय माने जाते हैं। इन्हें चित् का प्रतिबिम्ब माना जाता है। तो सूर्य्य के प्रतिबिम्ब के लिए जैसे जल की एवं काच की अपेक्षा होती है, तद्वत् इस चित् के प्रतिबिम्ब के प्रतिबिम्ब के लिए अवश्य ही किसी सत्ता की सत्ता माननी पड़ेगी। विना उसके प्रतिबिम्ब पड़ेगा ही किस पर ? बस, इसीलिए हम ज्ञानमय जीव को बाह्यसत्ता के अधीन मानते हैं। परन्तु ध्यान रहे–आकल्पितसत्ता-जगत् जीवज्ञान ही के अधीन है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"न चेज्जगत् स्यान्न तदाहमाख्या जीवाश्चिदाभासमया भवेयुः।
सूर्य्यस्य यद्वत् प्रतिबिम्बक्लृप्त्यै जलस्य काचस्य भवत्यपेक्षा" ॥२४७॥

॥ इति ज्ञानमयजीवस्य बाह्यसत्तानिघ्नत्वम् ॥

॥ इति ज्ञानसत्तयोः पौर्वापर्य्यमूलकोऽङ्गाङ्गिवादः ॥

॥ २ ॥

पञ्चमखण्डान्तर्गतः–

ॐ

अथ

त्रिसत्याद्वैतवादः

७–जडजीवेश्वराणां विशिष्टाद्वैतम् ।

जड, जीव और ईश्वर तीनों का विशिष्टाद्वैत—

जीव-जगत्-ईश्वर–तीनों भिन्न-भिन्न वस्तु हैं–कि वा तीनों एक ही वस्तु हैं, कि वा सत्य केवल ईश्वर ही है एवं जगत् तो सर्वथा मिथ्या ही है–इत्यादि जटिल प्रश्न आज तक चले आ रहे हैं–इन प्रश्नों का उत्तर है भी और नहीं भी है। दार्शनिकों ने इनका उत्तर दिया भी है और नहीं भी। उन्होंने जो अपना स्वमत बतलाया है–वह सर्वथा सत्य है। परन्तु परमत निराकरण बिलकुल मिथ्या है। ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है–वास्तविक तत्त्व आत्मा ही है–जगत् कुछ नहीं है–शङ्कराचार्य का यह कहना बिलकुल सत्य है, परन्तु साथ ही में जीव-जगत् और ईश्वर तीनों को सत्य मानने वाले दार्शनिकों का (रामानुज का) मत एकान्तः मिथ्या है–यह कहना सर्वथा मिथ्या है। एवमेव जीव-जगत् और ईश्वर तीनों ही सत्य पदार्थ हैं, तीनों भिन्न-भिन्न वस्तु हैं, तीनों की सत्ता भिन्न-भिन्न हैं–रामानुज का यह कहना बावन तोले पाव रत्ती है, परन्तु साथ ही में "जगत् मिथ्या है–अद्वैतवाद बन ही नहीं सकता"–यह कहना ब्याज बट्टे सहित भूँठा है। गरज यह है कि स्वमतस्थापन सबका सच्चा है एवं परमतनिराकरण सबका मिथ्या है। कल्पना कीजिए–एक मकान में १०० दरवाजे हैं। प्रत्येक दरवाजा अपना भिन्न स्वरूप रखता है। किसी का कलर लाल है–किसी का हरित है–किसी का सफेद है। गरज यह है–सब एक से एक भिन्न हैं। अब उन १००ओं में १०० आदमी घुसते हैं। घुसकर १००ओं के सौवों ही उस मालिक मकान से मिलते हैं। मिलकर जब वापस आते हैं–तो कहने लगते हैं–हमारे द्वार का रंग लाल था–दूसरा कहता है–यह नहीं हो सकता–हरित था–तुम्हारा लाल बतलाना सर्वथा भूँठा है। वह कहता है–बिलकुल गलत–लाल ही सच्चा है–हरित सच्चा कैसे हो सकता है जबकि मैं लाल ही प्रत्यक्ष देख के आया हूँ ? ध्यान दीजिए–अपने-अपने अनुभव में सब सच्चे हैं। लाल ही मैंने देखा है, हरित ही मैंने देखा है–यह स्वमत सबका सच्चा है, परन्तु लाल ही सच्चा है, बाकी दूसरों का हरितादि बतलाना गलत है–यह परमतनिराकरण एकान्ततः मिथ्या है। उस परमेश्वर के पास पहुँचने के द्वार अनेक हैं–सब द्वारों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है–ऐसी हालत में किसी मार्ग को सच्चा बतलाना, किसी को भूँठा बतलाना–कैसे बन सकता है ? इसीलिए महिम्नस्तोत्र के रचयिता गन्धर्वराज 'पुष्पदन्त' कहते हैं—

"रुचीनां वैचित्र्याद्-ऋजुकुटिलनानापथजुषाम् ।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव" ।।[1]

बस, वही बात इन दार्शनिकों के सिद्धान्तों के विषय में समझनी चाहिए । भगवान् शङ्कराचार्य का अद्वैतवाद १६ आना सच्चा है, भगवान् रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद सर्वथा सच्चा है । जाने दीजिए, हम तो यहाँ तक कहने के लिए तय्यार हैं कि जिसे आप नास्तिक-दर्शन कहते हैं-चार्वाकदर्शन कहते हैं-वह भी अपनी लाइन में बिलकुल सच्चा है । प्रारम्भ में मनुष्य उसी कोटि का अधिकारी होता है । अधिकारी-भेद से सारे मत सच्चे हैं । बस, आज हमें और किसी मत का प्रतिपादन नहीं करना-केवल सूक्ष्मरूप से 'त्रिसत्याद्वैत' किंवा 'विशिष्टाद्वैत' के बारे मे कुछ कहना है-'**चतुष्टयं वा इदं सर्वम्**'-वेद भगवान् के इस अनुगम के अनुसार सारा प्रपञ्च ४ अधिकरणों में विभक्त है-१-परमेश्वर, २-ईश्वर, ३-जीव, ४-जगत् । आगे के प्रकरण में रस-बल का विवेचन किया जाएगा-इसलिए उसे यहाँ छोडते हैं । यहाँ पर सिर्फ इतना बतला देना पर्य्याप्त होगा कि ये चारों ही रस-बलघन हैं । रस ही को ब्रह्म कहते हैं-बल ही को मृत्यु कहते हैं-किंवा कर्म्म कहते हैं । यह बल और रस दोनों सर्वथा अविनाभूत हैं । न रस के बिना बल एकक्षण रहता है-न बल रस के बिना एकक्षण रहता है । बल भी नित्य है-किन्तु क्षणिक है, अतएव इसे प्रवाहनित्य कह सकते हैं । यह बल स्वलक्षण है । उसका लक्षण वह आप स्वयं है एवं रस तो नित्य है ही है-यह रस बललक्षण है । बल ही से रस का ज्ञान होता है । रस अपने प्रातिस्विकस्वरूप से निराकार है-व्यापक है-अपरिच्छिन्न है-विश्वातीत है-भला उसे हम जान ही कैसे सकते हैं ? उसका हम न कुछ बिगाड़ सकते, न सुधार सकते है । न उसे मन से जाना जा सकता-न आँखों से देखा जा सकता-न कान से सुना जा सकता है । वह तो शास्त्रानधिकृत है । उसके लिए श्रुति कहती है—

"यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्" ।।[2]

बात वास्तव में ठीक है-'नहीं' ही तो उसका स्वरूप है । जानना किसी विषय का हो सकता है । वह तत्त्व तो विषय से बाहर की चीज है । तुम जिसके लिए कहोगे-यह है-यह है-यह है, हम कहेंगे-यह भी नहीं है-यह भी नहीं है-यह भी नहीं है । संसार के सारे प्रपञ्चों से यह अलग है । '**इदमपि न इदमपि न**' करते चले जाइए-बस, उससे अलावा जो कुछ बचेगा-वही वह रस है-ब्रह्म है । इसलिए महात्मा तुलसीदास कहते हैं—

"नेति नेति कहि वेद पुकारा" ।

---

१ महिम्नस्तोत्र-७ । २ केनोप० २।११ ।

इस रस का ज्ञान, इस ब्रह्म की उपासना उसके स्व-स्वरूप से हर्गिज-हर्गिज नहीं हो सकती। उपासना बलविशिष्ट रस ही की हो सकती है-जिसे कि हम वैदिक परिभाषानुसार 'आत्मन्वी' कहेंगे।

वैदिक दर्शन में आत्मा और शरीर दोनों को अविनाभूत माना जाता है। आत्मा ही का नाम पुरुष है। यदि पुरुष है तो उसका पुर भी अवश्य है। यह आत्मा पुर में अर्थात् शरीर में रहता है-इसीलिए तो उसे पुरुष कहते हैं। कहने का तात्पर्य्य यह है कि आत्मा और शरीर दोनों अविनाभूत हैं। शरीर ही को बल कहते हैं एवं आत्मा ही को रस कहते हैं। रस कभी बल से जुदा नहीं हो सकता-बल कभी रस से जुदा नहीं हो सकता। तो बस, इस रसबलसमष्टि को अर्थात् आत्मशरीरसमष्टि को ही वैदिक परिभाषा में 'आत्मन्वी' कहा जाता है। शरीरविशिष्ट आत्मा का नाम आत्मन्वी है। यह आत्मा भी परमेश्वर, ईश्वर, जीव और जगत्-इन चारों भागों में विभक्त है। सर्वबलविशिष्ट रस को ही परमेश्वर किंवा परात्पर कहते हैं। यद्यपि बलस्वरूप शरीर के होने से परमेश्वर ईश्वरादिवत् आत्मन्वी अवश्य है-तथापि वह अपरिच्छिन्न है-असीम है-विभु है। जिसके लिए नेति नेति कहा जाता है-वह यही परमेश्वर है-इसी को 'परब्रह्म' कहा करते हैं। यह सर्वथा अनुपास्य है। इसमें सारे बल रहते हैं परन्तु रस के अधीन, अतएव यह बलों द्वारा परिच्छिन्न नहीं हो सकता। परन्तु ईश्वर परिच्छिन्न है। यद्यपि वह भी है सर्वबलविशिष्ट रसस्वरूप ही, तथापि बलों से (मायाबल से) वह परिच्छिन्न बना दिया जाता है। बलों से परिच्छिन्न होकर भी वह उनसे असंग रहता है-निर्विकृत रहता है, अतएव इसे 'अव्यय' कहा जाता है—

"सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्"-इति ॥[1]

यही अव्यय का लक्षण है। ईश्वर मायाबल से घिरा रहता है-उससे स्व-स्वरूप से अपरिच्छिन्न होता हुआ भी परिच्छिन्न रहता है, अतएव इसे मायी कहा जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" ॥[2]

बस, दूसरा आत्मन्वी यही अव्ययेश्वर है। उपासना इसी आत्मन्वी की जाती है-जो कि बलविशिष्ट है एवं परिच्छिन्न है। बात वास्तव में ठीक है। हम (जीव) तो ईश्वर के पेट में हैं, अतः पहले उसी के पास पहुँच सकते हैं। परमेश्वर तो ईश्वर के बाहर की वस्तु है। बाहर की वस्तु है-इससे कहीं इस भ्रम में नहीं पड़ जाना कि फिर हमारे पास तो परमेश्वर की सत्ता है ही नहीं। नहीं नहीं-वह तो जर्रे-जर्रे में व्याप्त है। वही ईश्वर है-वही जीव है-वही जगत् है। रस-बल से अलग और तीसरी वस्तु हो ही कैसे सकती है? सबमें सब हैं; परन्तु विषयभेद से, स्वरूपभेद से हम अवश्य ही जगत्, जीव ईश्वर और परमेश्वर-चारों को जुदा-जुदा कह सकते हैं। जगत् भोग्य है, जीव भोक्ता है,

१ गोपथ ब्रा० १।२६। २ श्वेताश्वतरोप० ४।१०।

ईश्वर नियन्ता है, परमेश्वर साक्षी है । परमेश्वर के पेट में ईश्वर है-एक ही ईश्वर नहीं है-अनन्त ईश्वर हैं । ईश्वर के पेट में हम अनन्त जीव हैं और जगत् है । हमारी दौड़ ईश्वर तक है, परमेश्वर तक नहीं । परमेश्वर तो सर्वथा अविज्ञेय है-अनुपास्य है- तटस्थलक्षणेन ज्ञेय है । हम तो क्या इस हमारे परमाकाश का-विश्व का नियन्ता ईश्वर भी उस परमेश्वर को जान सकता है या नहीं ?-इसमें सन्देह है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ।।
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद" ।।[1]

श्रुति **'वेद यदि वा न वेद'**-यह सन्देह के वाक्य बोलती है । चूंकि ईश्वर सर्वज्ञ है, अतएव उसके लिए "वह नहीं ही जान सकता"-यह भी नहीं कहा जा सकता एवं परमेश्वर जानने की वस्तु है ही नहीं, अतः जाना ही जाता है-यह भी नहीं कहा जा सकता-बस, इसीलिए **'सोऽङ्गवेद यदि वा न वेद'**-यह कहा जाता है । भला जिसको जानने में ईश्वर भी असमर्थ है-ईश्वर भी जानता है या नहीं-इसमें सन्देह है तो फिर उस ईश्वर के एक कतरेस्वरूप हम क्षुद्र जीवों को परमेश्वर का ज्ञान क्योंकर हो सकता है ? हम तो केवल ईश्वर को ही पहचान जाएँ तो बहुत है । हम फिर स्मरण दिला देते हैं कि ईश्वर से आत्मा ही अभिप्रेत नहीं है, आत्मन्वी अभिप्रेत है । शरीरविशिष्ट आत्मा अभिप्रेत है । केवल आत्मा की तो उपासना हो ही नहीं सकती । कहने का तात्पर्य्य यही है कि उस परमेश्वर के बाद में ईश्वर आत्मन्वी का दर्जा है-जो कि परिच्छिन्न है-ससीम है-अतएव उपास्य है । तीसरा आत्मन्वी है-जीव । जैसे ईश्वरात्मा का शरीर यह व्यापक विश्व है, तद्वत् जीवात्मा का शरीर-यह छोटा सा हाथ-नाक-कान वाला व्याप्य विश्व है । बस, तीसरा आत्मन्वी यह जीव है । चौथा आत्मन्वी जगत् है । इस जगत् के जितने भी पदार्थ हैं-जिन्हें कि वेदान्त की भाषा में जड़ कहते हैं-सात्म हैं । हमारे हिसाब से जीववत् जगत् के यच्चयावत् पदार्थ आत्मा हैं । विना रस के, विना आत्मा के भला बल रह ही कैसे सकता है । जीव में आत्मा ग्रन्थिबन्धनों की कमी के कारण उल्बण है-जगत् में बन्धनाधिक्यात् आत्मा अनुल्बण है । परन्तु है-आत्मा सबमें । चारों कहने को भिन्न हैं-वास्तव में देखा जाए तो जगत् जीवमय है-जीव ईश्वरमय है-ईश्वर परमेश्वरमय है । वह परमेश्वर ही तो सब कुछ है । सब कुछ आत्मा ही तो आत्मा है । इसीलिए चारों के भिन्न-भिन्न होने पर भी **'आत्मैवेदं सर्वम्'**-का यत्किञ्चित् भी विरोध नहीं समझना चाहिए ।

इस प्रकार से सारा प्रपञ्च **'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'**-के अनुसार परमेश्वर, ईश्वर, जीव और जगत्-इन चारों अधिकरणों में बँटा हुआ है । इन चारों में से परमेश्वर विश्वातीत है-अवाङ्मनसगो-

१ ऋग्वेद मं० १०।१२९।६-७ ।

चर है-अपरिच्छिन्न है-असीम है-एक रस है-विभु है-शान्त है-निर्विकृत है, अतएव अनुपास्य है। ईश्वर मायी है-परिच्छिन्न है-सर्वज्ञ है, अतएव उपास्य है। हम परमेश्वर की उपासना नहीं कर सकते, परन्तु ईश्वर की, अवर ब्रह्म की तो उपासना कर ही सकते हैं-इसी अभिप्राय से पुष्पदन्त कहते हैं—

"अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः।
पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः" ॥[1]

अव्यय, अक्षर और क्षरसमष्टि को ही आत्मा कहते हैं। अव्यय निमित्तकारण है-अक्षर असमवायिकारण है एवं क्षर समवायिकारण है। आत्मा के क्षरभाग से अर्थात् विकारक्षरभाग से ही चूंकि सारा विश्व बनता है एवं क्षरभाग है-आत्मा, अतएव-**'आत्मैवेदं सर्वम्'**-कहा जाता है। श्रुति में जहाँ भी **'आत्मैवेदं सर्वम्'**-आवे वहाँ विकारक्षर से तात्पर्य्य समझना चाहिए। **'असङ्गो ह्ययं आत्मा-न सज्जते न व्यथते न रिष्यते'**-इत्यादि आवे तो वहाँ अव्यय से ताल्लुक समझना चाहिए।

हमें प्रकृत में यही बतलाना है कि आत्मन्वी चार हैं। इन चारों में से परमेश्वर तो शास्त्रानधिकृत है, अतएव उसे हम छोडते हैं। बाकी रहे-ईश्वर-जीव और जगत्। ये तीनों ही सत्य हैं। विशिष्ट को मिलाकर अद्वैत है। बल ही रस का परिचायक है, अतः उपासना ईश्वरात्मन्वी की ही हो सकती है। परमेश्वरात्मा की जो कि अपरिच्छिन्न है- उपासना नहीं हो सकती। उपासना एक प्रकार का कर्म्म है। कर्म्म शुद्ध रस पर हो नहीं सकता। उसके लिए बल को आधार मानने की परम आवश्यकता है, अतएव हम कह सकते हैं कि उपासना विशिष्ट ही की हो सकती है-परमात्मा की नहीं। परन्तु ध्यान रहे-हम द्वैत मानते हैं, परन्तु फिर भी हमारा अद्वैत सुरक्षित रहता है। सत्ताभेद से द्वैतभाव हुआ करता है। यदि सत्ता एक है तो फिर आनन्त्य में भी अद्वैत का बाध नहीं हो सकता। बल रस से सर्वथा भिन्न वस्तु है, रस बल से सर्वथा भिन्न वस्तु है। रसवत् बल भी सच्चा पदार्थ है-तथापि चूंकि रस की सत्ता से ही बल सत् है-बल की सत्ता रस-सत्ता से भिन्न नहीं है, अतएव हम अद्वैतवाद का प्रतिपादन करने में हर्गिज नहीं सकुचा सकते। दोनों सच हैं। दोनों क्या ? तीनों सच हैं। यही रामानुज का मत है। बात वास्तव में ठीक है-उपासना तो विशिष्ट की हो सकती है-शङ्कराचार्य वाला आत्मतत्त्व तो अनुपास्य है।

इस प्रकार से रस और बल दोनों सच्चे हैं, तथापि यदि दोनों में तत्त्व की खोज की जाय तो वह रस ही होगा। बल तो क्षणिक है-विनाशी है-**'दुःखं दुःखम्'** है। सत्य तो रस ही है-आत्मा ही है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो वास्तव में आत्मा ही एक नित्यतत्त्व है। बल तो मृत्यु है। उसी

१ महिम्नस्तोत्र २।

आत्मतत्त्व के आधार पर बल की स्थिति रहती है। बस, 'आत्मा ही असली तत्त्व है–जगत् कुछ नहीं"–शङ्कराचार्य का यह कहना–सत्य है–सत्यतर है–सत्यतम है। रामानुज का हर हालत में विशिष्टाद्वैत को ही तत्त्व मानना अनुचित है। तत्त्व आत्मा ही को कहा जा सकता है–बल को नहीं। इसलिए स्वमतस्थापन करते हुए रामानुज का शङ्कराचार्य के मत का खण्डन करना बिलकुल गलत है एवं साथ ही में विशिष्ट-अद्वैत का स्थापना करते हुए विशिष्टाद्वैत का खण्डन करना शङ्कराचार्य का साहस है। अद्वैत भी सच्चा है–विशिष्टाद्वैत भी सच्चा है। विज्ञान के लिहाज से 'अद्वैत' सच्चा है, उपासना के लिहाज से विशिष्टाद्वैत सच्चा है। बस, इसीलिए हमने कहा है कि स्वमतस्थापन सबका सच्चा है एवं परमतनिराकरण सबका झूंठा है।

उपासना में विशिष्ट ही का उपयोग है, अतएव रामानुज कहते हैं कि जबकि वह अनुपास्य है तो फिर उसकी चर्चा करने की आवश्यकता ही क्या है? बस, इसीलिए वे (रामानुज) ४ अधिकरण न मानकर–ईश्वर–जीव और जगत्–इन तीनों अधिकरणों को ही मानते हैं। ईश्वर पर जाके उनके मत की समाप्ति है। उपासना का इसी विशिष्ट से सम्बन्ध है, अतएव परमेश्वर की चर्चा न करते हुए केवल ईश्वर-जीव एवं जगत्–इन तीनों के विषय में ही हम कुछ कहेंगे—

इस प्रकार से अपने स्वरूप में यह विश्व अर्थात् ईश्वरप्रणीत बहिर्जगत् ईश्वर से बिलकुल पृथक् है। एवमेव जीवात्मा से बनाए हुए जो अन्तर्जगत् हैं–वे भी अवश्य हैं। बहिर्जगत्वत् इन अन्तर्जगतों का भी अपलाप नहीं किया जा सकता। जैसे ईश्वर-ज्ञान से निर्मित बहिर्जगत् को हम 'अस्ति' से खारिज नहीं कर सकते तद्वत् ज्ञानस्वरूप जीवान्तर्जगत् को 'अस्ति' के बाहर क्योंकर निकाला जा सकता है? अपि च–इस अन्तर्जगत् के मूलतया जीव भी अवश्य ही हैं। मैं जो कुछ देख रहा हूँ–वह सब मेरा बनाया हुआ है। बहिर्जगत् तो मेरे से सर्वथा परोक्ष है। उसका प्रत्यक्ष मुझे कभी नहीं होता है। मुझे तो मेरे बनाए हुए अन्तर्जगत् का ही प्रत्यक्ष होता है। उस अन्तर्जगत् का मूल मैं ही हूँ। जब मैं उस मेरे अन्तर्जगत् का मूल हूँ तो फिर 'मैं' सत्ता से क्योंकर दूर किया जा सकता है? उस अन्तर्जगत् से अलग अवश्य ही मैं (जीव) हूँ–तभी तो अन्तर्जगत् बनाता हूँ। यदि मैं न होता तो अन्तर्जगत् का निर्म्माण कौन करता? चूंकि मैं अन्तर्जगत् का निर्म्माता हूँ, अतः मैं भी (जीव) अवश्य ही इस अन्तर्जगत् से अलग वस्तु हूँ। तात्पर्य्य यही है कि जैसे बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् सच्चे हैं, तद्वत् जीव भी सच्चा है–जगत्वत् उसकी भी सत्ता है।

बस, इन जीवों का जो प्रभु है–वह ईश्वर भी अवश्य है ही है। हम देखते हैं कि हजारों जीव मर गए और उत्पन्न होते हैं। यह आविर्भाव-तिरोभाव तभी बन सकता है–जबकि जीवों से अलग कोई नित्यतत्त्व माना जाय। बस, उसी नित्यतत्त्व को जो कि जीवों का शासक है–हम ईश्वर कहेंगे। अपि च–जैसे अन्तर्जगत् के निर्माता हम हैं–हमारे बिना अन्तर्जगत् बन ही नहीं सकता है–बस, तद्वत् ही जगत्त्व-सादृश्यात् इस बहिर्जगत् का निर्म्माता भी कोई न कोई अवश्य ही मानना पड़ेगा। वही ईश्वर है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि ईश्वर भी है, जीव भी है एवं जगत् भी है। तीनों एक से एक सर्वथा पृथक्

हैं। तीनों एक हैं-त्रित्व मिथ्या है-यह कथमपि नहीं कहा जा सकता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"इत्थं स्वरूपात् पृथगस्ति विश्वं जीवात्मक्लृप्तानि जगन्ति सन्ति।
जीवा जगन्मूलतया च सन्ति प्रभुश्च तेषामयमीश्वरोऽस्ति" ।।२४८।।

परमेश्वर शास्त्रानधिकृत है, अतएव उसके विषय में हमें कुछ नहीं कहना। कहना क्या नहीं, कह नहीं सकते। बस, बाकी बचे ईश्वर-जीव और जगत्। बस, सारे धर्म्मों के, अखिल प्रपञ्चों के जड़ (जगत्) जीव और ईश्वर भेद से तीन ही अधिकरण माने जाते हैं। विशिष्टाद्वैतवादी-सारे प्रपञ्च को ईश्वर, जीव और जगत्-इन तीन क्लासों में बाँटते हैं। उन्हीं तीनों को अधिदैवत, अध्यात्म और अधिभूत-इन शब्दों से व्यवहृत किया जाता है।

जो ईश्वर है-वह अधिदैवत क्लास की चीज है, जीव अध्यात्म क्लास की वस्तु है एवं पार्थिव पदार्थ अधिभूत क्लास की वस्तु है। यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाय तो सारा प्रपञ्च अधिदैवत के अन्तर्गत है। क्योंकि जीव और जगत्-दोनों ईश्वर ही के पेट में तो हैं। परन्तु व्याप्य-व्यापक भेद से अधिदैवतादि तीन क्लास मानने ही पड़ते हैं। सूर्य्य-चन्द्र-नक्षत्र-इत्यादि इत्यादि अधिदैवतान्तर्गत हैं। घट-पट-पाषाण-पर्वत इत्यादि अधिभूतान्तर्गत हैं एवं कान-नाक-आँख इत्यादि इन्द्रियाँ अध्यात्मान्तर्गत हैं। बस, सारा प्रपञ्च इन तीन ही अधिकरणों में बँटा हुआ है। इन तीनों से अलावा और चौथा क्लास कोई है ही नहीं।। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"जडजीवेश्वरभेदात् त्रीण्यधिकरणानि सर्वधर्माणाम्।
आहुस्तान्यधिभूतं चाध्यात्मं चाधिदैवतं चेति" ।।२४९।।

संसार के जितने भी जड़ पदार्थ हैं-वे एवं सारे जीव और ईश्वर-इन तीनों आत्मन्वियों का जो एक विशिष्टस्वरूप है- उसी को हम 'ब्रह्म' कहते हैं। तीनों की समष्टि का नाम ही ब्रह्म है। उस ईश्वर के पेट में ही जीव और जगत् के पदार्थ बैठे हुए हैं। सब, उस ईश्वर की महिमा में ओतप्रोत हैं। सब पर ईश्वर हावी है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्" ।।[1]

जब सारे प्रपञ्च का अधिष्ठाता ईश्वर है तो उस अधिष्ठाता के ग्रहण से अवश्य ही जीव और जगत् का ग्रहण हो जाता है। '**तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते**'-इस लौकिक न्याय के अनुसार ईश्वरग्रहणेन

१-ईशोप० १।

तन्मध्यपतित जीव और जगत् का भी ग्रहण हो जाता है। जीव अनन्त हैं एवं जगत् के पदार्थ भी अनन्त हैं, तथापि उन सबका आधार एक है-इसलिए तीनों को मिला करके एक वस्तु है। वन में हजारों वृक्ष हैं-उन वृक्षों को पेट में लेने वाला वन एक है। क्या वन में हजारों वृक्ष नहीं हैं ? हैं-अवश्य हैं। हम आपसे पूछते हैं-वृक्षसहित वन में एकत्व व्यवहार होता है-या नहीं ? आपको कहना पड़ेगा कि होता है-अवश्य होता है। बस, इसी प्रकार से जीव-ईश्वर और जड़-तीनों को मिलाकर के एक वस्तु है। उस एक पदार्थ को ही हम 'ब्रह्म' कहते हैं। भेदसहिष्णु अभेद है। उस ईश्वर ही से जीव और जगत् बने हैं, अतः अलग होते हुए भी दोनों ब्रह्म ही के अन्तर्गत हैं।

यह जो ब्रह्म है-वह परब्रह्म और अवरब्रह्म भेद से दो प्रकार का है। बस, इस परब्रह्म और अवरब्रह्म से अलावा और कुछ भी नहीं है। जो कुछ है-सब यही है। जो परमेश्वर है-वही परब्रह्म एवं ईश्वर-जीव-जगत् तीनों का जो एक स्वरूप है-वही अवरब्रह्म है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"जडाश्च जीवाश्च तथेश्वरश्च त्रिभिर्विशिष्टं यदिहैकरूपम्।
तद् ब्रह्म तच्च द्विविधं परं चावरं च नातः परमस्ति किञ्चित्" ॥२५०॥

घट-पट-वस्त्र-वन-पर्वत-आँख-नाँक इत्यादि इत्यादि जितने भी जड़ पदार्थ हैं-अचित् हैं-वह एक जीव और ईश्वर से बिलकुल निराला क्लास है। अचित् अचित् का सारा सीगा जीवेश्वर से सर्वथा पृथक् है। यह सारा का सारा अचित्-प्रपञ्च अर्थात् अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्-जीव की चेतना के प्रवेश से सात्म है। अर्थात् जीवचित् ही इन सब अचितों का आत्मा है। जीवचित् से सारे अचित् सात्म हैं। सारा जगत् आत्ममय है। एवमेव सम्पूर्ण जीव ईश्वर से सर्वथा पृथक् हैं। जीवक्लास बिलकुल जुदी चीज है। यह जीव उस ईश्वर के चित् से सात्म है। अर्थात् ईश्वर की चेतना से ही जीव अपने स्वस्वरूप से स्थित है। जीव उस चित् का आभास है, अतएव चिदाभास कहलाता है। बस, इस प्रकार से जीव-जगत् और ईश्वर तीनों का ऐक्य हो जाता है। सारा जगत्-प्रपञ्च हमारे आत्मा से सात्म है अर्थात् सारा प्रपञ्च हमारे में बैठा हुआ है एवं हम ईश्वर में बैठे हुए हैं। इस प्रकार से तीनों मिलकर एक वस्तु हैं। जब उस आत्मा पर गाँठे नहीं लगती हैं तो वह ईश्वर कहलाता है एवं ग्रन्थिबन्धन से वही आत्मा जीवात्मा कहलाने लगता है एवं अत्यधिकतम ग्रन्थिबन्धन से वही आत्मा जगत्स्वरूप में परिणत हो जाता है। अर्थात् बलों बलों की गाँठों से आत्मा स्व-स्वरूप से सदा अबद्ध ही रहता हुआ भी बद्धवत् हो जाता है। वास्तव में ईश्वर-जीव और जगत् तीनों मिलाकर एक हैं। परन्तु ध्यान रहे अद्वैत नहीं है-विशिष्टाद्वैत है। जगत्विशिष्ट ईश्वर में अद्वैतत्व बल और रस दो पदार्थ हैं। बल-विशिष्ट ब्रह्म है। चूंकि बल की सत्ता रस से अलग नहीं है, अतएव रस और बल दो पदार्थ होने पर भी अद्वैत का बाध नहीं होता है। तात्पर्य्य यही है कि सारा जगत् जीवचित् से सात्म है-हम ईश्वर से सात्म हैं, अतएव तीनों मिलाकर एक ब्रह्म है-विशिष्टाद्वैत है। इसी अभिप्राय से भगवान् व्यास कहते हैं—

"तस्माद् युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत् ।
आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे" ॥[1]

इन्द्रियग्रामों का अर्थात् आंख-कान-नाक-मुंह इत्यादि का संयम करके युक्तचित्त होकर के अर्थात् मन को वश में करके इस सारे जगत् को आत्मा में वितत देखो । अर्थात् सारे जगत् को अपने में बैठा हुआ देखो । हम ईश्वर के अंश हैं–चूंकि ईश्वर के आत्मा में-ज्ञान में सारा जगत् बैठा हुआ है, अतएव ईश्वर के अंशभूत हम जीवों को भी सारे जगत्-प्रपञ्च को अपने आत्मा में बैठे रहने की भावना करनी चाहिए । बस, इसी अभिप्राय से–**'इदं जगदात्मनीक्षस्व विततम्'**–कहा गया है । इस प्रकार से सारे जगत्-प्रपञ्च को अपने में वितत समझो और उस आत्मा को मुझ ईश्वर में वितत समझो । अर्थात् जगत् को आत्मा समझो–आत्मा को मुझे समझो । बस, जिस दिन ऐसा समझ लिया जाएगा–समझ लो मुक्ति हो गई । तो इस भागवत के प्रमाण से स्पष्ट ही जड़-जीव और ईश्वर तीनों का ऐक्य सिद्ध हो जाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है–

"अचित्तु कृत्स्नं पृथगेकमेकं सात्मास्ति जीवेन चिता प्रवेशात् ।
जीवश्च कृत्स्नः पृथगेक एकः सात्मेश्वरेणास्ति तदित्थमैक्यम्" ॥२५१॥

जीवात्मा का जो शरीर है–वह हाड, मांस, चर्बी, रुधिर, मज्जा, वपा–इत्यादि इत्यादि जड़ पदार्थों से बना हुआ है । जीवात्मा स्वयं चेतन है और इसका शरीर जड़ है । तो जिस प्रकार से इन जड़ पदार्थों से जीवात्मा का शरीर बना हुआ है, तद्वत् इन सारे जीवात्माओं से ईश्वर का शरीर बना हुआ है । एक सूर्य्य में से दस हजार रश्मियां निकल रही हैं । सारी रश्मियां परस्पर पृथक् हैं । यदि उस सूय्य का शरीर किससे बना है ? –यह पूछा जाए तो सिवाय–'रश्मियों से बना है'–इसके अलावा और कोई उत्तर नहीं हो सकता । बात वास्तव में ठीक है । हम जीवों से ही तो उस ईश्वर का स्वरूप बना हुआ है । यदि एक एक करके सारे वृक्ष काट दिए जाएँ तो 'वन' का शरीर स्वयं मर जाएगा । यदि एक-एक करके सारे सिपाही मार दिए जाएँगे तो 'सेना' स्वयं मर जाएगी । यदि एक एक करके सारे घर नष्ट कर दिए जाएँगे तो 'ग्राम' स्वयं नष्ट हो जाएगा । वृक्षसमष्टि ही वन का शरीर है, सिपाही ही सेना का स्वरूप है–बस, इसी प्रकार से जीव ही ईश्वर का शरीर है । जिस प्रकार से जीव अपने इस जड़ शरीर का मालिक है–जैसे चाहता है–वैसे ही इस अपने शरीर पर हुकूमत किया करता है । बस, इसी प्रकार से जीवों में जीवस्वरूप अपने शरीर में वह ईश्वर विभु है–वह जैसे चाहता है–जीवों पर हुकूमत करता रहता है । वह चाहता है–जिस जीव को दुःखी बना देता है–वह चाहता है–उसे सुखी बना देता है । उसके कृपा-कटाक्ष पर जीवजी सुखी हैं एवं भृकुटी तनाव से जीवजी दुःखी हैं । यह जीव ईश्वरमय है । इसके जर्रे-जर्रे में वह ईश्वर व्याप्त हो रहा है । ईश्वर जीव को जिधर

१–श्रीमद्भागवतपुराण ११।७।९ ।

चलाता है-उसे उधर ही चलना पड़ता है। यह 'तृणस्य कुब्जीकरणेऽपि'-असमर्थ है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"जीवस्य देहोऽस्ति जडैः कृतोऽयं जीवैः कृतो देह इहेश्वरस्य
जीवः शरीरे विभुरेवमीशो जीवे विभुस्तन्मय एष जीवः" ॥२५२॥

जीव और जड़ अर्थात्-चित् जीव और अचित् जगत् से यह ईश्वर युक्त है। अन्तर्जगत् के शासक जैसे हम हैं, तद्वत् हमारे और बहिर्जगत् के ऊपर अहर्निश वह ईश्वर शासन किया करता है। चित् और अचित् (जीव-जगत्) दोनों का स्वामी यही है। यह चाहता है तब प्रलय हो जाता है-यह चाहता है, सृष्टि हो जाती है। मदारी जैसे बंदरिया को नचाया करता है, तद्वत् यह ईश्वर जीव और जगत् को अपने इशारों की तान पर नचाया करता है। बस, इस चिदचित्-विशिष्ट ईश्वर को ही हम 'ब्रह्म' कहते हैं। जगत् अचित् है-जीव चित् है और ब्रह्म चिदचित्-विशिष्ट है। बस, इसी को अवर ब्रह्म कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"चिताऽचिता चोपहितोऽयमीशश्चितोऽचितश्चानिशमेक ईष्टे।
अथो विशिष्टं तु चिताचिता चेश्वरं हि तं ब्रह्मपदेन वच्मि" ॥२५३॥

ध्यान रहे-यद्यपि है-तीनों को मिला करके एकत्व, तथापि तीनों स्वस्वरूप से अलग-अलग हैं। जैसे स्वामी नौकर नहीं हो सकता, तद्वत् ईश्वर जीव नहीं बन सकता। जीव अनुचर है, ईश्वर स्वामी है। जीव और ईश्वर में कई बातों का फरक है-जिससे दोनों को एक नहीं बतलाया जा सकता। जीव की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति-इत्यादि नाना अवस्थाएँ होती हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मोह, मूर्च्छा, मृत्यु, मुक्ति-इत्यादि नाना अवस्थाओं में जीव परिणत होता रहता है। कभी सोता रहता है-कभी जागता रहता है। अपि च-यह जीव सदा बन्धन में रहता है, परवश रहता है। यह चाहता है कि मैं सुखी हो जाऊँ, परन्तु लाचार है। कष्ट को दूर करने की इच्छा रखता हुआ भी पारवश्यात् उसे दूर नहीं कर सकता। परन्तु ईश्वर इससे बिलकुल विभिन्नधर्म्मा है। वह अनन्त कल्याणगुणस्वरूप है। सारे दोषों से, नाना अवस्थाओं से अस्पृष्ट है। बस, ईश्वर को बिलकुल दोषों से रहित अनन्तकल्याणगुणाकर समझना चाहिए, अतएव योगदर्शन में ईश्वर का लक्षण किया गया है—

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः-इति" ॥[1]

भला, ऐसी हालत में जीव और ईश्वर समान कैसे हो सकते हैं? जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"जीवस्य नाना प्रभवन्त्यवस्थाः स्वप्नादिका बन्धयुतोऽपि सोऽस्ति।
अनन्तकल्याणगुणस्तु दोषैरस्पृष्ट एवेश्वर एष भाव्यः" ॥२५४॥

१-पातञ्जलयोगसूत्र १।२३।

अपि च-ईश्वर क्षुधा-पिपासारहित है। न उसे भूख लगती है न प्यास लगती है-वह शोक रहित है-मृत्युरहित है-विजर है-विपाप्मा है। अर्थात् पाप्मा उस पर असर नहीं डाल सकते। वह सदा विकारों से अलग ही रहता है। वह सत्यसंकल्प है, अतएव सत्यकाम है। वह चाहता है-वही कर डालता है। उसकी इच्छा का बाध सर्वथा नहीं हो सकता है। परन्तु जीव की हालत ठीक इससे विपरीत है, उसे रात-दिन भूख-प्यास सताया करती हैं। उस पर सदा पाप्माओं का आक्रमण होता रहता है। उसे वृद्धावस्था सताया करती है। भला, यह क्योंकर ईश्वरस्वरूप हो सकता है? हाँ, ईश्वर की कृपा से इसमें सत्यकामादि धर्म्म अवश्य ही आ सकते हैं। यदि ईश्वर कृपा कर देता है तो अवश्य ही उसके धर्म्म जीव में भी आ जाते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"क्षुधापिपासारहितो विशोको विमृत्युरेवं विजरो विपाप्मा।
स सत्यसंकल्पकसत्यकामोऽप्यस्तीश्वरस्तत्कृपया तु जीवः" ॥२५५॥

जीव सर्वथा परतन्त्र है। न इसके हाथ में मरना है-न उत्पन्न होना है। सर्वथा स्वतन्त्र वह व्यापक (जीवापेक्षया) ईश्वर ही इस जीव की भुक्ति-मुक्ति का वितान करता है। वह चाहता है-जब ही जीव का आविर्भाव होता है, वह चाहता है तभी तिरोभाव होता है। जन्म-मरण दोनों ईश्वराधीन हैं। उस ईश्वर के अनुग्रह से उसकी कृपा से जीव भी दोषरहित और कल्याणगुणाकर हो सकता है। उस दयालु की कृपा से जीव के सारे बन्धन टूट सकते हैं। जन्म-मरण उसके अधीन हो सकता है। दुःख से निवृत्ति हो जाती है। कल्याणस्वरूप बन जाता है। परन्तु ये सब बातें उसी ईश्वर के कृपा-कटाक्ष पर निर्भर है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"जीवोऽस्वतन्त्रोऽस्य हि भुक्तिमुक्ती स्वतन्त्र एवेश्वर आतनोति।
तदीश्वरानुग्रहतस्तु जीवोऽप्यदोषकल्याणगुणाकरः स्यात्" ॥२५६॥

ईश्वर जीव के कर्म्म का द्रष्टा है-साक्षी है। जीव जो कुछ करता है-उस सबको ईश्वर देखा करता है। जीव किस समय क्या अनाचार करता है? क्या पाप करता है? क्या पुण्य करता है?-इन सबकी ईश्वर को खबर रहती है। वह ईश्वर दयालुतावशात् जब अनुग्रह करता है-जीव के सारे कर्म्मप्रपञ्चों को नष्ट कर-सारे दोषों का मार्जन कर कर्म्मबन्धनों से छुडाकर अपने समानभाव को उस जीव में देखने लगता है अर्थात् कल्याणगुणाकरत्व, सत्यसंकल्पत्व, सत्यकामत्व, अशोकत्व, विजरत्व, बन्धनराहित्य इत्यादि-इत्यादि जितने भी अपने धर्म्म हैं-उन सबको वह जीव में भी अनुग्रह करके दे देता है। वह अनुग्रहवशात् सारे गुणों को जीव में देकर उसे अपने समान ही देखने लगता है। तात्पर्य्य यही है कि ईश्वरानुग्रह से जीव ईश्वर के समान हो जाता है। समान हो जाता है किन्तु वही नहीं बन जाता है। रामानुज के मत में अपरामुक्ति होती है-सालोक्य-सामीप्य-सारूप्य ही होती है-सायुज्यमुक्ति नहीं होती-जिसे कि परामुक्ति किंवा समवलयमुक्ति कहते हैं। इसी अभिप्राय से **'साम्यं निजमत्र पश्यति'**-यही कहा गया है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"द्रष्टा हि तत्कर्मण एष ईश्वरो यदानुगृह्णाति तदैष जीवतः ।
सर्वाणि कर्माण्यपमृज्य बन्धनादुन्मोच्य साम्यं निजमत्र पश्यति" ।।२५७।।

किन-किन बातों में जीव ईश्वर के समान हो जाता है-यह बतलाते हैं–ईश्वर के साथ इस जीव का निर्दोषकल्याणगुणाकरत्वेन एवं प्राकाम्यत्वेन साम्य हो जाता है । अर्थात् क्षुधापिपासादि ६ ऊर्मियाँ नष्ट हो जाती हैं, एवं जाग्रत्-स्वप्नादि ६ ओं अवस्थाएँ नष्ट हो जाती हैं, परवशता जाती रहती है एवं कल्याणपरम्परा का भोक्ता बन जाता है–सारे दुःख नष्ट हो जाते हैं एवं यथेच्छाचारी बन जाता है–अर्थात् स्वातन्त्र्येण चाहे जिस लोक में जा सकता है । बस, इन बातों में यह ईश्वर के समान हो जाता है । परन्तु जीवमुक्त होकर ईश्वरवत् जगत् की उत्पत्ति–रक्षा किंवा विनाश करने लग जाय–यह बात सर्वथा नहीं है । ईश्वरवत् मुक्तजीवनतया जगत् बना सकता है–न जगत् की रक्षा कर सकता है–न उसका नाश ही कर सकता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"निर्दोषकल्याणगुणाकरत्वतः प्राकाम्यतः साम्यमिहास्य जायते ।
न त्वेष मुक्तो जगतः प्रसर्जनं रक्षां क्षयं चेश्वरवत् करिष्यति" ।।२५८।।

हमने पूर्व में ब्रह्म को पर और अवर भेद से दो प्रकार का बतलाया है । उन दोनों ब्रह्मों में से जो परब्रह्म है–उसे ही 'अनिरुक्त' कहते हैं । अव्यक्त, अव्याकृत एवं सूक्ष्मस्वरूप वह अनिरुक्त ब्रह्म ही इस विश्व का–इस अवरब्रह्म का मूलकारण है । उसी अव्यक्त से यह व्यक्त जगत् उत्पन्न होता है एवं उसी अव्यक्त में लीन हो जाता है । इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

"अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना" ।।[1]

इस अवरब्रह्म का वही परब्रह्म मूल है । उसी से यह अवरब्रह्म उत्पन्न होता है । अवरब्रह्म कार्यब्रह्म है–परब्रह्म कारण ब्रह्म है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ब्रह्म द्विधा प्रागुदितं परं चावरं च तत्रास्त्यनिरुक्तमाद्यम् ।
अव्यक्तमव्याकृतसूक्ष्मरूपं तदस्य विश्वस्य हि बीजमस्ति" ।।२५९।।

यह स्थूल विश्व जिसका कि हमें प्रत्यक्ष हो रहा है–अवरब्रह्म है अर्थात् जो स्थूल विश्व हमें दिखलाई पड़ रहा है–उसे अवरब्रह्म समझना चाहिए । यह अवरब्रह्म उस परब्रह्म का परिणाममात्र है । जैसे मिट्टी का परिणाम घड़ा है, तन्तु का परिणाम वस्त्र है–ठीक वैसे ही उस परब्रह्म का परिणाम विश्वात्मक यह अवरब्रह्म है । यह विश्व–यह अवरब्रह्म उस परब्रह्म में से उत्पन्न हुआ

१–गीता २।२८ ।

है-उसी पर स्थित रहता है एवं उसी में विलीन हो जाता है। अर्थात् इस अवरब्रह्म का परब्रह्म ही प्रभव-प्रतिष्ठा और परायण है। उसी में से सारा जगत् उत्पन्न होता है-उत्पन्न होकर उसी पर ठहरता है एवं अन्त में उसी में लीन हो जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"स्थूलं तु यद्विश्वमिदं विभाति ब्रह्मावरं तत् परिकार्य्यमेतत्।
इदं परस्मादुदितं परस्मिन् स्थितं परस्मिंश्च विलीयते तत्" ॥२६०॥

परन्तु ध्यान रहे-इस अवरब्रह्म का उस परब्रह्म से है सर्वथा अभेद ही। वह ब्रह्म पहले एक था-वही पर और अवरस्वरूप में परिणत हो गया है। वही मिट्टी घट और मिट्टी दोनों स्वरूपों में परिणत हो गई है। जैसे मिट्टी से उत्पन्न हो घड़ा अन्त में (फूटने पर) उसी मिट्टी में विलीन हो जाता है-तद्वत् ही यह अवरब्रह्म उसी परब्रह्म से आविर्भूत होकर अन्त में उसी में विलीन हो जाता है। जिसका जो प्रभव-प्रतिष्ठा एवं परायण होता है-उससे वह अभिन्न हुआ करता है-यह सामान्य नियम है। घड़े की प्रभव-प्रतिष्ठा और परायण मिट्टी है, अतएव घड़ा मिट्टी से अभिन्न है। कपड़ा तन्तु से अभिन्न है बस, ठीक उसी प्रकार से अवरब्रह्म परब्रह्म से सर्वथा अभिन्न है। परब्रह्म और अवरब्रह्म-इन दो शब्दों से द्वैत के चक्कर में नहीं पड़ जाना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"तत्रावरस्यास्ति परेण तेनाभेदस्तदेकं ह्यभवद् द्विधेदम्।
उद्भूय तस्मात् परतोऽवरं तत् पुनः परिस्मन् भवति प्रलीनम्" ॥२६१॥

परब्रह्म से अवरब्रह्म किस समय आविर्भूत होता है-यह बतलाते है-

परब्रह्म से अवरब्रह्म के आविर्भूत होने के लिए कोई नियत समय नहीं है। प्रतिक्षण उस परब्रह्म से अवरब्रह्म उत्पन्न हुआ करता है-अर्थात् प्रतिक्षण संसार बनता रहता है एवं साथ ही में प्रतिक्षण ही वह अवरब्रह्म परब्रह्म में लीन भी होता रहता है। संसार के पदार्थ प्रतिक्षण नये-नये बन रहे हैं एवं प्रतिक्षण पुराने उस अपने प्रभव परब्रह्म में विलीन हो रहे हैं। उत्पत्ति स्थिति और लय-ये तीन क्षण होते हैं। इनमें से जो स्थितिक्षण है-वह भी बदला हुआ ही रहता है। अर्थात् उसका एक क्षण का ठहराव भी चलने के रूप में ही रहता है। ठहरता है-परन्तु चलता हुआ। पानी की लहर का एक क्षण ठहराव अवश्य है, परन्तु वह ठहराव भी चलता ही रहता है। तात्पर्य्य यही है कि प्रतिक्षण परिवर्त्तन होता रहता है। उस ब्रह्म में से अवरब्रह्म प्रतिक्षण उत्पन्न होता रहता है एवं प्रतिक्षण वह उत्पन्न कार्य्यब्रह्म उस कारण ब्रह्म में अपीत होता रहता है। कहीं सारा जगत् गायब हो जाता है-कहीं बिलकुल नया बनता रहता है-कहीं वर्त्तमान अवस्था में रहता है। कोई जगत् एकदम नया बन रहा है-कोई बनकर एकदम बिगड़ गया है-कोई बनकर वर्त्तमान अवस्था में मौजूद है-जिसे कि हम हमारा जगत् कहते हैं। बस, यह धाराक्रम अनवरत चलता रहता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"प्रतिक्षणं तत्परतोऽवरोद्भवः परत्र चापैत्यवरं प्रतिक्षणम् ।
मध्येऽन्यथा रूपतयोद्भवः क्वचिद्विच्छिद्यते क्वापि नवं प्रवर्तते" ।।२६२।।

सर्वबलविशिष्ट उस परब्रह्म से–परात्पर से–परमेश्वर से–बलविशिष्ट ही यह विश्व उत्पन्न हुआ है । अर्थात् विशिष्ट से विशिष्ट ही विश्व उत्पन्न हुआ है । इस प्रकार से घटमृत्तिकावत् तन्तुवस्त्रवत् –इन दोनों विशिष्ट ब्रह्मों में–परब्रह्म-अवरब्रह्म में चूंकि कुछ भी भेद नहीं है–दोनों एक वस्तु हैं– इसीलिए हम इसको विशिष्टाद्वय कहने के लिए तय्यार हैं । अर्थात् परब्रह्म और अवरब्रह्म से द्वैत हो गया, विशिष्टाद्वैत नहीं रहा–इस भ्रम में हर्गिज नहीं पड़ना चाहिए ! जो ब्रह्म अव्याकृत था–वही व्याकृत होता हुआ अवरब्रह्म कहलाने लगता है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ।।[1]

जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"विशिष्टतोऽस्मात् परतो विशिष्टं त्वेवावरं विश्वमिदं बभूव ।
विशिष्टयोश्चास्ति तयोर्न भेदस्तस्माद् विशिष्टाद्वयमेतदाहुः" ।।२६३।।

चाहे विशिष्ट परब्रह्म हो, चाहे विशिष्ट अवरब्रह्म हो दोनों ही अपने-अपने प्रातिस्विक स्वस्वरूप से सर्वथा भिन्न जीव-जगत् और ईश्वर–इन तीनों सत्यों से अचित्-चित्-ईश से इसका (विशिष्ट ब्रह्म का) स्वरूप बना हुआ है, अतएव दार्शनिक लोग इसे विशिष्ट त्रिसत्य कहते हैं । तीनों के मेल से विशिष्ट-ब्रह्म का स्वरूप बना हुआ है, अतएव दार्शनिकों ने त्रिसत्याद्वैतवाद की स्थापना की है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"विशिष्टमेतद्ध्यवरं परं वा सत्यैस्त्रिभिर्भिन्नतमैः स्वरूपात् ।
अचिच्चिदीशैरुदितं विशिष्टत्रिसत्यमेतत् प्रवदन्ति तस्मात्" ।।२६४।।

।। इति जडजीवेश्वराणां विशिष्टाद्वैतम् ।।

——❀——

९–जगज्जीवेश्वराणां सत्यत्वात् तद्विज्ञानस्य त्रिसत्योपनिषत्त्वम् ।

जगत्-जीव और ईश्वर के सत्यत्व से तद्विज्ञान का त्रिसत्योपनिषत्त्व–

जब ऐसी परिस्थिति है तो यह विश्व हर्गिज-हर्गिज झूंठा नहीं हो सकता । ज्ञान भी सत्य है और विश्व भी सत्य है । जीव-जगत्-ईश्वर तीनों सत्य हैं । तीनों में से एक को भी मिथ्या नहीं

१–ईशोप० मङ्गलपाठ० ।

बतलाया जा सकता। ज्ञान जीव और ईश्वर भेद से चूंकि दो प्रकार का है, अतएव यह विश्व भी दो ही प्रकार का होना चाहिए। ज्ञान से बनता है-जगत् एवं वह है-जीवेश्वरभेदात् दो प्रकार का तो सुतरां जगद् द्वैत सिद्ध हो जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"नैवं स्थिते विश्वमसत्यमेतज्ज्ञानं च सत्यं विषयाश्च सत्याः।
ज्ञानं च जीवेश्वरभेदतः स्याद् द्विधा तयोर्विश्वमपि द्विधा स्यात्" ॥२६५॥

वह ईश्वर एक है एवं उस ईश्वर के पेट में जीव अनन्तानन्त हैं। चूंकि ईश्वर एक है, अतएव उसका यह बहिर्जगत् भी एक ही है-जिसे कि हम नहीं देखते। जीव अनन्त हैं, अतएव अन्तर्जगत् भी अनन्त ही हैं। बस, ईश्वर और ईश्वरजगत्, जीव और जीवजगत् इनसे अलावा इस संसार में कुछ भी वेद्य नहीं है। बात वास्तव में सच है-इनके अलावा और बच ही क्या जाता है? जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"एकः स ईशो बहवस्तु जीवा एकं बहिर्धा जगदीश्वरस्य।
अन्तर्जगन्त्यत्र बहूनि तु स्युर्नातः परं किञ्चिदिहास्ति वेद्यम्" ॥२६६॥

ईश्वर सत्-शब्देन व्यवहृत होता है-अर्थात् ईश्वर को 'सत्' कहते हैं। जगत् असत् (जड़) शब्देन व्यवहृत होता है एवं जीव सदसत् शब्द से व्यवहृत होता है। शरीरभाग इसका असत् है एवं वह स्वयं सत् है-इसीलिए यह सदसत् कहलाता है। चूंकि सदसत् के अलावा और कुछ नहीं है, अतएव दार्शनिक लोग भूत-भविष्यत् किंवा वर्त्तमान-इन तीनों को 'सदसत्' शब्द से कहा करते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"सन्नीश्वरोऽसौ जगदुच्यतेऽसज्जीवस्त्वयं स्यात् सदसत्स्वरूपः।
वदन्ति तस्माद् भुवनं भविष्यद् भूतं च विज्ञाः सदसत्पदेन" ॥२६७॥

मैं (जीव) सत्य हूँ। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। स्वानुभवैकगम्य हूँ-मेरी सत्ता में किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। यदि दीप को दिखलाने के लिए अन्य दीपक की आवश्यकता हो तो मुझे दिखलाने के लिए किसी अन्य साधन की अपेक्षा हो। मैं तो दीपवत् स्वतः प्रकाश हूँ। भला मैं मिथ्या हूँ-अर्थात् नहीं हूँ-यह क्योंकर हो सकता है? जबकि मैं सत्य हूँ तो मेरे समान अन्य जीव भी सत्यस्वरूप ही हैं-यह अवश्य ही मानना पड़ेगा। क्योंकि जैसे अहंत्वेन मैं सत्य हूँ-वैसे ही अहंत्वेन मेरे से अलावा जो जीव हैं-वे भी सत्यस्वरूप ही हैं। 'अहमस्मि'-यह स्वानुभव जैसे मुझे सत्यस्वरूप बतलाता है-तद्वत् ही वही अहंत्व उन्हें भी सत्यस्वरूपयुक्त सिद्ध करता है। परन्तु इन जीवों की-चिदाभासों की जगत् के अलावा उपपत्ति हो नहीं सकती-इसलिए जगत् को भी हम सत्यस्वरूप ही मानने के लिए तय्यार हैं। जीव चित् का आभास है-प्रतिबिम्ब है। जैसे सूर्य्य के प्रतिबिम्बों के लिए काच की किंवा पानी की अपेक्षा

है-तद्वत् जीव प्रतिबिम्ब के लिए अवश्य ही जीव से किसी अन्य की आवश्यकता है। बस, इससे जगत् सत्यत्व सिद्ध हो जाता है। हमारी सत्यता से जगत्-सत्यत्व का अनुमान होता है। यदि हमारे से अलग कोई जगत् न होता तो हमारा स्वरूप ही कैसे बनता-क्योंकि हम तो चित् के प्रतिबिम्ब हैं।

कहने का तात्पर्य्य यही है कि जीव भी सत्य है और जगत् भी सत्य हैं। दोनों सत्य है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है--

"अहं हि सत्यं तदतः परेऽपि जीवा अहंत्वादविशेषसत्याः।
यस्मान्न तेषामुपपत्तिरन्या तस्माज्जगत्सत्यमिति ब्रवीमि" ॥२६८॥

इस प्रकार से जगत्-जीव और ईश्वराख्य जो सत्यत्रय हैं-इन तीनों की परीक्षा करनी चाहिए-खोज करनी चाहिए। गहरी डुबकी लगाकर देखिए-ये तीनों सत्य हैं अथवा नहीं ? आपको स्वयं मालूम हो जाएगा-इस विषय में हमें अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

हाँ, इस विषय में हम इतना अवश्य कहेंगे कि जड़-जीव-ईश्वर-इन तीनों में से जीव और जगत् की अपेक्षा परमेश्वर (ईश्वर) ही मुख्य है। जीव इसी परमेश्वर की उपासना करते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"इत्थं जगज्जीवतदीश्वराख्यं तत्त्वत्रयं सत्यमिदं परीक्ष्यम्।
तत्रापि मुख्यः परमेश्वरोऽयं जीवा जगच्चेदमुपासते तम्" ॥२६९॥

इस प्रकार से जीव-जगत् और ईश्वर-इन तीनों सत्यों में से जो जगत् और ईश्वर की सत्यता है-वह तो परीक्षा से निर्णीत की गई है। परीक्षा कसौटी पर कस के देख लिया गया है कि ईश्वर और जगत् दोनों सत्य हैं। रहा जीव-उसके विषय में कुछ कहना ही नहीं है। 'अहमस्मि'-यह जो 'अहं-अर्थ' की सत्यता है-वह तो बिलकुल ही स्फुट है। स्वप्रकाश स्वानुभवैकगम्य ऐसे अपने आपको तो मैं झूँठा बतला ही कैसे सकता हूँ ? इतना ही नहीं अपि तु, इस अहमर्थ से ही जगत् और ईश्वर का ज्ञान होता है। भला जो दूसरों के सत्यत्व का ज्ञान करवाता है-वह स्वयं मिथ्या क्योंकर हो सकता है ? अतः जीव-ईश्वर और जगत् तीनों सत्य हैं-यह सिद्धान्त समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"इत्थं त्रिसत्ये जगतस्तदीशितुः सत्यत्वमस्तीह परीक्षयेक्षितम्।
ब्रह्माहमस्मीत्यहमर्थसत्यता त्वद्धातमां भाति ततोऽन्ययोरपि" ॥२७०॥

बस, इस प्रकार से त्रिसत्योपनिषत् को मानकर इसके अवान्तर भेद की कल्पना लोगों में उपासकों का उपासनाधर्म अनेक प्रकार से प्रवृत्त होता है। अर्थात् इसी त्रिसत्योपनिषत् की भित्ति पर नाना

प्रकार की उपासना प्रचलित होती हैं-जिनका कि विवेचन आगे के 'उपासनावाद' नाम के प्रकरण में किया जाएगा। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"इमं त्रिसत्योपनिषद्विशेषं प्रतीत्य तस्यान्तरभेदक्लृप्त्या।
उपासनाधर्म उपासकानां प्रवर्ततेऽनेकविधो जनेषु" ।।२७१।।

।।इति जगज्जीवेश्वराणां सत्यत्वात् तद्विज्ञानस्य त्रिसत्योपनिषत्त्वम् ।।

।। इति त्रिसत्याद्वैतवादः ।।

।। ३ ।।

॥ ६ ॥

अथ

उपासनावादः

१०–आत्मनि हृद्ग्रन्थिवशाद् बन्धप्रकारः ॥१॥

आत्मा में हृद्ग्रन्थि के कारण बन्धन—

पूर्व प्रकरण में सारे प्रपञ्च को परमेश्वर-ईश्वर-जीव और जगत्–इन चार अधिकरणों में विभक्त बतलाया गया है। इन चारों में से परमेश्वर तो शास्त्रानधिकृत है–अनुपास्य है। उसकी उपासना नहीं हो सकती। वह जानने की चीज नहीं है–खाली तटस्थ-लक्षण से समझ लेने की चीज है। परन्तु जो ईश्वर है–उसकी उपासना हम कर सकते हैं। ईश्वर की ही उपासना हो सकती है–परमेश्वर की नहीं। ईश्वर से मतलब है–आत्मन्वी का। बस, इस आत्मन्वी ईश्वर की ही उपासना हो सकती है। इस उपासना पर एक बडा भारी प्रश्न उठता है—

वादी प्रश्न करता है कि उपासना ईश्वर की भी नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर का जो भी कुछ नियम है–वह अटल है। उसके नियमों में रद्दोबदल नहीं किया जा सकता। उसने पानी को ठण्डा बनाया है तो वह ठण्डा ही है–आग को गरम बनाया है तो वह गरम ही रहता है। गरमी ही अग्नि का स्वरूप है-शैत्य ही पानी का स्वरूप है। जिस दिन शैत्य-तापादि धर्म्म नष्ट हो जाएँगे–उस दिन धर्म्मी की सत्ता ही उच्छिन्न हो जाएगी। आग पानी का उदाहरणमात्र है। संसार के यच्चयावत् पदार्थों में चाहे वह जड़ हो अथवा चेतन हो–यह नियतिः-सत्य काम कर रहा है। नियतिः-सत्य को उसका निर्म्माता स्वयं ईश्वर भी नहीं मिटा सकता। मिटावे क्यों ? यदि निर्म्माण में कुछ त्रुटि हो तभी तो उसे मिटाने की आवश्यकता हो। जबकि उसका सारा प्रपञ्च सर्वथा निर्दुष्ट है तो फिर उसमें वह रद्दो-बदल क्यों करे ? इसीलिए महात्मा तुलसीदास जी ने कहा है

"मेरे तो अचरज नहीं समझ कियो है काम"।

अब हम आपसे पूछते हैं कि जबकि प्राकृतिक नियमों में परिवर्तन हो ही नहीं सकता–स्याह कभी सफेद हो ही नहीं सकता तो फिर उपासना से ईश्वर को प्रसन्न क्योंकर किया जा सकता है ? हमारे हाथ जोड़ने से "हे भगवन् ! हमारे अपराध क्षमा कर दीजिए"–यह कहने से क्योंकर वह अपने प्राकृतिक कर्म्मजाल को काट सकता है ? हर्गिज नहीं। यदि वह पगचम्पी करने से, खुशामदी करने से

हाथ जोडने से-भोग लगाने से प्रसन्न होता है-इन वस्तुओं के बदले हमारे अपराध क्षमा कर देता है तो एक प्रकार से वह ईश्वर सरासर रिश्वतखोर हैं। उस ईश्वर में मनुष्य से क्या विशेषता है जो कि हाथ जोडने से-भक्ति करने से हमारे अपराध क्षमा कर देता है। इसलिए ईश्वर की उपासना होती है-यह बात बिलकुल गलत है। ऐसा हो तो हम हजारों मनुष्यों को-ब्राह्मणों को मारा करें और सुबह-श्याम ईश्वर से हाथ जोड लिया करें-तो बस, सारा काम हो जाय। क्यों हम पाप कर्म्म से डरें? खूब व्यभिचार करें-डाका डालें-हत्या करें-गरज यह है कि सारे कुकर्म्म? करें, कोई हर्ज नहीं। जरा देर "हे दीनबन्धु! हम तो आपके अबोध बालक हैं-हम तो महा अपराधी हैं, हमें आशा है-हमारे सारे पाप आप दूर कर देंगे"। बस, यह कहने की देर है कि पाप धुलने में देर नहीं। शिव! शिव!! ईश्वर के लिए और यह कलङ्क। हर्गिज नहीं-बिलकुल नहीं-सर्वथा नहीं। ईश्वर के दरबार में यह घूसखोरी हर्गिज नहीं चल सकती। वहाँ तो जैसा कर्म्म करोगे वैसा फल पाओगे। यदि किसी की हिंसा की है तो उसका फल तुम्हें अवश्य ही भोगना पड़ेगा। आँखों में आँसू भरकर उस सजा से आप छुट्टी नहीं पा सकते। इसी भाव को दरसाते हुए एक कवि ने क्या ही अच्छा कहा है--

"सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
........................स्वकर्म्मसूत्रग्रथितो हि लोकः"॥

जो ईश्वर आप स्वयं अपने नियतिः-सत्य से अलग नहीं हो सकता-भला वह हमें उस लाइन से च्युत करना क्योंकर चाहेगा? तो बस, ऐसी हालत में "हम ईश्वर की उपासना करते हैं-उपासना कर उसे प्रसन्न कर अपने सारे अपराधों को क्षमा करवा लेते हैं"-यह बात सिवाय ढोंग के और किसी खिताब की अधिकारिणी नहीं है। न ईश्वर हमारे नमस्कार से प्रसन्न होता है, न गाली से अप्रसन्न होता है। वह तो एकरस है। यदि नमस्कार से प्रसन्न हो जाए एवं गाली से रुष्ट हो जाए तो वह ईश्वर ईश्वर नहीं-हमारे जैसा मनुष्य है, अतः उसके विषय में यह कलङ्क कभी लगाया नहीं जा सकता बस, इसलिए जैसे परमेश्वर अनुपास्य है-वैसे ही ईश्वर भी अनुपास्य है।

वादी के इस पूर्वपक्ष का हम हृदय से स्वागत करते हैं। वास्तव में ईश्वर न नमस्कार से प्रसन्न होता है-न गाली से अप्रसन्न होता है। वह वास्तव में एकरस है। वास्तव में वह अपनी नियति से च्युत हर्गिज नहीं होता। यदि आग ठण्डी हो जाए, यदि पानी गरम हो जाय-यदि नक्षत्र भूतल पर उतर आवे, यदि मनुष्य पृथिवी से अधर चलने लगे तो उसका नियम बदल सकता है। "अपने बनाए हुए नियम को वह स्वयं नहीं तोड़ सकता-फिर दूसरों को उस नियति से वह कैसे हटा सकता है? आपका यह कहना बिलकुल यथार्थ है। इस प्रकार से आपकी सारी बातें यद्यपि बावन तोला पाव रत्ती हैं-तथापि उपासना करना व्यर्थ है-ये शब्द हमें खटकते हैं। आपने उपासना का-"ईश्वर को हाथ जोड़कर पत्र-पुष्प चढ़ाकर प्रसन्न कर लेना"-यह अर्थ समझ रखा है। बस, इसी समझ ने आपको भ्रम में डाला है। यदि उपासना का रहस्य आपको मालूम होता तो आप हर्गिज उपासनातत्त्व पर आक्षेप न करते। आपको यह भ्रम हुआ-इसमें हम आप ही को सर्वथा दोषी नहीं समझते। थोड़ा सा दोष हम इससे इन

साम्प्रदायिकों का भी समझते हैं-जिन्होंने अपने स्वार्थ के लिए-अपनी तोंद को भरने के लिए व्यर्थ के आडम्बर गढ रखे हैं। साम्प्रदायिकों से हमारा तात्पर्य्य सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्यों से नहीं है-अपि तु, आजकल के निरक्षर भट्टाचार्य देश का सर्वनाश करने वाले सन्त-महन्तों से है। जो गरीब भारत का भगवान् के नाम पर अनवरत रक्तशोषण कर रहे हैं।

यदि कोई प्रखर विद्वान् जो कि कर्म्मिष्ठ है, आदरणीय है-वह भी इन ढोंगियों के पास चला जाता है तो उसकी तरफ दृष्टिपात करना भी ये धूर्तराज पातक समझते हैं। वर्णों के गुरु ब्राह्मणों के सामने भी १० हाथ ऊँचा गद्दा लगाकर बैठते हुए इन्हें शर्म्म नहीं आती। रात-दिन व्यभिचार में मग्न रहते हैं-लाखों रुपये की पूंजी को सञ्चित रखते हैं-कहलाते हैं-परमहंस-परमेश्वर के अवतार संसार-सागर से तैराने वाले कर्णधार। परमेश्वर का इन ढोंगियों के षड्यन्त्र से जल्दी ही भारत का उद्धार हो।

हमें सिर्फ यही कहना है कि वादी को भ्रम में डालने वाली इन पोपों की भी पोपलीला है। वास्तव में उपासना एक प्रकार का कर्म्म है। उपासना कर्म्मकाण्ड में शामिल है। अव्ययात्मा पर चढी हुई हृद्ग्रन्थि को तोड़ने का नाम ही उपासना है। हाथ जोडकर मोहनभोग का भोग लगाकर उसे आँख मींचकर-"महाप्रसाद में बडा आनन्द आया"- यह कहकर हलक से नीचे उतारने का नाम उपासना नहीं है।

बस, आज हमें इस वैज्ञानिक उपासना-तत्त्व का ही रहस्य बतलाना है। उपासना-तत्त्व बतलावें उसके पहले आत्मा के स्वरूप को एवं बन्धनप्रकार को समझ लेना आवश्यक है। कैसे आत्मा पर बन्धन होता है?-जब पहले यह समझ लिया जाएगा तब उपासना-रहस्य समझ में आएगा, अतः पहले आत्मा में हृद्ग्रन्थिवशात् होने वाले बन्धन का प्रकार बतलाते हैं।

वैदिक सायन्स के हिसाब से रस और बल- ये दो तत्त्व माने जाते हैं। रस ही को ब्रह्म कहते हैं-बल ही को कर्म्म कहते हैं। इसी बल को माया कहते हैं। इसी रस को अमृत कहते हैं एवं बल को मृत्यु कहते हैं। इसी रस को आभू कहते हैं एवं इसी बल को अभ्व कहते हैं। कुछ भी कहो-हैं दोनों नित्य। ब्रह्म की नित्यता में तो किसी को सन्देह ही नहीं है। रहा कर्म्म-उसकी नित्यता में भी सन्देह क्योंकर किया जा सकता है-जबकि वह सदा अमृत पर रहता है। भला एक बूंद अमृत मर्त्य मनुष्य को अमर बना देती है तो जो बल-जो कर्म्म-जो माया-सदा अमृत में ओतप्रोत रहता है-वह क्योंकर अनित्य एवं मिथ्या हो सकता है? इसलिए ब्रह्म ही नित्य एवं सत्य है एवं बल अनित्य एवं असत्य है-यह मत सरासर भ्रान्तिपूर्ण समझना चाहिए। रस के विषय में हमें कुछ नहीं कहना-वह तो सर्वथा शान्त है-निर्विकार है-एक है-आसमन्तात् व्यापक है-इसीलिए तो इसे 'आभू' कहते हैं। परन्तु बल ठीक उसके बिलकुलविरुद्ध स्वभाव रखता है। वह सर्वथा अशान्त है-सक्रिय है-संख्या में अनन्त है। यदि इन बलों की जाति पूछना चाहो तो वह कुल १६ ही हैं-इन्हीं १६ओं को बलकोश कहा करते हैं-इनके नाम ये हैं—

"विद्या[1] निसर्गजा माया[2] जाया[3] धारा[4] ऽऽप[5] इत्यपि ।
हृद्भूति[6] [7] यज्ञ[8] सूत्राणि[9] सत्य[10] [11]यक्षाम्व[12] मोहकाः[13] ।।
वयुनं[14] च वयोनाधा[15] वयश्चैतानि[16] षोडश ।
तत्र पञ्चदशाविद्या अथ विद्यात्र षोडशी" ।।२।।[1]

बस, बल कुल १६ ही जाति के हैं । इन बलकोशों में करोड़ों बल प्रविष्ट रहते हैं । बस, इन बलों के परस्पर के तारतम्य से ही सृष्टि में वैचित्र्य होता है । रस के साथ बल का विभूतिसम्बन्ध है-योगसम्बन्ध है परन्तु रस के साथ बल कभी बद्ध नहीं होता । ग्रन्थिबन्धन बलों में ही होता है । रस बन्धन से सर्वथा अलग रहता है । परन्तु इस बलसृष्टि के लिए रस की सत्ता की अवश्य ही अपेक्षा है । क्योंकि बल तो क्षणिक है-सक्रिय है-परिवर्तनीय है । परिवर्तनीय वस्तु का परिवर्तन तब तक नहीं बन सकता जब तक कि उसका आधार कोई अपरिवर्तनीय पदार्थ नहीं माना जाता । बस, वह अपरिवर्तनीय पदार्थ ही रस है । उसे ही अमृत कहते हैं । इस निर्विकार अमृत ब्रह्म में वह मृत्यु अनवरत नाचा करता है । बलों का क्षोभ अनवरत होता रहता है । परन्तु इस क्षोभ के होने पर भी रस शान्त रूप से स्थिर ही रहता है । उस बल की अशान्ति का उस अमृत पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता ।

रात-दिन मृत्यु के अपने ऊपर नाचते रहने पर भी ब्रह्म कैसे शान्त रहता है-निर्विकार रहता है ?-यह बात **ब्रह्मणो निर्विकारत्वे दृष्टान्ताः**'[2] है । प्रकरण में बतला दी गई है । यह रस और बल दोनों अन्योन्य अविनाभूत हैं । एक के विना एक नहीं रह सकते । यही बल-रस विश्वस्वरूप में परिणत हो जाते हैं-जो कि विश्वातीत हैं । परन्तु मजा यह है कि दोनों एक से एक विरुद्ध स्वभाव वाले हैं । रस आनन्दस्वरूप है-नित्य है-पूर्ण है-बललक्षण है-अमृत है-अभय है-ज्योतिस्वरूप है-अखण्ड है-नित्य है-अद्वय है । परन्तु बल ठीक इसके विपरीत क्षणिक है-दुःखस्वरूप है-शून्य है-स्वलक्षण है-सखण्ड है, अतएव नाना हैं । यह रस देशकालापेक्षया अपरिच्छिन्न है, परन्तु संख्या में एक है एवं मृत्यु संख्या में अनन्त हैं एवं देशकालापेक्षया परिच्छिन्न है । इस बल की दो अवस्थाएँ होती हैं । जब यह बल सर्वात्मना उस रस में सुप्त हो जाता है तो उससे सृष्टि नहीं होती है । बस, इस सर्वबलविशिष्ट रस ही को परात्पर किंवा परमेश्वर कहते हैं । परन्तु जब यह बल उस रस में उद्बुद्ध होता है तो उससे नाना प्रकार की सृष्टियाँ होने लगती हैं । बस, बलों की सुषुप्ति का नाम ही प्रलय है एवं उद्बोध का नाम ही सृष्टि है । उस शान्त रस में सबसे पहले अकस्मात् जिस बल का प्रादुर्भाव होता है-उस बल को 'माया' बल कहते हैं । उस शान्त रस में सोते हुए बल को जगकर उद्बुद्ध हो जाने के लिए किसने प्रेरणा की ? क्योंकर वह बल उद्बुद्ध हो गया-इसका उत्तर श्रुति देती है—

---

१ श्री ओझाजी प्रणीत ब्रह्मसमन्व-यनिर्विशेषानुवाकः श्लोक सं० १११-११२ ।
२ द्रष्टव्य संशयतदुच्छेदवाद प्रथमकाण्ड 'पूर्णाद्विसत्योपनिषत्' प्रकरण संख्या आठ ।

"को श्रद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद" ॥[1]

हमें सिर्फ यही बतलाना है कि उस रस में से उत्पन्न मायाबल चूंकि उस रस को परिच्छिन्न बना डालता है, अतएव इस बल को **'माया'** बल कहते हैं। बस, इस मायाबल के उद्‌बुद्ध होते ही उस रस में एक केन्द्रबिन्दु कायम हो जाता है–जिसे कि हृद्‌बल किंवा सेन्टरबल कहते हैं–बस, उसी सेन्टर-बिन्दु पर अन्यान्य बलों का आघात होने लगता है। उस मायाबल के सोलर सिस्टम में उत्पन्न अनन्तानन्त बलों में परस्पर नाना प्रकार का सम्बन्ध होने लगता है। इन बलों के साथ बलों का सम्बन्ध कितने प्रकार का है–इसका प्रपञ्च इसी ग्रन्थ के **'ब्रह्मकर्म्मसम्बन्धाधिकार'**[2] नाम के प्रकरण में बतला दिया गया है। उन्हीं सम्बन्धों में से एक सम्बन्ध **'ग्रन्थि'** नाम का कहलाता है। उस केन्द्रस्थ रस पर कितने ही बल परस्पर सम्बद्ध होकर यदि गुँथ जाते हैं तो उन बलों की उस गूँथन को 'हृद्‌ग्रन्थि' कहते हैं। उस हृद्‌ग्रन्थि के कारण वह अबद्ध आत्मा बद्धवत् प्रतीत होने लगता है। पानी का वस्तुतः कोई आकार नहीं है–आकार है–पात्र का। परन्तु पानी उस पात्र में जाकर तदाकाराकारित ही प्रतीत होने लगता है। बस, ठीक वही स्वभाव इस रस का समझना चाहिए। बल विना रस के एक क्षण भी नहीं रह सकता–यह हम बतला चुके हैं। बन्धन परस्पर बलों का बलों में ही होता है। रस बन्धन से सर्वथा विमुक्त है, परन्तु रस रहता तो है उन बलों में ही, अतएव जिस आकार में उन बलों का झूंड रहता है–उसी आकार में उस रस को परिणत होना पड़ता है। वस्तुतः रस का कोई आकार नहीं है। बल-बल एक केन्द्रबिन्दु पर यदि बद्ध हो जाते है तो वह रस भी बद्धवत् प्रतीत होने लगता है। बल बद्ध है तो रस भी बद्ध है। वास्तव में उस बहुबलसमष्टि में अबद्ध रस बद्धवत् हो ही जाता है–जैसे कि काच में पानी। पानी का यद्यपि कोई आकार नहीं है तथापि पात्र में जब तक वह रहता है–बद्धवत् रहता है–उस पात्र के आकार से आकारित रहता है। त्यों ही हृद्‌ग्रन्थि में बैठा हुआ रस बद्धवत् ही प्रतीत होने लगता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"एकत्र बिन्दौ कतिचिद्बलानीतरेतरेण ग्रथितानि चेत् स्युः ।
हृद्‌ग्रन्थिरेष प्रथितस्ततोऽसावात्मा रसो बद्ध इवावभाति" ॥२७२॥

---

१ ऋग्वेद मं० १।१२६।६-७।

२ द्रष्टव्य संशयतदुच्छेदवाद प्रथमकाण्ड का 'पूर्णद्विसत्योपनिषत् द्वितीय अधिकार।

हम नहीं समझे कि ग्रन्थिसम्बन्ध क्या है ? और योगसम्बन्ध क्या है ?-वही बतलाते हैं—

कल्पना कर लीजिए-किसी एक वस्तु में पहले १० हजार बल मौजूद हैं-इन पूर्वस्थित बलों में यदि अन्य बल आ जाते हैं और आकर यदि उस पदार्थ के आत्मा का आयतन बढा देते हैं अर्थात् आत्मा में रसवृद्धि कर देते हैं तो उस सम्बन्ध को हम ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध कहने के लिए तय्यार हैं। इन बलों का प्रायः परस्पर सम्बन्ध दो ही प्रकार का होता है अर्थात् दो ही सम्बन्ध मुख्य हैं। एक सम्बन्ध का नाम है-चितिसम्बन्ध, दूसरे का नाम है-भुक्तसम्बन्ध। जब एकबल पर दूसरा बल सवार हो जाता है-बल पर दूसरे बल का चयन हो जाता है-तो उस सम्बन्ध को चितिसम्बन्ध कहते हैं एवं बल जब बल के पेट में घुस जाता है-उस पर सवार नहीं होता तो वह सम्बन्ध भुक्तसम्बन्ध कहलाता है। बस, इनमें से जो चितिसम्बन्ध है-उसे ही ग्रन्थिबन्धनसम्बन्ध कहते हैं। वह बल उस पर सवार हो के उस पूर्वबल की आत्मा बन जाता है। उस बल के चिनाव से उस पूर्व वस्तु के रस का आयतन बढ जाता है। चयन ही से रस का आयतन बढ जाता है, भुक्ति से नहीं। चयन से पूर्व वस्तु का आत्मा बदल जाता है-यह भी समझना चाहिए। भुक्ति से आत्मस्वरूप नहीं बदलता उसका स्वरूप वैसा ही रहता है-जैसाकि बलभुक्ति के पूर्व था। परन्तु बल के चयन से उस पहले पदार्थ के बल का स्वरूप भी परिवर्तित हो जाता है। बस, इस चितिसम्बन्ध ही को हम ग्रन्थिबन्धनसम्बन्ध कहते हैं। तात्पर्य्य यही हुआ कि जिस बल के आने से रस की वृद्धि हो जाय, उस बलसम्बन्ध को हम ग्रन्थिबन्धनसम्बन्ध कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है

"बलानि यावन्ति भवन्ति पूर्वाण्यपूर्वमत्र ध्रियते बलं चेत्।
प्रवर्द्धयत्यात्मनि चेद्रसं तद् ग्रन्थिं द्वितीय तु तदा वदामः" ॥२७३॥

इसी बात को दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं—

एक तीर बिलकुल चुपचाप पड़ा है-एवमेव एक गेंद चुपचाप पड़ी हुई है। अब हम उस तीर को और गेंद को उठाकर फेंकते हैं। हमारे फेंकते ही तीर सरपट दूर तक चला जाता है। इस शान्त तीर एवमेव गेंद में जाने की क्रिया हमारे बल से उत्पन्न होती है। हम अपना बल उस तीर में डालते हैं-बस, यही बल उस तीर को दूर तक ले जाता है। हमारे ही बल से तीर जाता है इसका प्रत्यक्ष सुबूत तीर का कम और ज्यादा दूर जाना ही है। यदि हमारा बल उसमें न जाता तो सब के फेंके हुए तीर समान प्रदेश में ही जाते। अपि च-हम जब अनवरत तीर चलाते रहते हैं तो थोड़ी देर में हमारा हाथ थक जाता है। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि हमारा बल अवश्य ही उस तीर में जा रहा है। जितना अधिक बल उसमें हम डालते हैं-वह उतना ही तेज और दूर जाता है। जब हमारे दिए हुए बल की समाप्ति हो जाती है तो वह वहीं पर गिर पड़ता है तो बस, तीर किंवा कन्दुक को जब हम ऊपर फेंकते हैं तो उसमें दिया हुआ जो हमारा बल है-वह उस तीर के रसभाग को नहीं बढाता है। तीर का आत्मा उतना ही और वही है जो कि हमारे बल-प्रवेश के पहले था। यदि हमारे हाथ का दिया हुआ बल उस क्षर का आत्मा बन जाता-रस-वृद्धि कर डालता तो वह तीर चलता ही रहता। परन्तु हम

देखते हैं कि थोड़ी देर में तीर धड़ाम से नीचे गिर पड़ता है। बस, इसीलिए मालूम होता है कि वह बल उस रस की वृद्धि न कर सका। तो बस, ऐसा सम्बन्ध बलमुक्तिसम्बन्ध कहलाता है।

परन्तु मिट्टी यदि अन्य बलप्रवेश से काच बन जाती है तो हम उसे ग्रन्थिबन्धन-सम्बन्ध कहने के लिए तय्यार हैं। मिट्टी में हाथ ही का बल डाला जाता है। वह बल उस मिट्टी के रस की वृद्धि कर देता है। वह बल उस मिट्टी की आत्मा बन जाता है। उसका आयतन बढा देता है। इसका प्रत्यक्ष सुबूत उसका स्वतः परिवर्त्तन ही है। पानी से मिट्टी बनना–अग्नि से पानी बनना-वायु से अग्नि बनना–ये सब बलों का चुनाव हैं, ग्रन्थिबन्धनसम्बन्ध है। वही मन ग्रन्थिबन्धन से पत्थर बना हुआ है–वही पत्थर ग्रन्थिविमोचन से मन बन सकता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"तिरः शरः कन्दुकमेवमूर्ध्वं प्रक्षिप्यते तत्र हितं बलं तत्।
न वर्द्धयत्यत्र रसं मृदश्चेत् काचो भवेद् ग्रन्थिरसौ द्वितीयः" ॥२७४॥

यदि हृद्ग्रन्थि का विमोक हो जाता है तो निसर्गेण उस आत्मा के रस का बन्धविमोक हो जाता है। पात्र के टूटते ही पानी की परिच्छिन्नता टूट जाती है। परन्तु ध्यान रहे वस्तुतः पानी अब भी बन्धन रहित ही है। वह (आत्मा) अपने आप बद्ध है एवं स्वयंमुक्त है। वही जगत् बन जाता है एवं वही आत्मा बन जाता है। उसी स्व पर ग्रन्थिबन्धन हो जाता है तो वह जगत् कहलाने लगता है एवं जब ग्रन्थिबन्धन टूट जाता है तो वही आत्मा कहलाने लगता है। समुद्र पानी से भरा हुआ है–उस पर एक तृण बह रहा है। तृण स्वस्वरूप से बिलकुल शान्त है। केवल पानी की लहरों से उसे इधर-उधर बहना पड़ता है। बस, ठीक वैसी ही स्थिति इस रस की है। रस तो नित्यमुक्त है, नित्य शुद्ध है। वह भला कभी बन्धन में थोड़े ही आ सकता है। परन्तु वही रस बलों बलों के ग्रन्थिबन्धनसम्बन्ध से जगत्स्वरूप से परिणत हो जाता है। एक लोटे को आप कपड़े से बन्द कर दीजिए और उसे मुँबई ले जाइए। क्या मुँबई में ले जाने पर भी लोटे में वही आकाश है जो कि जयपुर में था? हर्गिज नहीं। आकाश तो व्यापक है। परन्तु इतना होने पर भी, है तो वह घटाकाश ही। लोटे का आकाश अपरिच्छिन्न होता हुआ भी कहलाता है–परिच्छिन्न ही। बस, तद्वत् ही वह बन्धनरहित आत्मा अबद्ध रहता हुआ भी ग्रन्थिबन्धन के कारण बद्ध ही हो जाता है। अधिक बल-ग्रन्थियों से वही आत्मा जगत् बन जाता है एवं जब ग्रन्थिबन्धन टूटने लगता है तो वही जगत् आत्मा बन जाता है।

रस पर जो बल की पहली गाँठ लगती है–उसे मन कहते हैं। उस पर जड़ बल की और गाँठ लगती है तो प्राण कहते हैं। प्राण पर गाँठ लगने से वाक् की उत्पत्ति होती है–जिसे कि भूत कहते हैं। इसकी आकाश, वायु, तेज, पानी और मिट्टी–ये पाँच क्लास हैं। इस प्रकार से ७ गाँठों से वही मन मिट्टी बन जाता है एवं मिट्टी पर जब और गाँठ लग जाती है तो वह मिट्टी पत्थर बन जाती है। इस प्रकार से १४ गाँठों से वही मन सञ्चरप्रक्रियया पत्थर बन जाता है एवं ग्रन्थिविमोचन से वही पत्थर मन बन जाता है। इस प्रकार से आत्मा कभी जगत् बन जाता है एवं जगत् कभी आत्मा बन जाता है। यह धाराक्रम अनवरत चलता रहता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"हृद्ग्रन्थिमोकेन च बन्धमोकः स्यादात्मनस्तत्र रसो निसर्गात् ।
स्वयं स बद्धः स्वयमेव मुक्तो जगत् कदाचित् स कदाचिदात्मा" ।।२७५।।

जो कि आत्मा अखण्ड है-विभु है-एकरूप है-वही इस ग्रन्थिबन्धन के कारण परिच्छित्ति को प्राप्त होकर खण्डरूप में परिणत हो जाता है। ग्रन्थिबन्धन के कारण ही वह आत्मा अनन्त संख्याओं में परिणत हो रहा है। एक आत्मा के नाना आत्मा हो रहे हैं-जो कि जीवात्मा नाम से प्रसिद्ध हैं। यह नानात्व उस ग्रन्थिबन्धन से ही हुआ है। जैसे जैसे यह आत्मा ग्रन्थियों के बन्धन से छूटता जाता है-अर्थात् ज्यों-ज्यों इसकी गाँठें खुलती जाती हैं-त्यों-त्यों यह अपने स्वस्वरूप में आने लगता है। हीरे की ऊपर की मिट्टी को ज्यों-ज्यों साफ करते जाते हैं-त्यों-त्यों उसका स्वरूप विकसित होने लगता है। मुँहबन्ध घड़े में दीपक का प्रकाश अब भी वैसा ही है-जैसा कि घड़े के बाहर था। केवल आवरणमात्र तोड़ डालिए-वही प्रकाश मौजूद है। इसी प्रकार से आत्मा पर बन्धी हुई गाँठों को खोल डालिए-उसी समय आत्मा चमक पड़ेगा। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यदस्त्यखण्डं विभु चैकरूपं बन्धान्मितिं प्राप्य तु तत्र खण्डाः ।
यथा यथा चैव विमुक्तिमेयात् तद्ग्रन्थिभेदात् स विकासमेयात्" ।।२७६।।

मायाबलवशात् ग्रन्थिबन्धन द्वारा आत्मा अकस्मात् जब बन्धन में पड़ जाता है तो ऐसी हालत में वह ग्राह्य हो जाता है। इस समय इस आत्मा का नाम अर्थ पड़ जाता है। ग्रन्थिबन्धन के कारण वही आत्मा अर्थ बना हुआ है-अर्थात् जगत् बना हुआ है। जो आत्मा व्यापक था-आज उस ग्रन्थिबन्धन के कारण उन बलों की गाँठों के कारण वह हाथों में उठाने लायक बन रहा है। हमने गेंद को हाथ में क्या ले रखा है-गाँठ में बन्धे हुए, अतएव उस परिच्छिन्न आत्मा को पकड़ा हुआ है।

उसी बन्धन के प्रभाव से वह विभु आत्मा देह में धृत होकर आज देही कहला रहा है। आज वही व्यापक आत्मा उस शरीर को पैदाकर आप उसमें बैठा हुआ अपने शरीर का संचालन कर रहा है। इसीलिए 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'-यह कहा जाता है। अपने आपसे ग्रन्थिबन्धन द्वारा शरीर बना उसके केन्द्र में बैठा हुआ वह ईश्वर-वह आत्मा उस अपने शरीर का संचालन कर रहा है-इसीलिए भगवान् कहते हैं—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया" ।।[1]

१-गीता १८।६१ ।

जो अनलिमिटेड था-आज उन बलग्रन्थियों के कारण लिमिटेड बना है। हे भगवति माया! तुझे नमस्कार है। तेरे ही कारण आज यह व्यापक सच्चिदानन्द ब्रह्म खण्ड-खण्ड में विभक्त हो नानाभाव में परिणत हो नाच रहा है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"आत्मा यदा बन्धमुपैत्यकस्माद् ग्राह्यस्तदा स्यादयमर्थसंज्ञः।
बन्धप्रभावेण विभुः स आत्मा देहे धृतः सन् भवतीह देही" ।२७७।।

वह व्यापक आत्मा शरीरबन्धन से तो अल्पज्ञता को प्राप्त हो जाता है। जो व्यापक आत्मा बाहर भीतर इधर उधर के सारे पदार्थों को देख सकता था-वही शरीरबन्धन के कारण आज अल्पज्ञ बन गया है। उसे मालूम नहीं है कि भींत के उस पार क्या वस्तु रखी हुई है। जाने दो भींत को-इसे अपने शरीर की भीतरी हालत ही का पता नहीं। जिसमें यह रात-दिन रहता है-उस घट का भी इसे पता नहीं है। जो प्रकाश सौ गज के अन्धकार को दूर करने में समर्थ था-वही घट के आवरण से १० गज के अन्धकार को भी दूर नहीं कर सकता। बस, वही हालत शरीरबन्धन से आज इस आत्मा की हो जाती है। यदि और भी अधिक बन्धन होता है-और भी अधिक गाँठे लग जाती हैं तो वह आत्मा सर्वथा जड़ बन जाता है। उसका रहा-सहा विज्ञान भी जाता रहता है। सुनना-देखना-हँसना-इत्यादि इन्द्रियाँ भी लुप्त हो जाती हैं। उस हालत में उसे वृक्षादि कहने लगते हैं। इस प्रकार से बन्धनों से बद्ध, अतएव वृक्षादि स्वरूप में परिणत यह आत्मा और बन्धन को प्राप्त होकर फिर बन्धन पर बन्धन को प्राप्त होकर जगत्स्वरूप में परिणत हो जाता है। अर्थात् इन गाँठों की बदौलत ही यह व्यापक आत्मा पहले अल्पज्ञ बना-अर्थात् ससंज्ञ बना एवं और भी अधिक बन्धन होने से जड़ बना अर्थात् अन्तःसंज्ञ बना एवं और भी अधिक बन्धन होने के कारण जगत् बना अर्थात् असंज्ञ बना। इस प्रकार से सञ्चरक्रम से वही आत्मा जगत् बन जाता है एवं प्रतिसञ्चरक्रम में वही आत्मा अपने शुद्धस्वरूप में आ जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अल्पज्ञतां याति शरीरबन्धादत्यन्तबन्धाज्जडतामुपैति।
बद्धं पुनर्बन्धमुपेत्य बन्धं पुनः पुनश्चेल्लभते जगत्तत्" ।।२७८।।

इस आत्मा को मनः-प्राण-वाङ्मय बतलाया जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—'**स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः**'-इति। इसका तात्पर्य्य यही है कि ग्रन्थिबन्धन के कारण वही आत्मा मन बना हुआ है-वही प्राण बना हुआ है एवं वही वाक् बना हुआ है। इसलिए तो '**आत्मैवेदं सर्वम्**'-कहा जाता है। इस नित्यमुक्त नित्यशुद्ध आत्मा पर जिसे कि रस कहते हैं-पहली गाँठ लगती है अर्थात् वह व्यापक रस पहले पहल मायाबल की गाँठ से परिच्छिन्न बन जाता है ता वह परिच्छिन्न रस श्वोवस्यस किंवा श्वोवसीयस् मन कहलाता है। बस, पहली ग्रन्थिवाले रस को ही 'मन' कहते हैं। तदनन्तर यदि इस पर और दूसरे बल की गाँठ लगती है तो वह मन प्राणरूप में परिणत हो जाता है। मन प्रकाशस्वरूप है-वह ज्ञान का कन्दल है एवं प्राण चेतना का नाम है। प्राण में मन की चेतना प्रविष्ट

रहती है, अतएव इस प्राण को प्रज्ञाप्राण कहते हैं। यह प्राण और प्रज्ञा दोनों मिले रहते हैं–इसीलिए श्रुति में–'**या वै प्रज्ञा सः प्राणः, यः प्राणः सा प्रज्ञा**'–यह कहा जाता है। प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि मन पर जब और गाँठ लगती है तो वह मन प्राणस्वरूप में परिणत हो जाता है। मन और प्राण दोनों में चेतना मौजूद है, अतएव यह दोनों संसार के बाहर की चीज हैं। इस प्राण पर जब और भी गाँठ लगती है तो यह प्राण वाक्स्वरूप में परिणत हो जाता है। वह प्राण जब उस वाक् में लीन हो जाता है तो उस आत्मा में विचित्रता आ जाती है। अर्थात् प्राण तक तो चेतना रहती है, परन्तु वाक् पर आते ही चेतना लुप्त हो जाती है। प्राण जब ढीला पड़ता है–अर्थात् प्राण पर जब और गाँठ लग जाती है तो वह आत्मा परवश हो जाता है। हम दूसरे आदमी से मुकाबला कर सकते हैं, परन्तु वाक्-(भौतिक पदार्थ) परवश हैं। उन पर यथेच्छाचार हो सकता है। कहने का तात्पर्य यही है कि वही मन यदि ग्रन्थिस्वरूप में परिणत हुआ वाक् में लीन हो जाता है तो आत्मा में विचित्तता हो जाती है। अर्थात् आत्मा ही जगत् बन जाता है एवं जगत् ही आत्मा बन जाता है। मन-प्राण दोनों में चेतना है–परन्तु वाक् में जिसे कि आकाश कहते हैं–चेतना नहीं है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"मनो यदि प्राणगतिं प्रपन्नं वाक्त्वं गतं स्थूलदशामुपैति।
तल्लीयते तेन विचित्तता स्यात् प्राणे श्लथे स्यादिह पारवश्यम्" ॥२७९॥

यह आत्मा जितना-जितना बन्धन में फँसता जाता है–अर्थात् इस पर जितनी जितनी गाँठें लगती जाती हैं–वह उतना ही पराधीन होता जाता है। उतना ही इसकी चेतना दबती जाती है। परन्तु ज्यों-ज्यों वह बन्धन से अलग होता जाता है–अर्थात् ज्यों-ज्यों गाँठें खुलती जाती हैं–त्यों-त्यों मन के विकसित होने से क्रम-क्रम से वह स्वतन्त्र होता जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यथा यथा बन्धमुपैति तस्मिंस्तथाधिकं स्यादिह पारवश्यम्।
यथा विमुच्येत मनो विकासात् तथा क्रमेणैष भवेत् स्वतन्त्रः" ॥२८०॥

जब प्राण पर और गाँठ लगती हैं तो इस प्राण पर पहले बन्धन से-प्राण से यह वाक् (आकाश) उत्पन्न होती है। जब वाक् पर दूसरी गाँठ लगती है तो वह वाक् वायु बन जाता है एवं वायु फिर तीसरे बन्धन को प्राप्त होकर अग्नि बन जाता है एवं तेज फिर चौथी गाँठ से जल बन जाता है एवं जल पर जब और गाँठ लगती है तो वह जल पृथिवी बन जाता है। इस प्रकार से वही मन ग्रन्थिबन्धन के कारण मिट्टी बन जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"प्राणादियं वाक् प्रथमे तु बन्धे वागन्यबन्धाद् भवतीह वायुः।
वायुः पुनर्बन्धमुपेत्य तेजो बन्धाज्जलं तत् पृथिवी च बन्धात्" ॥२८१॥

एवं पृथिवी पर जब और गाँठ लगती है तो उस बन्धन से वृक्ष एवं वृक्ष के पत्ते वगैरह बनते हैं। इस प्रकार बन्धन पर बन्धन-बन्धन पर बन्धन होने से वही मन पत्थर बन जाता है। बस, सञ्चर का यह आखिरी मंजिल है। जैसा मन हमारे में वैसा ही पत्थर में है-यह सिद्धान्त समझना चाहिए। फरक इतना ही है कि हमारे मन पर चूंकि गाँठें कम हैं-इसलिए वह उल्बण है एवं पत्थर में गाँठें बहुत हैं-इसलिए वह अनुल्बण है। इस प्रकार से इन वायु-अग्नि आदि पदार्थों की जब सञ्चरक्रिया समाप्त हो जाती है तो इनमें आपसे आप ही प्रतिसञ्चर क्रिया होने लगती है। पहले पत्थर मिट्टी बनता है-मिट्टी पानी बनती है-इस प्रकार से होते-होते अन्त में वही पत्थर मन बन जाता है। वही मिट्टी प्राणस्वरूप में परिणत होती हुई मन बन जाती है। बस, इसे ही क्रममुक्ति कहते हैं।

सम्पूर्ण कथन का सारांश यही हुआ कि वह रसस्वरूप आत्मा बलों के परस्पर के ग्रन्थिबन्धन से बद्ध होता हुआ सञ्चरक्रम में जगत् बनता रहता है एवं प्रतिसञ्चरक्रम में गाँठों के खुलने से वही जगत् आत्मस्वरूप में परिणत हो जाता है। यह क्रमिकधारा अनवरत चलती रहती है। यदि कोई वैध उपाय नहीं किया जाता है, तब भी इस क्रमिक मुक्ति और क्रमिक बन्धन से फर्क नहीं आता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"पृथ्वी च बन्धादिह वृक्षपत्रं बन्धाच्च बन्धो मुहुरित्थमेति।
भवेत् कथंचित् क्रममुक्तिरेषां पृथ्वी पुनः प्राणविधामुपैति" ॥२८२॥

॥ इति-आत्मनि हृद्ग्रन्थिवशाद् बन्धप्रकारः ॥

११-बन्धमुक्त्युपायक्रियाया उपासनात्वम् ॥२॥

बन्धमुक्त्युपायक्रिया का उपासनात्व—

हमने बतलाया है कि आत्मा ग्रन्थिबन्धनों के कारण जगत् बन जाता है एवं बन्धन टूट जाने से वही जगत् आत्मस्वरूप में परिणत हो जाता है। यह चक्र अनवरत चलता रहता है। बस, वैध उपायों से इस बन्धन को तोड़ने की क्रिया-विशेष ही को उपासना कहते हैं। उपासना-कर्म्म से उस आत्मा की गाँठों को तोड़ दिया जाता है। हमने ईश्वर-जीव और जगत्-ये तीन क्लास बतलाए हैं। उनमें से ईश्वर और जगत् दोनों को छोडते हैं-क्योंकि उपासना का सम्बन्ध इन दोनों ही से नहीं है-अपि तु, जीव से ही है।

वह जीवात्मा जगत्वत् आत्यन्तिक बद्ध नहीं माना जा सकता। अर्थात् जैसे जगत् ग्रन्थियों से अतितममात्रा में बद्ध हो रहा है, तद्वत् इस जीवात्मा को जगत्वत् एकान्ततः बद्ध नहीं कह सकते। इसका प्रत्यक्ष सुबूत यही है कि इसके पाँचों इन्द्रियाँ हैं-यह सबका अनुभव करता है जगत्वत् यह जीवात्मा परवश नहीं है। यदि यह सर्वथा बद्ध हो जाता तो इसमें चेतना ही नहीं रहती। परन्तु हम (जीव)

आँख खोलते हैं तो सारे पदार्थों का भान होता है। हम ज्ञानस्वरूप हैं! भला हम जड कैसे हो सकते हैं? आत्मा में बन्धन होने से आत्मा जगत्स्वरूप में परिणत हो जाता है-इत्यादि प्रपञ्च का ज्ञान जब मुझे हो रहा है-मेरा ही ज्ञान इस प्रपञ्च को उठाने वाला है तो फिर मैं (जीव) एकान्ततः जड़ कैसे हो सकता हूँ? मैं तो साक्षात् विज्ञानमय हूँ। इसी अभिप्राय से कहते हैं जगतवत् जीव एकान्ततः प्रबद्ध नहीं कहा जा सकता। हम इस जीवात्मा को स्फुटतया विज्ञानमय देखते हैं। देखते क्या हैं? हम स्वयं अनुभव करते हैं। हमें सारे जगत् का भान होता है। भला हम (जीव) बद्ध कैसे हो सकते हैं? इस प्रकार से जीव यद्यपि विज्ञानस्वरूप है-अबद्ध है, तथापि यह सर्वथा बद्ध है ही नहीं-यह भी नहीं कहा जा सकता। यह तो बीच की वस्तु है, बद्धाबद्ध है। हम इसे प्रत्यक्ष ही में जब बद्ध देखते हैं तो फिर क्योंकर इसे अबद्ध कहा जा सकता है।यदि यह बिल्कुल अबद्ध ही होता तो फिर सर्वज्ञ होता एवं शरीर को छोडकर बाहर भी रहता। परन्तु हम इसे चूँकि सर्वदा शरीर परिच्छिन्न ही देखते हैं, अतएव इसे एकान्ततः अबद्ध मानने के लिए भी तय्यार नहीं। ब्रह्म तीन प्रकार का होता है—

(१) सृष्टब्रह्म (कार्य्यब्रह्म)— क्षर

(२) प्रविष्ट (निमित्तकारण)—अक्षर

(३) प्रविविक्त (आलम्बनकारण-समवायिकारण)— अव्यय

ग्रन्थिबन्धन के कारण आत्मा प्राणरूप में परिणत होता हुआ क्षरभाग में परिणत हो जाता है तो उस ब्रह्म को तो सृष्ट कहते हैं। इसी को वाग्ब्रह्म भी कह सकते हैं। जैसे दूध ही दही बन जाता है एवं घास ही दूध बन जाता है तद्वत् यह आत्मा ही ग्रन्थिबन्धन से जगत् बन जाता है। यही आत्मा अर्थात्-सृष्टब्रह्म आत्यन्तिक बद्ध है। इसी सृष्टब्रह्म को विलीन ब्रह्म किं वा असंज्ञब्रह्म भी कहते हैं। इस जगत्स्वरूप में परिणत हो अर्थात्-अपने कुछ हिस्से से जगत् बनाकर वह ब्रह्म उसके अन्दर प्रविष्ट हो जाता है। उसे पैदा कर प्राणरूप से **'आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः'**-वह आत्मा उस वाग्ब्रह्म के क्षर-के पेट में बैठ जाता है।

बस, यही दूसरा प्रविष्टब्रह्म है। यह अत्यन्त बद्ध नहीं है। एवं जो आत्मा इस शरीर के बाहर है-वही प्रविविक्त ब्रह्म कहलाता है। बस, वही अपरिच्छिन्न ब्रह्म है-यही सर्वथा अबद्ध है। जीवात्मा एकान्ततः अबद्ध ही होता तो फिर कभी यह दुःखी होता ही नहीं। चूंकि हम इस जीवात्मा को दुःखी देखते हैं-इससे मानना पड़ता है कि जीव एकान्ततः अबद्ध भी नहीं है। बद्धाबद्ध है-ईश्वर अबद्ध है-जगत् बद्ध है और जीव बद्धाबद्ध है। जीव ज्ञानस्वरूप ही है-फिर यह बन्धन में क्योंकर पड़ गया? इसका एकमात्र उत्तर है-शरीरपरिच्छेद। शरीर में रहने के कारण उस व्यापक ज्ञान में मानता आ जाती है अर्थात्-परिच्छिन्नता आ जाती है। बस, इस मानयोग से -शरीर में परिच्छिन्न होने से ही अबद्ध भी जीवात्मा बद्धवत् प्रतीत होने लगता है। शरीर में परिछिन्न होते ही इस जीव में-क्षुधापिपासादि ६ ऊर्म्मियाँ हो जाती हैं एवं जाग्रतादि ६ अवस्थाएँ हो जाती हैं। इस प्रकार से वह सर्वजगद् व्यापक ही-वह सर्वज्ञ ही आज शरीरपरिच्छिन्न होता हुआ व्याप्य एवं असर्वज्ञ बन जाता है। जो सारे विश्व का द्रष्टा था उसे आज शरीर की नसों तक की खबर नहीं रहती है। सम्पूर्ण कथन का

तात्पर्य्य यही है कि शरीर में परिच्छिन्न हो जाने के कारण वह व्यापक अबद्ध आत्मा व्याप्य एवं बद्ध प्रतीत होने लगता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"जीवस्तु नात्यन्तमयं प्रबद्धः स्फुटं स विज्ञानमयोऽत्र दृष्टः।
तथापि देहे ध्रुवमेष बद्धः प्रतीयते पाप्मनि मानयोगात्" ॥२८३॥

संचरक्रम में वह व्यापक आत्मा ग्रन्थिबन्धनों के कारण क्रम-क्रम से बद्ध होता हुआ जगत्स्वरूप में परिणत हो जाता है एवं प्रतिसंचर क्रिया में गाँठों के खुलने से क्रम-क्रम से पृथिवी-जल-तेज आदि में परिणत होता हुआ अपने स्वस्वरूप में आ जाता है–सारे बंधनों से मुक्त हो जाता है। बस, इस प्रकार से इस विश्व में स्वभाव से ही पर्य्यायेण बन्धन और मोक्ष हुआ करती है जो कि बडे ही विचित्र हैं। अर्थात् इनके रहस्य का पता मुश्किल से ही लगता है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

"एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति"।[1]

बस, यह चक्र अनवरत चला करता है। आत्मा बन्धन में जाता रहता है एवं मुक्त होता रहता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"मुक्तः क्रमाद् बन्धमुपैति बद्धो विमुच्यते च स्वयमुत्क्रमेण।
इत्थं स्वभावादिह बन्धमोक्षौ पर्य्यायतः संभवतो विचित्रौ" ॥२८४॥

बस, जिस क्रिया से यह जीव इस क्रमिक बन्धन से मुक्त हो जाता है–विज्ञलोग उस क्रिया को ही उपासना कहते हैं। संचरक्रम में आत्मा को जगत् तक अवश्य ही जाना पड़ेगा। उसे पृथिवी-जल–तेजादि सारे भूतों में परिणत होना पड़ेगा। परन्तु इस उपासना क्रिया से वैध उपाय से जगत् की ओर जाने वाले आत्मा को प्रतिसंचरक्रियया से वापस लोटाया जा सकता है। जो मन प्राणरूप में परिणत होता हुआ वाक् में परिणत हो जाता है। वाक् में परिणत होता हुआ वायु में परिणत हो जाता है–वायु से तेज में परिणत हो जाता है–तेज से पानी में परिणत हो जाता है। पानी से मिट्टी में परिणत हो जाता है–उसी को इस उपासना क्रिया से चाहे जहाँ से वापस लौटाया जा सकता है। वायु तक पहुँचे हुए मन को वापस वाक् की ओर ले जाकर अपने असली स्वरूप में परिणत कर दिया जाता है। बस, जिस क्रिया से इस नेचुरल क्रमिक धारा का विच्छेद कर आत्मा का बीच ही में से बन्धन खोलकर उसे स्वस्वरूप में परिणत कर दिया जाता है–उसी क्रिया का नाम 'उपासना' है।

क्रमिक धारा को तोड़कर बीच में से बन्धन खोल देना यह तो ईश्वर के नियम को तोड़ना है–इस भ्रम में कभी नहीं पड़ना चाहिए। क्योंकि उपासना कर्म्म भी उसी का नियम है। वह क्रिया

१–गीता ३।१६।

मनुष्य नई उत्पन्न थोड़े ही करता है । जो बात सर्वथा है नहीं-वह तो उत्पन्न ही नहीं हो सकती। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः" ॥[1]

कदाचित् कहो कि जब प्रकृति अपने आप ही बन्धन तोड़ देती है तो फिर उपासना करने की आवश्यकता ही क्या है ? आपका यह प्रश्न बिलकुल ठीक है । फरक इस उपासना में और उस क्रमिक धारा में इतना ही है कि उपासना से जो मोक्ष होती है-वह बलवान् होती है । उपासना से जो बन्धन टूट जाता है-वह वापस नहीं होने पाता । उपासना से जो जीव मुक्त हो गया-वह तो मुक्त ही हो गया-उसे फिर जन्म के फन्दे में नहीं फँसना पड़ता । परन्तु क्रमिक मुक्ति में इसे फिर बन्धन में पड़ना पड़ता है । अपि च-क्रमिक मुक्ति भी तभी हो सकती है-जबकि यह पाषाण तक की सारी मञ्जिलें तय कर ले । परन्तु उपासना से अध-बिच में से ही प्रतिसञ्चर किया जा सकता है । बस, क्रमिक मुक्ति और उपासना से होने वाली मुक्ति में यही फरक है । हम कभी बन्धन में न पड़ें-इसीलिए उपासना करना आवश्यक हो जाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी कहा है—

"यथा तु बन्धाद् भवतीह मुक्तो जीवः क्रियामाहुरिमामुपास्तिम् ।
उपासनातो बलवान् विमोक्षः पुनर्न बन्धः क्रमते ह्यमुष्मिन्" ॥२८५॥

इसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

उपासना से जीवात्मज्ञान ईश्वरज्ञान की समता को प्राप्त हो जाता है । जीव ईश्वर के समीप जा बैठता है-वह उसकी भक्ति बन जाता है । अपनापन छोडकर ईश्वर के भाव में परिणत हो जाता है । चूंकि वह ईश्वर के ज्ञान में चिपक जाता है एवं ईश्वर में बन्धन नहीं-ईश्वर अबद्ध है, अतः वह आत्मा फिर जीवभाव को-बन्धनभाव को प्राप्त नहीं होता है । वह ईश्वर में मिलकर एकरूप हो जाता है । एक तृण उस समुद्र में बहा जा रहा है । उस तृण को यदि समुद्र से बाहर निकाल दिया जाएगा तो फिर उसे लहरों के पराधीन क्यों रहना पड़ेगा ? बस, इसी प्रकार से विश्व-समुद्र में बहता हुआ यह जीवतृण यदि उस विश्वसमुद्र में से निकलकर उससे अलग किसी शान्त समुद्र में जिसमें कि लहर का नाम निशान भी नहीं है-चला जाता है-तो उसका लहरों के झपेटे से छुटकारा हो जाता है । परन्तु जब तक वह इसी में रहता है तब तक पानी के फटकारे से इधर का उधर मारा मारा फिरता है । उपासना का मतलब है-समीप बैठना । उस शान्त एवं बन्धनरहित ईश्वर के पास बैठने से यह जीव भी शान्त एवं बन्धनरहित हो जाता है । ईश्वर का जो बन्धनरहितत्वधर्म्म है-वह तत्संसृष्ट इस जीव

१-गीता २।१६ ।

में भी आ जाता है। जीव अपनापना छोडकर उसका कुछ बन जाता है। बस, यही उपासना का रहस्य है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"जीवात्मकज्ञानमुपास्तियोगात् तदीश्वरज्ञानसमत्वमेति ।
बन्धस्य तस्मिन् पुनरप्रसक्तेर्न जीवतामेति स एकरूपः" ।।२८६।।

इस प्रकार से बलवद्रसज्ञों ने (सर्वबलविशिष्ट रसस्वरूप परात्पर के स्वरूप को पहचानने वाले विद्वानों ने) स्वभाव ही से होने वाले जो बन्धन हैं–उनसे सदा के लिए छुटकारा पाने के लिए उपासनास्वरूप उपाय बतलाया है। उन्होंने सदा के लिए बन्धन से अलग होने के वास्ते अपनी दिव्य दृष्टि से सारे तत्त्वों का विमर्श कर तद्द्वारा इस उपासनातत्त्व की स्थापना की है।

यह तो हुआ उपासना का सामान्य अर्थ, अब इसी विषय में हमें कुछ अधिक भी कहना है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"इत्येवमुक्तं बलवद्रसज्ञैर्निसर्गसंभावितबन्धमुक्तेः ।
उपायभूतं सदुपास्तिकर्म्मांथवाऽत्र वक्ष्याम्यधिकं च किञ्चित्" ।।२८७।।

।। इति बन्धमुक्त्युपायक्रियाया उपासनात्वम् ।।

———

१२—ऐश्वरमनसि जैवमनःस्थिरीकारस्योपासनात्वम् ।।३।।

ईश्वर के मन में जीवमन को स्थिर करने का नाम उपासना है—

जीव का मन सर्वथा चञ्चल है। कारण इसका यही है कि जो व्यापक मन था–वही आज परिच्छिन्न हो गया है। चाह (इच्छा) होना–यह मन का स्वाभाविक धर्म्म है। बाहर मैदान बहुत बडा है, अतएव उन बाहर के पदार्थों के ऊपर एक साथ यह कूदना चाहता है। चाहता अवश्य है, परन्तु कूद सकता नहीं, बस, इसी से इसमें चञ्चलता उत्पन्न हो जाती है। इसे भी पकडूं–इसे भी पकडूं–इसे भी पकडूं–इस व्यग्रता में यह चञ्चल हो पड़ता है। इसीलिए अर्जुन ने भगवान् से कहा था कि—

"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्" ।।[1]

———

१–गीता ६।३४।

तात्पर्य्य कहने का यही है कि जीव का मन परिच्छिन्नतया अत्यन्त ही चञ्चल है। परन्तु ईश्वर का मन ठीक इसके विपरीत स्थिर है एवं नितान्त शान्त है। ईश्वर व्यापक है-आप्तकाम है। सत्यकाम है-सत्यसंकल्प है। उसमें वृत्तियाँ होती हैं, परन्तु अनाप्त काम के लिए नहीं। वह तो विदितवेदितव्य है। बस, वृत्तिनिरोध करके, अपनी सारी वृत्तियों का संयम करके स्थिर किया हुआ जो जीव का मन है-वह ईश्वर के मन में बद्ध हो जाता है। कल्पना कीजिए-एक बडी भारी मशीन चल रही है-उस बडी मशीन के पेट में अपनी प्रातिस्विक गति से एक छोटी मशीन और चल रही है। यदि उस छोटी मशीन का कनक्शन उस तेज चलने वाली बडी मशीन से करा दिया जाता है तो उस छोटी मशीन की अपनी गति बन्द हो जाती है एवं बडी मशीन की गति उसकी गति हो जाती है। बस, ठीक इसी प्रकार से चञ्चल मन को स्थिर करके यदि उस व्यापक शान्त मन में जोड़ दिया जाता है तो इस जीव का अपना जीवपना जाता रहता है एवं ईश्वरीय भाव का प्रवेश हो जाता है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि उपासनाक्रिया से जिसे कि उपासना-योग भी कहते हैं-चित्त-वृत्ति के निरोध करने से जैवमन स्थिर हो जाता है। अतएव इसका सम्बन्ध ईश्वर के मन के साथ हो जाता है। बस, चित्तवृत्ति का निरोध कर जिस क्रिया से मन को स्थिर किया जाता है-उसे ही उपासना कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"मनोऽस्ति जीवस्य तु चञ्चलं स्थिरं शान्तं नितान्तं परमेश्वरस्य तत्।
स्थिरीकृतं वृत्तिनिरोधतो मनो जीवस्य योगं लभते परेश्वरे" ॥२८८॥

यहाँ पर प्रश्न होता है कि उस शान्त मन में इस चञ्चल ही मन को क्यों न जोड़ दिया जाय? पहले मन को स्थिर करो बाद में-ईश्वर के साथ जोड़ो-इस द्रविड प्राणायाम की क्या आवश्यकता है? प्रश्न वास्तव में ठीक होता-यदि विना द्रविड प्राणायाम के भी काम चल जाता। परन्तु लाचारी है-बिना मन को स्थिर किए काम नहीं चलता। पहले जब मन को स्थिर कर लिया जाता है तदनन्तर उसका योग ईश्वर के शान्त मन में हो सकता है। चञ्चल मन कभी उस व्यापक शान्त मन से बद्ध हो ही नहीं सकता। बस, इसी बात को दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं—

चक्षुरिन्द्रिय यदि स्थिर भी है एवं पानी में हिलोले लेता हुआ प्रतिबिम्ब यदि अस्थिर है तो ऐसी हालत में उस प्रतिबिम्ब का और चक्षु का परस्पर योग कथमपि नहीं हो सकता। पानी में पड़े हुए सौर प्रतिबिम्ब को आप खूब हिलाइए-जब तक प्रतिबिम्ब हिलता रहेगा तब तक वह प्रति-बिम्ब उस शान्त स्थिर चक्षु में कभी नहीं पड़ सकता। परन्तु यदि उस प्रतिबिम्ब को स्थिर कर दिया जाता है तो विना कोशिश के ही वह स्थिर प्रतिबिम्ब अपने आप चक्षु में आ कूदता है। बस, इसी प्रकार से चक्षुःस्थानीय उस शान्त नितान्त स्थिर मन के साथ प्रज्ञापानी पर हिलोले लेते हुए हमारे मन का तब तक सम्बन्ध नहीं हो सकता-जब तक कि हम इस चञ्चलता को दूर न कर दें। तो बस, ईश्वर मन में अपने मन को लगाने के पहले उसे स्थिर करने की परम आवश्यकता है। जहाँ स्थिर हुआ कि वह अपने आप ईश्वर मन से सम्बद्ध हुआ। प्रकृत में कहना हमें यही है-जिस उपासना से-जिस

क्रिया से अस्थिर मन को स्थिर बनाकर ईश्वर के मन में लगाया जाता है–उसी क्रिया को 'उपासना' कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"चक्षुः स्थिरं चेत् प्रतिबिम्बमस्थिरं न तत्र योगः प्रतिबिम्बचक्षुषोः ।
स्थिरीकृतःस्यात् प्रतिबिम्ब एष चेत् सांनिध्यमायाति स चक्षुषि स्वयम्" ।।२८९।।

इसी अभिप्राय से कहते हैं—

बस, इस मनोयोग को ही विज्ञ लोग उपासना कहते हैं। इस उपासना से चञ्चल जैव मन शान्त होकर अपने आप उस ईश्वर के मन के नजदीक जा बैठता है। अर्थात्–अपने भाव को छोड देता है एवं ईश्वर के भाव में परिणत हो जाता है। इस प्रकार से धारणा-ध्यान-समाधि इन तीनों का जब एक बिन्दु पर संयम हो जाता है–मन एकदम शान्त हो जाता है। उस समय ईश्वरशक्ति बिल्कुल आसानी से इस जीव मन में आ जाती है। जीव का अपना चाञ्चल्य हट जाता है और ईश्वर का शान्तधर्म्म इसमें आ जाता है। बस, जहाँ जीवमन ईश्वर शक्ति से युक्त हुआ नहीं कि इसमें–अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व और ईशित्व–ये आठों सिद्धियाँ आई नहीं। यदि हम चलती रेलगाड़ी में सवार हो जाते हैं तो हमारी अपनी प्रातिस्विक गति मारी जाती है एवं रेल की गति ही हमारी गति हो जाती है। बस, इसी प्रकार से उपासना से मन को शान्त करते ही हमारा मन ईश्वर के मन में जा चिपकता है एवं अपना धर्म्म इसका छूट जाता है एवं ईश्वरीय धर्म्म का–शक्ति का प्रवेश हो जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"वदन्ति योगं तमुपासनां मनः सांनिध्यमायाति हि जैवमैश्वरे ।
तत्संयमादीश्वरशक्तिरञ्जसा जैवे समायाति ततोऽष्टसिद्धयः" ।।२९०।।

जहाँ एक कमजोर और एक ताकतवर पदार्थों का योग किया जाता है–वहाँ उस ताकतवर की शक्ति कमजोर में दौड़ पड़ती है–यह वैज्ञानिक नियम है। एक अतितप्त महा लोहे को आप एक छोटे से लोहे का स्पर्श करवाइए–उस छोटे लोहे में उस बडे लोहे की गर्मी उसी समय प्रविष्ट हो जाएगी। तात्पर्य्य यही है कि जो जिसके साथ युक्त होता है–उन दोनों में से जो छोटा होता है–उसमें बडे के धर्म्म का संक्रम हो जाता है। बस, इसी वैज्ञानिक नियम के अनुसार उपास्य की शक्ति इस उपासक में अवश्य ही आ जाती है–बशर्ते कि यदि यह उपासना ठीक ठीक कायदे के माफिक करता है–तब। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यो येन योगं लभते ध्रुवं तयोरूने भवेत् पुष्कलधर्मसंक्रमः ।
उपास्यशक्तिर्ध्रुवमत्र संचरत्युपासके साधु स चेदुपास्यते" ।।२९१।।

।। इति ऐश्वरमनसि जैवमनःस्थिरीकारस्योपासनात्वम् ।।

१३-क्रिया-भक्ति-ज्ञानयोगाः ।।४।।

क्रिया-भक्ति-ज्ञानयोग--

आत्मा को मनः-प्राण-वाङ्मय बतलाया जाता है । मन ज्ञान का सीगा है-प्राण क्रिया का सीगा है एवं वाक् अर्थ का सीगा है । बस, ज्ञान-क्रिया-अर्थ इन तीन की समष्टि का नाम ही आत्मा है । बात वास्तव में सच है-इच्छा-तप और श्रम-ये तीन ही तो इस आत्मा के धर्म हैं । मन से इच्छा उठती है-इच्छा के होते ही आन्तर व्यापार होने लगता है-जिसे कि कृति कहते हैं । आन्तर व्यापार के अनन्तर श्रम होता है-अर्थात् वाग्व्यापार होता है । बस, इस तीसरे क्लास पर आके कर्म्म का स्वरूप बन जाता है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत् कृतिः ।
कृतिजन्यं भवेत् कर्म्म तदेतत् कृतमुच्यते"-इति ।।

हमारा जो मन है-उसका नाम ही प्रज्ञान है-यह प्रज्ञानमन ज्ञान-क्रिया-अर्थमय है । इसमें जितना सा चिदंश है-वह तो ज्ञान का सीगा है एवं जितना सा सौर प्राण है-उतना क्रिया का हिस्सा है एवं मन स्वयं सोमात्मक है तो यह सोम सोम-अर्थ है । इस प्रकार से हमारा मन ज्ञान-क्रिया-अर्थमय है । हो क्यों नहीं ? जबकि हम ज्ञान-क्रिया-अर्थमय उस ईश्वर ही के अंश हैं । जो उसमें हैं, वे पदार्थ हमारे में अवश्य ही होने चाहिएँ । इसीलिए तो-**'योऽसौ सोऽहं, योऽहं सोऽसौ'**-कहा जाता है । तो बस, ईश्वर भी ज्ञान-क्रिया-अर्थमय है एवं हम भी ज्ञान-क्रिया-अर्थमय हैं । तो बस, इससे सिद्ध है कि इन तीनों दरवाजों में से हम किसी भी दरवाजे में होकर ईश्वर के पास पहुँच सकते हैं । हम ज्ञान के द्वारा भी ईश्वर से मिल सकते हैं- क्रिया के द्वारा भी मिल सकते हैं एवं अर्थ के द्वारा भी मिल सकते हैं । तीनों दरवाजों में यथेच्छाचार है । इन्हों को ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं क्रियायोग कहते हैं । अर्थयोग ही एक प्रकार से भक्तियोग है । इसी भक्तियोग को बुद्धियोग कहते हैं एवं यही गीता का प्रतिपाद्य विषय है । गीता में बुद्धियोग ही का प्रधान उपदेश है । इसका विस्तृत विवेचन हमारे लिखे हुए गीतानुवाद में देखना चाहिए । ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-इन भेदों से योग तीन प्रकार का होता है । कर्म्म से भी उपासना की जा सकती है, भक्ति से भी उपासना की जा सकती है एवं ज्ञान से भी उपासना की जा सकती है ।[1]

"योगस्त्रिधा कर्ममुखेन, भक्त्या, ज्ञानेन कर्मास्ति महत्त्वहेतुः ।
भक्तिः सुसाधाथ तृतीयमेषां जीवस्य तस्येश्वरसाष्ट्र्यहेतुः" ।।२६२।।

१-'क्रिया-भक्ति-ज्ञानयोगाः' नामक इस प्रकरण का स्व० शास्त्रीजीकृत साररूपेण भाष्य यहीं तक उपलब्ध हुआ है । इस प्रकरण के अन्तर्गत क्योंकि पूज्य ओझाजी ने चार श्लोक लिखे हैं, अतः यहाँ पर मात्र उन श्लोकों को ही उद्धृत किया जा रहा है, साथ ही पाठकों की सुविधा हेतु इनका हिन्दी अनुवाद भी दिया जा रहा है । (सं०)

"कर्म, भक्ति एवं ज्ञान भेद से योग तीन प्रकार का होता है। इनमें कर्म मुख्य है और यही योग का महत्त्वपूर्ण उपाय है, भक्ति सुसाध अर्थात् सुखसाध्य है और तीसरा ज्ञान, जीव और उस ईश्वर की सृष्टिरचना का हेतु है।"

"न स्वार्थमिच्छन् न परार्थमिच्छन् निष्कारणं यद्विदधाति कर्म ।
सामान्यतः सर्वजनस्य यत् स्याद्धितावहं नाम स कर्मयोगः" ॥२९३॥

"स्वार्थ या परार्थ दोनों ही की इच्छा नहीं करते हुए सामान्यतया जो सर्वजनहिताय कर्म किया जाता है–वह कर्मयोग कहलाता है।"

"एकान्ततः स्वार्थमिहानपेक्ष्य प्रस्तौति यद्विश्वजनीनकर्म ।
समृद्धिमायाति हि तेन विश्वं सोपासना सिद्धयति विश्वमूर्तेः" ॥२९४॥

"यहाँ पूर्णरूप से स्वार्थ की अपेक्षा किए विना जो विश्वजनहित कर्म किया जाता है–उससे विश्व समृद्धि को प्राप्त होता है और उससे ही विश्वमूर्ति भगवान् की उपासना सिद्ध होती है।"

"यो मन्त्रयोगो लययोग एवामनस्कयोगो हठयोग एवम् ।
यो राजयोगश्च त एव योगाः सर्वे प्रसिध्यन्ति हि भक्तियोगाः" ॥२९५॥

"जो मन्त्रयोग, लययोग है–इसी प्रकार जो अमनस्क योग, हठयोग है और जो राजयोग है वे सब ही योग भक्तियोगरूप से प्रसिद्ध हैं।"

——❀——

१४–आत्मार्पणरूपा प्रपत्तिर्भक्तियोगः ॥५॥

आत्मार्पणरूपा प्रपत्तिर्भक्तियोग—

मन्त्रयोग-लययोग-अमस्कयोग-हठयोग-राजयोग–इत्यादि नाना प्रकार के भक्तियोग बतलाए गए हैं। इन सबसे श्रेष्ठ गीता का प्रधान प्रतिपाद्य प्रपत्ति नाम का भक्तियोग है—

**"सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" ॥[1]**

---

१ गीता १८।६६।

यही गीता का प्रधान उपदेश है। अपने आपको ईश्वर के समर्पित कर देना ही प्रपत्ति नाम का भक्तियोग कहलाता है। आत्म-समर्पण का नाम ही प्रपत्ति है। खाना-पीना-सोना-उठना—इत्यादि इत्यादि जो कुछ भी काम यह जीव करता है—यदि उन सब अपने किए हुए कामों को किंवा आप ही खुद को यदि वह महेश्वर के अर्पण कर देता है तो इस आत्मसमर्पण ही को प्रपत्ति कहते हैं।

यह जीव अपने अंश को अर्थात् अपने आपको उस परमेश्वर में लगा ले—उस बडे चक्र का अपने को भी एक अरा समझे अथवा पर (ईश्वर) को अपने में समझे- बस, वह आत्मसमर्पण दो ही प्रकार से हो सकता है। सूर्य्य की किरणें सूर्य्य ही में लगी हुई हैं—यह पहला आत्मसमर्पण है। अथवा **'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वम्'**- इस न्याय के अनुसार सूर्य्य ही रश्मियों में बैठा हुआ है। रश्मि और सूर्य्य अभिन्न हैं—जो ही रश्मि है—वही सूर्य्य हैं। बस, यही दूसरा आत्मसमर्पण है। अपने को उसमें लगा देना अथवा उसको अपने में लगा देना—यही आत्मसमर्पण है। यह तो हुआ साम्प्रदायिक आत्मसमर्पण। अब लीजिए—वैज्ञानिक आत्मसमर्पण। पहले के आत्मसमर्पण में ईश्वर इस विश्व से परोक्ष माना गया है। विश्वप्रपञ्च से अलग जो ईश्वर है—उसमें आत्मसमर्पण कर देना चाहिए—यह पहले का आत्मसमर्पण है। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्यक्ष ईश्वर में ही आत्मसमर्पण करना वास्तविक आत्मसमर्पण कहलाता है।

यह जो विश्व दीख रहा है—वही साक्षात् परमेश्वर का स्वरूप है। विश्व ही भगवान् का स्वरूप है। उनका स्वरूप परोक्ष नहीं है—अपि तु, यह प्रत्यक्ष ही है। बस, अपने मन-प्राण-वाक् स्वरूप तीनों पुर्जों को इस विश्व के अर्पण कर देने का नाम ही आत्मसमर्पण किंवा प्रपत्तियोग है। संसार में जो कुछ है—वह सब मेरा है। मेरा जो कुछ काम है—वह सबके लिए उपकार करने वाला है। मैं मनसा-वाचा-कर्म्मणा किसी का अनिष्ट चिन्तन नहीं करता हूँ। मेरा कोई भी शत्रु नहीं है। हो कैसे? जो कुछ है—वह तो ईश्वर है—भला, मेरे प्रभु से मैं दुश्मनी क्योंकर कर सकता हूँ? बस, इस प्रकार के खयाल बनाकर अपना तन-मन-धन तीनों विश्व की सेवा के लिए अर्पित कर देना ही प्रपत्तियोग है। इस प्रकार से अपने आपको विश्व-सेवा के लिए समर्पित कर देना पहला आत्मसमर्पण है।

दूसरा है—हमें ही ईश्वर मानो—यह। इसमें स्वयं विश्व बनने की भावना करनी पड़ती है। सब कुछ मैं ही हूँ—यही दूसरा प्रपत्तियोग है। जब मैं सबमें अपने आपकी भावना करने लग जाऊँगा तो फिर मेरा शत्रु रह ही कौन जाएगा? उसी विश्व का मैं एक अंश हूँ—भला, उसके साथ मेरा विद्रोह कैसा? मुझे उस विश्वेश्वर की सदा तन-मन-धन से सेवा करनी चाहिए। बस, **'युङ्क्ते स्वमंशं परतः'**—का यही तात्पर्य्य है। अथवा मैं ही सब कुछ हूँ—बस, **'परं वा स्वस्मिन्'**—इसका यही तात्पर्य्य है। इस प्रकार से आत्मसमर्पण दो प्रकार का है। परन्तु ध्यान रहे—यदि दोनों ही में निष्काम बुद्धि है तभी वह आत्मसमर्पण कहलाएगा। यदि फलाशा है तो वह भक्तियोग कथमपि नहीं है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"प्रपत्तिरेषात्मसमर्पणं यन्महेश्वरायैव करोति जीवः ।
युङ्क्ते स्वमंशं परतः परं वा स्वस्मिन् द्विधात्मार्पणमित्थमस्ति" ॥२६६॥

भक्तियोग उपासना कहते किसे हैं ? इसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

कई कार्य ऐसे हैं जो जीवाधीन हैं-कई कार्य्य ऐसे हैं जो ईश्वराधीन हैं । खान-पीना-सोना-उठना-इधर उधर फिरना-इत्यादि इत्यादि कई कार्य ऐसे हैं-जिनमें जीव स्वतन्त्र है । वह चाहे जब खा सकता है, चाहे जब सो सकता है-चाहे जब पी सकता है, परन्तु खाने से-पीने से जो रुधिरादि बनते हैं-यह काम ईश्वर का है । इसमें जीव परतन्त्र है । भोजन मुँह में डाल लेना इसमें जीव स्वतन्त्र है, परन्तु हलक के नीचे उतरे बाद उससे जो रुधिरादि बनता है-उसमें जीवजी परतन्त्र हैं । यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाए तो खाने-पीने में भी जीव परतन्त्र ही है । जीव तो-'तृणस्य कुब्जीकरणेऽपि' असमर्थ है, तथापि मोटी दृष्टि से देखने पर भी कई कामों में हम जीव को भी स्वतन्त्र देखते हैं । उस व्यापक बडे ईश्वरतन्त्र में यह छोटा जीवतन्त्र अपना काम कर रहा है । बस, यह जीव अपने तन्त्र को यदि निष्काम-बुद्ध्या उस व्यापक ईश्वरतन्त्र में समर्पित कर देता है तो वही भक्तियोग उपासना कहलाती है । इसका सारा काम इस विश्व के लिए ही होता है । अपने स्वार्थ के लिए यह कुछ भी नहीं करता है । भगवान् प्रजापति के शिल्प को यदि यह जीव अपने शिल्प से उत्पन्न कर उसका संस्कार कर संस्कृत कर देता है तो उससे विश्वेश्वर की वृद्धि हो जाती है । तात्पर्य्य यही है कि हमारा जो भावनामय जगत् था-उसमें प्रजापति की मिट्टी वगैरह शिल्प को बैठा कर हम यदि एक घड़ा बना देते हैं-तो उससे प्रजापति भगवान् का दूसरा ही स्वरूप बन जाता है । श्लोक में-'संस्कृत्य'-पद दिया है । उसका तात्पर्य्य यही है कि चीज ऐसी बनानी चाहिए जो कि विश्व का चिरस्थायी अंग बन जाए । ऐसी नहीं बनानी चाहिए जो एक मिनिट भी न ठहरे । विश्व में पहले तार-रेल नहीं थे । आज इस जीव ने अपने सलीकों से उस प्रजापति के लोह-पीतल-तांबा वगैरह को शिल्प से संस्कृत करके नया बना दिया । इससे विश्वात्मा भगवान् का आयतन बढ गया । रेल के न होने से पहले विश्व का जैसा स्वरूप था-आज रेल के बनने से बिल्कुल बदल गया । तात्पर्य्य यही है कि संसार के स्वरूप को बढाने वाले संसार के अङ्गभूत निष्कामकर्म्म से किए हुए जो नए आविष्कार हैं-नई रचना हैं-उन्हें ही आत्मसमर्पण किंवा प्रपत्तिभक्तियोग कहते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"उपासना सा यदि जीवतन्त्रं जीवोऽर्पयेदीश्वरतन्त्रमध्ये ।
प्रजापतेः शिल्पमयं स्वशिल्पैः संसृज्य संस्कृत्य करोति ऋद्धम्" ॥२६७॥

वन का उदय प्राकृतधर्म्म है । एक जंगल जिसमें कि लाखों पेड़ उग रहे हैं-वह भगवान् प्रजापति का प्राकृतिकशिल्प है । इस ऐश-प्राकृतधर्म्म में, प्राकृतशिल्प में, शिल्पयोग से प्रविष्ट जो जीवतन्त्र है-वह-'आरामता' को प्राप्त हो जाता है । अर्थात्-पेड़ वगैरह सब प्रजापति का तन्त्र था । जब तक यह शुद्ध प्रजापति का तन्त्र था-तब तक इसे वन किंवा जंगल कहते थे । परन्तु आज जीवतन्त्र ने अपने

शिल्प का उस प्रजापति के तन्त्र में प्रवेश कर उसका संस्कार कर उसे 'बाग' शब्द से व्यवहृत करने लायक बना दिया है। सारे पदार्थ इस बागकूट में प्रजापति के ही हैं-केवल अपनी बुद्धि के योग से आत्मसमर्पण से प्रजापति का शिल्प संस्कृतरूप में परिणत हो गया है। बस, चूंकि इसमें स्वबुद्धि का योग है, अतएव हम इसे भक्तियोग कहने के लिए तय्यार हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"वनोदय: प्राकृतधर्म ऐशे तन्त्रे निविष्ट: स हि शिल्पयोगात्
आरामतामेति तदित्थमैशे स्वबुद्धियोगोऽस्ति स भक्तियोग:" ॥२९८॥

इसी प्रकार से अपूर्वभाव में जिसकी कि बहिर्जगत् में कहीं सत्ता ही नहीं है अर्थात्-खयाली घट में (खयालीजगत् में) जो कि सर्वथा जीव ही के ज्ञान से बना हुआ है-जिसमें कि ईश्वरीय ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है-उसमें यदि यह जीव ईश्वरभावविशेष को (पदार्थविशेष को) रखता हुआ अपूर्व पदार्थ को बनाता है तो ऐसा करता हुआ वह बाहर के विश्व को पुष्ट करता है।

तात्पर्य यही है कि पहले घड़ा कहीं भी नहीं था। पहले पहल उस घड़े का आकार हमारे ज्ञान में बनता है। उस ज्ञानीय घट में जिसकी कि बाहर सत्ता नहीं है-यदि हम प्रजापति की मिट्टी को चुन देते हैं एवं मिट्टी चुनकर जगत् में एक अपूर्व घड़ा तय्यार कर देते हैं-तो वह आत्मसमर्पण कहलायेगा। अपने खयालीजगत् को प्रजापति के पदार्थों से भरकर उससे विश्व का आयतन बढा कर उससे विश्व के निःस्वार्थभाव से उपकार करने का नाम ही भक्तियोग किंवा बुद्धियोग है। घड़ा निकलता है-हमारे ज्ञान से (जीवतन्त्र से) परन्तु शामिल है-उसमें ईश्वरीय पदार्थ भी। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अपूर्वभावे यदि जीवबुद्ध्या क्लृप्ते निवेश्येश्वरभावभेदम्।
अपूर्वमर्थं विदधद्बहिर्वा पुष्णाति विश्वं स च भक्तियोग:" ॥२९९॥

इसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

जीवस्थ जो भाव है-वह बहिर्जगत् है-अन्तर्जगत् है। वह जीव का अपना प्रातिस्विक जगत् है-उसकी अपनी चीज है। वह जीवभावस्थ अन्तर्जगत् खयालीजगत् मिट्टी-पत्थर-रूई इत्यादि ईशभावों से (ईश्वर के पदार्थों से) भक्त्या युत होकर के बाह्यजगत् में आ जाता है। अर्थात् खयालीजगत् बाहर के पदार्थों से मिलकर बहिर्जगत् में आ जाता है। कपड़ा-मकान-घर-रेल-तार-टेलीफोन इत्यादि इत्यादि सारे पदार्थ जीव के अन्तर्जगत् और ईश्वर के बहिर्जगत् से बनकर बहिर्जगत् में आए हैं। बहिर्जगत् के सम्बन्ध से ही मेरा खयालीजगत् बाहर में अपनी सत्ता रखता है। बस, इसे ही भक्तियोग कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"जीवस्थभावोऽस्य बहिर्जगत्[1] तन्मृद्ग्रावतूलादिभिरैशभावैः ।
भक्त्या युतं बाह्यजगद्गतं स्यात् वासोघटाद्यं स हि भक्तियोगः" ॥३००॥

जो यह जीव अपूर्वभावस्वरूप अपने आपको इस ईश्वरीयभाव मे (बहिर्जगत् में) समर्पित कर देता है–उससे यह आत्मा (जीवात्मा) परमेश्वर में (विश्व में) भक्त्यायुत होता है। अर्थात् उसी का जुज बन जाता है। मेरा अपूर्व जगत् खयालीजगत् था। वह मैं ही था। वह अब तक अपने ही पास था। परन्तु अब उस अपने खयाल को अर्थात् अपने आपको उस ईश्वर में उसी के पदार्थों से युक्त कर शामिल कर दिया–अपने को ईश्वर के समर्पित कर दिया। उसका जुज बना दिया, अतएव इसे प्रपत्ति नाम का भक्तियोग कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"जीवो य आत्मानमपूर्वभावस्वरूपमैशेऽर्पयतीह भावे ।
तेनायमात्मा परमेश्वरस्थो भक्त्या भवेत् तेन स भक्तियोगः" ॥३०१॥

॥ इति-आत्मसमर्पणरूपा प्रपत्तिर्भक्तियोगः ॥

—※—

१५–अपरा भक्तिः प्रेम्णा, परा भक्तिः श्रद्धया ॥६॥
अपराभक्ति प्रेम से, पराभक्ति श्रद्धा से—

सारा वेद ज्ञान-कर्म्म और उपासना–इन तीन भागों में विभक्त है। यही स्थानत्रयी कहलाती है। ब्राह्मण कर्म्मकाण्ड है। आरण्यक उपासनाकाण्ड है एव उपनिषत् ज्ञानकाण्ड है। इस प्रकार से वेद की प्रत्येक शाखा ज्ञान-कर्म्म-उपासना भेद से एवं मन्त्रसंहिता भेद से ४-४ भागों में विभक्त है। संहिता ब्राह्मण–आरण्यक और उपनिषत् प्रत्येक शाखा में ये चार भेद होते हैं। उपनिषत् वेद का अन्तिम भाग है, अतएव इसे 'वेदान्त' कहते हैं। मन्त्रभाग में तो मन्त्र ही मन्त्र हैं–रहा ज्ञान-कर्म्म और उपासना। बस, इन तीनों के ज्ञान के लिए कर्म्म-ज्ञान-उपासना के विषय में जो जो श्रुतिविरोध लोगों की नजर में आते हैं–उनकी निवृत्ति के लिए ही मीमांसा एवं वेदान्त (शारीरक सूत्र) का निर्म्माण हुआ है। मीमांसा शास्त्र-कर्म्म का निर्णय करता है–वेदान्त उपनिषत्-वाक्यों का समन्वय करता है एवं शांडिल्य-संहिता उपासना-विषयक संदेहों का निवारण करती है। मीमांसाशास्त्र १२ अध्यायों में विभक्त है, अतएव इसे द्वादशलक्षणी भी कहते हैं। इसके रचयिता महर्षि जैमिनि हैं एवं शांडिल्य संहिता जो कि शांडिल्य-सूत्र नाम से प्रसिद्ध है–४ अध्यायों में विभक्त है। इसके रचयिता महर्षि शांडिल्य हैं।

एवं वेदान्त-शास्त्र (शारीरक सूत्र) ४ अध्यायों में विभक्त है। इसके रचयिता महर्षि वेदव्यास हैं। बस, इस प्रकार से वेद का तत्त्व इन तीन हिस्सों में बँटा हुआ है। तीनों मिलाकर एक शास्त्र है। ज्ञान और कर्म्म के विषय में हमें कुछ नहीं कहना, कहना है–उपासना के विषय में। उपासना ही को

१–स्व० शास्त्रीजी ने 'जीवस्थभावोऽस्य बहिर्जगत्' की जगह 'जीवस्थभावोऽस्त्यबहिर्जगत्' पाठ किया है।

'भक्तियोग' कहते हैं। उपासना-काण्ड के निर्णायक महर्षि शांडिल्य हैं-उनका सूत्र है-**'सा पराभक्तिरीश्वरे'** ईश्वर में जो पराभक्ति करना है-अर्थात् श्रद्धापूर्वक भक्ति करना है-उसे पराभक्ति कहते हैं। अर्थात् श्रद्धापूर्वक जो उपासना की जाती है-बस, वही उत्कृष्टा है।

प्रेम रस के पिघलने का नाम है। मन जिससे द्रवीभूत हो जाता है-उसी का नाम प्रेम है। मन रसस्वरूप है-चूंकि वह पाँच तरह से पिघलता है, अतएव यह पाँच प्रकार का हो जाता है। एक ही प्रेम अवस्था-विशेष के कारण-१-श्रद्धा, २-वात्सल्य, ३-स्नेह, ४-काम, ५-रति-इन पाँच स्वरूपों में परिणत हो जाता है। अवरप्रतियोगिक परानुयोगिक जो प्रेम है-उसे ही श्रद्धा कहते हैं। शिष्य का गुरु के साथ जो प्रेम है-वह श्रद्धा प्रेम है। गरज यह है कि छोटे का बडे के साथ जो प्रेम है-उसी का नाम श्रद्धा है एवं परप्रतियोगिक अवरानुयोगिक जो प्रेम है-उसे ही वात्सल्य प्रेम कहते हैं। गुरु का शिष्य के साथ अर्थात् बडे का छोटे के साथ जो प्रेम है-उसे ही वात्सल्य कहते हैं एवं जो समानप्रतियोगिक समानानुयोगिक प्रेम है-उसे स्नेह कहते हैं। समानभाव का-मित्र मित्र का जो प्रेम हैं-उसे स्नेह कहते हैं। बस, चेतन क्लास में श्रद्धा-वात्सल्य और स्नेह-ये तीन ही प्रकार के प्रेम हैं। काम और रति-इनमें जड और चेतन दोनों का समन्वय है। जड के साथ जो चेतन का प्रेम है-वही काम कहलाता है। यह एक तरफा प्रेम है। पुस्तक हमसे जरा भी प्यार नहीं करती-करे कैसे जबकि वह जड़ है। परन्तु हम पुस्तक पर मरते हैं। बस, इसी को 'काम' कहते हैं एवं श्रद्धा, वात्सल्य, स्नेह, काम-इन चारों का समन्वय हो जाता है-उसे रति-प्रेम कहते हैं। यह रति सिवाय स्त्री के और दुनियाभर में किसी में नहीं होती।

स्त्री की पति पर श्रद्धा रहती है एवं पति का स्त्री पर वात्सल्यभाव रहता है। वह उसके बीमार हो जाने से तड़प उठता है एवं साथ ही में स्नेह भी रखता है एवं उसके हँसने पर, चाल पर, बालों पर-इत्यादि जड़ पदार्थों पर भी मुग्ध रहता है-बस, यही चौथा काम है। गरज यह कि प्रेम पाँच सीगों में बँटा हुआ है। इन पाँचों में जो श्रद्धा-प्रेम है-वह तो परम उच्चकोटि का है एवं कामप्रेम नीचे दर्जे की चीज है। इसमें जड़ के साथ प्रेम रहता है। प्रकृत में जिस प्रेमोपासना को अवर बतलाई है-वह यही कामप्रेमोपासना है एवं जिस श्रद्धोपासना को परा बतलाई है-वह श्रद्धाप्रेमोपासना है। कामप्रेमोपासना नीचे दर्जे की कैसे है एवं श्रद्धोपासना ही श्रेष्ठ कैसे है?-बस, यही इस प्रकरण का विषय है।

वास्तव में प्रेमोपासना दोषाक्रान्त ही है-जैसा कि आगे के प्रकरण से स्पष्ट हो जाएगा—

हमने जो उपासना बतलाई है-वह अवर और पर भेद से दो प्रकार की है। केवल मन के सम्बन्धभेद से ही वह उपासना दो प्रकार की हो जाती है। जिस उपासना में मन गिर जाता है-वह उपासना प्रेमोपासना कहलाती है। प्रेम से मन बन्ध जाता है। बन्धन में पड़ जाता है। परन्तु जिस उपासना में मन श्रद्धारस से उपास्याकाराकारित बन जाता है-वह ऊँचे दर्जे की उपासना होती है। प्रेम में मन बद्ध हो जाता है, अतएव प्रेमोपासना 'अवरा' है एवं श्रद्धा में मन बद्ध नहीं होता-अपि तु, तदाकाराकारित हो जाता है, अतएव श्रद्धोपासना परा है। कामप्रेम प्रेम है, श्रद्धाप्रेम श्रद्धा है। इतना

इतना ही नहीं-अपि तु, इस प्रेमोपासना में ८ दोष और भी रहते हैं-जिनके कारण हम अवश्य ही उस प्रेमोपासना को नीचे दर्जे की कह सकते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"उपासनं तद् द्विविधं प्रपद्येऽवरं परं चेति मनोविशेषात्।
स प्रेम यत्रास्ति मनोऽवरं तत् परं तु स श्रद्धमनः कृतं स्यात्" ॥३०२॥

सत्त्व-रज और तम-ये गुण होते हैं। जो निरुपाधिक प्रकाश है-उसे ही सत्त्व गुण कहते हैं एवं सोपाधिक प्रकाश को रजोगुण कहते हैं एव अन्धकार को तमोगुण कहते हैं। सत्त्वप्रकाश में स्वस्वरूप से से विकाश है-उसे किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं है एवं रजःप्रकाश को घटपटादि विषयों की अपेक्षा है एवं तम अन्धकारमय है। सत्त्व-प्रकाश नित्य है-रजःप्रकाश नैमित्तिक है। रज किसी निमित्त से उत्पन्न होता है। राग से जो प्रवृत्ति होती है-उसमें किसी विषय की अपेक्षा है। विना विषय के राग उत्पन्न ही नहीं होता। दूसरे के गुणों को देखकर राग हुआ करता है। परन्तु जो सत्त्वप्रकाश है-वह रागद्वेष से रहित है। सत्त्वगुणप्रधान मनुष्य न किसी से द्वेष करता है एवं न किसी से राग करता है। उसका संसार के प्राणिमात्र के साथ निष्काम-निरुपाधिक प्रेम है। वह सबका भला चाहता है एव रजोगुणप्रधान मनुष्य दूसरों से प्रेम करता है, परन्तु सापेक्ष। जब तक तोता मीठा बोलता है-तब तक उसके साथ प्रेम रहता है, स्त्री तरुणी रहती है-तब तक उसके साथ राग रहता है, जहाँ उसकी वृद्धावस्था आई कि उससे राग हटा नहीं। इस प्रकार इसके लिए सारा जगत् रागद्वेषमय है। परन्तु जो तमोगुणप्रधान मनुष्य होते हैं-वह राग करना जानते ही नहीं। वे किसी के गुण पर मुग्ध हों-यह कूवत (सामर्थ्य) परमेश्वर ने उनमें जरा भी नहीं दी। दूसरे के गुणों को देखकर वे सदा भ्राष्ट्र चणकवत् उछला करते हैं। कहने का तात्पर्य्य यही है कि सत्त्व उत्तम दर्जे की वस्तु है, रज मध्यम दर्जे की वस्तु है एवं तम नीचे दर्जे की वस्तु है। सत्वगुण गुण है एवं रजोगुण गुण नहीं दोष है। राग-द्वेष-मोह तीनों ही दोष हैं। इसीलिए-'रागद्वेषमोहा दोषाः'[1]-यह कहा जाता है। राग भुकाव का नाम है, द्वेष, खिचाव का नाम है एवं जागते हुए की मूर्च्छा का नाम मोह है। जो झाँकता है, सुनता है, खाता है, पीता है सब कुछ करता है, परन्तु उसे अपने हित-अहित का ज्ञान नहीं। सदसद् का विवेक नहीं ऐसी जो अवस्था है-उसे ही 'मोह' कहते हैं। जिसमें मोह होता है-उसे लोक में भोंदू कहा करते हैं।

बतलाना प्रकृत में हमें यही है कि जिस उपासना में प्रेम होता है-वह अवरा कहलाती है। प्रेम राग से होता है। राग एक प्रकार का द्वेष है, द्वेष दोष है-इसलिए राग से होने वाला जो प्रेम है, तदात्मिका जो उपासना है-वह दोषमूलिका है। प्रेमोपासना दोष की अपेक्षा रखती है। बस, प्रेमोपासना में राग की अपेक्षा होना यही पहला दोष है। प्रेमोपासना में राग-दोष की अपेक्षा होती है। हमारे में राग होता है तभी दूसरे पर प्रेम होता है। नन्हें बच्चे को देखते ही उस पर प्रेम हो जाता है। चूंकि उनमें राग-दोष बैठा हुआ है, अतएव बच्चे के साथ प्रेम होता है। रागप्रकृतिवाले मनुष्य सदा सबसे

१ गौतमसूत्र १।१।१८।

प्रेम किया करते हैं। जब देखो जब लोगों को हँसाते रहते हैं। दूसरों से प्रेम करना-यह रागियों की स्वाभाविक प्रकृति है। चेतन के साथ तो यह प्रेम करते ही हैं-जड़ पदार्थों पर भी इनका प्रेम हो जाता है। जहाँ सुन्दर सी फुलवारी, सुन्दर सा नाटक का पर्दा देखा कि उसके साथ इनका प्रेम हुआ। परन्तु चूँकि यह सारा प्रेम राग-दोषमूलक है, अतएव हम इस प्रेमोपासना को नीचे दर्जे की ही कहेंगे। बस, इस दोषापेक्षत्व को बतलाने के लिए ही-**'रजोऽनुयोगान्मनसि स्वतः स्यात् प्रेमा'** यह कहा गया है।

दूसरों के साथ जो इसके मन में प्रेम होता है-वह प्रेम राग-गुणों का आश्रय लेकर ही होता है। गुण से राग उत्पन्न होता है। गुण के आश्रय से प्रेम उत्पन्न होता है। अहा! यह बच्चा कैसे मुस्कराता है। इसकी दन्तपङ्क्ति कैसी मनोहर है। इसके घुंघराले बाल जो चित्त को चुराए ही जाते हैं। इस प्रकार से गुणी के गुणों के आश्रय से राग उत्पन्न होता है। जो कोयल दूसरे के बच्चे को मार डालती है, अपने बच्चे को पालती नहीं, सदा क्रोध में आँखें लाल रखती है एवं महा कुरूपा है-इतने दोषों के होने पर भी हम केवल उसकी मीठी बोली पर लट्टू हो जाते हैं। किसी कवि ने इसी बात को क्या ही सुन्दर शब्दों में कहा है—

> **"पिकः कृष्णो नित्यं परमरुणया पश्यति दृशा।**
> **परायत्तिर्द्वेषी स्वसुतमपि नो पालयति यः॥**
> **अथाप्येषोऽमीषां सकलजगतां वल्लभतमो**
> **न दोषा गण्यन्ते मधुरवचसां केनचिदपि" ॥**

प्रकृत में कहना यही है कि यह राग गुणों के आश्रय से ही उत्पन्न होता है। चले थे उपाधियों को छोडने, उलटे फंस गए उपाधियों में भला। ऐसी सोपाधिका प्रेमोपासना क्योंकर उत्तम बतलाई जा सकती है? बस, इसी दूसरे दोष को बतलाने के अभिप्राय से-**'व्यपाश्रित्य गुणांस्तु सोऽस्ति'**-कहा गया है। प्रेम गुणों को देखता है, उसके हँसने को, चलने को, मधुर बोलने को ही प्रेमी देखा करता है। प्रेमी की दृष्टि सदा उसके गुणों पर रहती है। इस प्रकार से यह प्रेमी उस व्यापक आत्मा को परिछिन्न गुणस्वरूप में देखता हुआ उसे अल्प बनाकर देखा करता है। अर्थात्-भिन्न-भिन्न गुणों पर ही प्रेमी की दृष्टि जाती है। गुणों के चक्कर में पड़ने से उस गुणी पर इनका लक्ष्य भी नहीं जाता है। मधुर मुरली की तान ही पर लट्टू रहते हैं, मोर मुकुट की लटक पर ही मुग्ध रहते हैं, उनके रासक्रीडा में ही जीवन को लगाए रहते हैं। उन्हें पता नहीं कि जिसकी यह लटक है, जिसकी यह रासक्रीडा है उस अव्ययेश्वर का स्वरूप क्या है? राम राम उसे पहचानने की क्या जरूरत है? लाला के माखन भोग लगाया और चट से खा गए। उन्हें उपासनातत्त्व से प्रयोजन थोड़े ही है-उन्हें तो हाथ-पांव, चाल-ढाल, बांसुरी की तान से मतलब है-माखन खा-खा कर उपासनातत्त्व को अधोगति में ले जाना ही एकमात्र कर्तव्य है। हम ऐसी प्रेमोपासना के एकदम खिलाफ हैं जो कि लक्ष्य-भ्रष्ट करवा देती है। गुण तो जड़ है, हम जड़ पर ही जाकर के-अनात्मा ही पर जाकर के उपासना का खात्मा समझने लगते हैं। अरे! गुणों के ऊपर मोहित होना-गुणों की उपासना करना तो अनात्मा की उपासना करना है। गुणोपासना से मन की अनात्मा में

स्थिति होती है । जिस आत्मतत्त्व के लिए उपासना की जाती है-उसका तो इस गुणोपासना में पता भी नहीं रहता । गुणों की उपासना करना लक्ष्यभ्रष्ट होना है. अनात्मा पर ही जाना है । हमें कोयल से क्या मतलब ? हम तो उसकी मीठी बोली पर आशिक हैं । हमें ईश्वर से क्या मतलब ? हम तो उनकी सुन्दर मूर्त्ति पर आशिक हैं । बस, इस अनात्मस्थत्व तीसरे दोष को बतलाने के लिए-'**प्रेमा गुणानीक्षत एव तांस्तानत्यल्पमात्मानममुं स पश्येत्**'-यह कहा गया है । भला जो उपासना लक्ष्यभ्रष्ट करवा देती है-मन का अनात्म वस्तु के साथ सम्बन्ध करवा देती है-उसे अवर न कहें तो क्या **परमोत्तमोत्तम** कहें ? जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"रजोऽनुयोगान्मनसि स्वतः स्यात् प्रेमा,[1] व्यपाश्रित्य गुणांस्तु सोऽस्ति ।[2]
प्रेमा[3] गुणानीक्षत एव तांस्तानत्यल्पमात्मानममुं स पश्येत्" ॥३०३॥

प्रेमोपासना के दोषों की समाप्ति इतने पर ही नहीं हो जाती है-अपि तु, इसमें दोषों की धारा आगे तक चलती है । हमारे सामने एक बालक खड़ा हुआ है-कभी उसके हँसने पर मन दौड़ता है, कभी बालों की लटक पर दौड़ता है, कभी हाथों की सुघड़ाई पर दौड़ता है, कभी पैरों के घुंघरु पर तबियत मचलती है, कभी उसके रोने पर ही तबियत खिल उठती है-इस प्रकार से अनेक गुणों पर इस उपासक का मन दौड़ा करता है-मुग्ध हैं-सारे गुणों पर एवं एककालावच्छेदेन सिवाय एक के दूसरे को ले नहीं सकता है, ऐसी हालत में स्थिरता एक पर भी नहीं होती है । इसे लूँ, इसे लूँ, इसे लूँ-इसी चञ्चलता में पड़कर एक नानात्व के चक्कर में पड़ जाता है । एककालावच्छेदेन सारे गुणों को देखने में है असमर्थ, अतएव अवश्य ही इसके मन में त्याग और ग्रहस्वरूप आत्यन्तिक कर्म्मयोग उत्पन्न हो जाता है । छोडना और लेना-यह बराबर अनवरत (आत्यन्तिकतया) जारी रहता है । बस, अतएव इसकी उपासना-एकान्तता हो ही नहीं सकती है । कभी उसे छोडता है-दूसरे को लेता है । कभी उसे छोड तीसरे पर दोडता है । गरज यह है कि नानाभाव के कारण किसी एक पर इसकी तबियत जमती ही नहीं है । चित्तवृत्ति-निरोध को योग कहते हैं-'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' ।[4] जब चित्तवृत्ति का निरोध ही नहीं तो फिर 'भक्तियोग' कैसा ? यदि आत्मा की उपासना करता तो फिर झगड़ा ही क्या था ? इसका चित्त एक पर नहीं जमने पाता । कभी मुकुट की प्रशंसा में लट्टू रहता है, कभी पुष्प-शृङ्गार पर बलिहारी जाता है, कभी हिंडोले पर मन को दौड़ता है-बस, यही तो प्रेमोपासना के अवरत्व का ज्वलन्त प्रमाण है । आत्मा तो एक है-उसमें नानाभाव हो ही नहीं सकते । यदि नाना भाव हैं तो आत्मा की उपासना भी नहीं है । बस, इसीलिए हम इस गुणाश्रय से होने वाली, अतएव नानात्वभाव उत्पन्न कराने वाली जो प्रेमोपासना है-उसे हम 'नीचे दर्जे' की चीज बतलाते हैं । चूंकि इसमें मन का ऐकान्तिकत्व नहीं होता, अपि तु, नैकान्तिकत्व (अनेकान्तिकत्व) ही रहता है, अतएव यह उपासना

१-दोषापेक्षित्वम् २-सोपाधिकत्वम् ३-अनात्मस्थत्वम्
४-पातञ्जलयोगसूत्र १।१।

अवरा है। बस, इस उपासना में यही नैकान्तिकत्व ही चौथा दोष है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"गुणाननेकान् युगपन्न शक्तो द्रष्टुं ततस्तन्मनसि ध्रुवं स्यात्।
त्यागग्रहात्यन्तिककर्मयोगो नैकान्तता[1] स्यादवरं ततस्तत्" ॥३०४॥

किसी पर जब मन स्थिर हो जाता है तो विक्षिप्तता नहीं होती। यदि हमारे सामने एक ही पदार्थ आता है तो हम विना विक्षिप्तता के आनन्द से उसका प्रत्यक्ष कर लेते हैं। परन्तु यदि एकाएक हजारों चीजें सामने आ जाती हैं तो चित्त अहका-बहका सा हो जाता है। इसे देखें या इसे देखें-इसी चक्कर में पड़ जाता है। ऐसी हालत में आदमी भौंचक्का सा रह जाता है। नाना गुणों के ज्ञान से मन क्षिप्त हो जाता है-चञ्चल हो पड़ता है, बस जब मन चञ्चल हो जाता है तो फिर योगसिद्धि का क्या ठिकाना है? चूंकि एकान्तता नहीं होती, अतएव मन क्षिप्त (चञ्चल) हो जाता है-किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है। जब मन ही स्थिर नहीं तो उपासना कैसी? बस, इस उपासना में विक्षिप्तत्वस्वरूप-यह पाँचवाँ दोष है-इसी अभिप्राय से **'नानागुणप्रत्ययतश्च तत्र क्षिप्तं मनस्तत्र न योगसिद्धिः'**-यह कहा गया है।

अपि च-गुणों की उपासना करता हुआ यह उपासक उपास्य को अपने आत्मा से इतर समझता हुआ उस आत्मा में कभी नहीं पहुँच सकता है। यह भगवान् है-मैं भक्त हूँ-मैं तो इनसे प्रेम करता हूँ-यह जो गुणोपासना है-यह आत्मा और परमात्मा के बीच में अन्तर डालती है। मैं उपास्य को अपने से अलग समझता हूँ। तभी तो उसके गुणों का बखान किया करता हूँ। यदि आत्मा ही की उपासना करता तो आत्मा तो एक था। फिर भेदबुद्धि होती ही क्यों? तो बस, चूँकि गुणोपासक उपास्य को आत्मा से अलग समझता है, अतएव (उसके और इसके बीच में) व्यवधान रहने से यह हर्गिज परात्मा से नहीं मिल सकता है-बस, इसीलिए हम इस प्रेमोपासना को अवर उपासना कहते हैं। इस उपासना में 'सान्तरत्वस्वरूप' यह छठा दोष है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"नानागुणप्रत्ययतश्च तत्र क्षिप्तं[2] मनस्तत्र न योगसिद्धिः।
उपास्यमात्मेतरतश्च[3] पश्यन्नास्मिन् गतः स्यादवरं ततस्तत्" ॥३०५॥

अपि च-उपासना की जाती है-बन्धन को तोड़ने के लिए, परन्तु यह प्रेमोपासना तो मन में उलटा बन्धन डालती है। उस बालक से हमारे मन का ऐसा बन्धन हो जाता है कि उसके देखे विना हमें चैन नहीं पड़ता। हमने बन्धन खोला क्या उलटी आफत मोल ले ली। मन उसमें जाके गुणप्रेम-स्वरूप गूंद से चिपक गया। गुण विजातीय पदार्थ है, अतएव उसके द्वारा मन बन्धन से खुलने की बजाय उलटा फँस जाता है। तो भला जो प्रेमोपासना बन्धन तोड़ने के बजाय उलटा बन्धन में डालती है उसे उत्तम कैसे बतलाया जा सकता है? बस इस प्रेमोपासना में यही सातवाँ बन्धन-हेतुत्वप्रयुक्त दोष है।

१-नैकान्तिकत्वम् २-विक्षिप्तत्वम् ३-सान्तरत्वम्

अपि च-अतएव इस उपासना से परमेश्वर में अद्वैतभाव होता ही नहीं है। विजातीयगुण बीच में ऐसा प्रतिबन्धक रहता है-वह कभी जीवात्मा का परमात्मा से अभेद होने ही नहीं देता है। गुण विजातीय है। भला जब यह मध्यस्थ हो जाए तो फिर क्योंकर जीवात्मा परमात्मा में मेल हो सकता है ? जब विदेशी लोग हमारे बीच में हैं तो फिर क्योंकर हमारे में मेल हो सकता है, अतः यदि मेल करना है, आत्मस्वाराज्य प्राप्त करना है, पराधीनता की बेड़ियों को काटना है तो मध्यस्थ विदेशियों के गुणों को अपनाना छोड दें। अपने आपको अपनाओ-स्वावलम्बी बनो। दूसरों का सहारा मत लो। विदेशी निकलना नहीं चाहते-रागद्वेषादि एकाएक अलग नहीं हो सकते, परन्तु आत्मबल से सबको बाहर निकाल कर फैंकना ही पड़ेगा। आत्मशोषण करने वाले इन मध्यस्थों का सर्वनाश करना ही पड़ेगा-तभी आनन्दस्वरूप बन सकते हैं, तभी आत्मानन्दानुभव कर सकते हैं। जब तक बीच में गुणों की सत्ता है-तब तक मेल नहीं-जब तक मेल नहीं तब तक अद्वैत नहीं जब तक अद्वैत नहीं-तब तक आनन्द नहीं। गुणोपासना में द्वैत ही नहीं होता-अपि तु द्वैतभूयस्त्व हो जाता है। विदेशियों की सत्ता से दो ही दल नहीं होते-अपि तु, अनेक दल हो जाते हैं-सब अपनी अपनी खिचड़ी अलग-अलग पकाते हैं। हम वीणा की मधुर ध्वनि पर मुग्ध हो रहे हैं-मुरली की मधुर तान पर मोहित हो रहे हैं। हम अलग हैं, मुरली अलग है-उसकी तान अलग है-उसे बजाने वाला अलग है एवं तान और हमारे से उसका सम्बन्ध-ये भिन्न ही वस्तु हैं। अधिक कहना व्यर्थ है। निदर्शनमात्र है। प्रेमोपासना में द्वैतभाव भरा पड़ा है।

गुणोपासना करने वाला उपासक आनन्द का अनुभव करता है। उन-उन गुणों से इसे आनन्द मिलता है। परन्तु यह स्वयं आनन्द नहीं बनता। आनन्दवान् बनता है-आनन्द नहीं बनता। यदि बाहर की वस्तु है तो इसे आनन्द मिल रहा है-नहीं हैं तो दुःखी है। आत्मानन्द का इसे कहीं पता भी नहीं है। बस, इसीलिए हम प्रेम से होने वाली भक्ति को अर्थात्-उपासना को 'अवरा' कहने के लिए तय्यार हैं। वैज्ञानिक दृष्टि में यह प्रेमोपासना बिलकुल नीचे दर्जे की चीज है। जिन्होंने-ज्ञान से बढकर प्रेम का दर्जा ऊँचा मान रखा है, प्रेमोपासना को दोषरहित समझ रखा है-उन्हें इस प्रकरण से शिक्षा लेनी चाहिए। उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि हमारी इस प्रेमोपासना में ज्ञानोपासना की अपेक्षा अनेक दोष हैं-जिनसे कि बन्धन मुक्ति तो दूर रही-उलटा बन्धन होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"प्रेमा मनोबन्धनहेतुरस्मान्नाद्वैतसंपत् परदेवतायाम्।[1] [2]
आनन्दमत्रानुभवत्ययं नानन्दः स्वयं स्यादवरं ततस्तत्" ॥३०६॥

परन्तु जो श्रद्धोपासना है-वह ऊँचे दर्जे की चीज है। गुणों पर ही रह जाना प्रेमोपासना है एवं गुणों द्वारा गुणी पर पहुँच जाना श्रद्धोपासना है। जैसे प्रेमोपासना में गुणों का आश्रय लिया जाता है-तद्वत् श्रद्धोपासना में भी आश्रय तो गुणों का ही लिया जाता है, विना किसी आश्रय के तो दृष्टि जम ही नहीं सकती है, परन्तु गुण पर ही रह जाना मूर्खता है। गुण तो गुणी के पास पहुँचने का द्वार है। द्वार ही पर बैठे रहना एवं मकान के स्वामी से नहीं मिलना लक्ष्यभ्रष्ट होना है। स्वतन्त्रता हमें

१-बन्धहेतुत्वम् २-द्वैतभूयस्त्वम्

विदेशियों के सहारे से ही मिल सकती है। हमें उनको अपनाना चाहिए। हमें उनके साथ मनुष्योचित बर्ताव करना चाहिए। हमारा मेल उनको राजी रखने पर ही सकता है। हम एकान्ततः उनका वहिष्कार कर अपनी सत्ता नहीं जमा सकते। हमें राजनीति का आश्रय ले उनमें मनमुटाव पैदा नहीं करना चाहिए। हम जानते हैं कि वे हमारी उन्नति में बाधक हैं, हम जानते हैं कि सारे उपाय मिथ्या हैं-असत् हैं, परन्तु क्या करें-सत्य के ज्ञान के लिए असत्य का आश्रय लेना ही पड़ता है। रस के ज्ञान के लिए बल का आश्रय लेना ही पड़ता है। विना बल के रस पकड़ ही में नहीं आ सकता है। रस का लक्षण बल ही तो है। हम जानते हैं-पौथी पर चिह्नित-'क-च-ट-त-प-कोई चीज नहीं है-चीज है-ध्वनि। शब्द 'क-च-ट-त-प' नहीं है, अपितु, ध्वनि को इन चिह्नों को नहीं कहते-अपि तु, 'क' की ध्वनि को (आवाज को) शब्द कहते हैं। इसीलिए शब्द का लक्षण करते हुए भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

"कस्तर्हि शब्दः-येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः। अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तद्यथा-शब्दं कुरु मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवक इति। ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते-'तस्माद्ध्वनिः शब्दः"।[1]

तथापि इस ध्वनि के ज्ञान के लिए उस क-च-ट-त-चिह्न का आश्रय लेना ही पड़ता है। विना इनके शब्दज्ञान त्रिकाल में भी नहीं हो सकता है। हम जानते हैं कि ईश्वर व्याप्य नहीं बन सकता, परन्तु विना व्याप्त के-मूर्ति के ईश्वर को पहचान भी नहीं सकते। विना साकार के निराकार का ज्ञान दुष्कर ही नहीं असंभव है। हम जानते हैं कि दरवाजे से हमारा कोई प्रयोजन नहीं हमें तो इस मकान के स्वामी से मिलना है-ऐसा जानते हुए भी हमें झक मारकर पहले द्वार को ढोकना पड़ता है, अन्यथा स्वामी से मिलना असंभव है। यदि कूद कर जाएँगे तो हाथ-पैर तुड़ा बैठेंगे। कहने का तात्पर्य्य यही है कि हरहालत में गुण का आश्रय लेना पड़ता है। विना असत् के सत् का ज्ञान हो ही नहीं सकता। इसी अभिप्राय से भगवान् भर्तृहरि कहते हैं—

"उपायाः शिक्षमाणानां बालानामपलापनाः।[2]
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते"॥[3]

परन्तु यदि गुणों पर ही रह जाता है तो वह अवरोपासना है एवं गुणों द्वारा गुणाश्रय गुणी में यदि मन दृढस्थिति को प्राप्त हो जाता है-उस परमेश्वर के गुण एवं दोष किसी पर दृष्टि नहीं रखता है तो बस, उसे हम श्रद्धा कहेंगे। यहाँ मन तन्मय हो जाता है। प्रेम में मन चिपक जाता है। किन्तु श्रद्धा में तदाकारारित हो जाता है। प्रेम में मन आनन्द का अनुभव करता है-आनन्दवान् रहता है, परन्तु श्रद्धा में आनन्द ही बन जाता है-वही बन जाता है। प्रेम में मन फँस जाता है-श्रद्धा से तद्रूप

१-महाभाष्यम् १।१।१। २-स्वं० शास्त्री जी ने 'बालानामुपलालनाः' पाठ किया है। जबकि वाक्यपदीय सन् १८८७ के बनारस संस्करण में 'बालानामपलापनाः' पाठ है। ३-वाक्यपदीय २।२४०।

बन जाता है। बस, जिस उपासना से तादात्म्य हो जाता है-उसी का नाम श्रद्धोपासना है। इसमे दोष किंवा गुण पर दोनों ही पर दृष्टि नहीं रहती, अतएव-**'दोषदर्शनानुकूलवृत्तिप्रतिबन्धकवृत्तिः श्रद्धा'**-यह कहा जाता है। चूँकि इस उपासना में मन चिपकता नहीं-तन्मय हो जाता है, अतएव हम इस उपासना को 'पराभक्ति' कहने के लिए तय्यार हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"दृष्ट्वा गुणानेव गुणाश्रये यदि स्थितिं दृढामेति मनोऽथ तत्र चेत्।
दोषान् गुणान् वा न परं व्यपेक्षते श्रद्धा तदा सास्ति मनोऽत्र तन्मयम्" ॥२०७॥

यदि श्रद्धा का असली स्वरूप पूछा जाए तो-प्रवृद्ध प्रेम ही बतलाना पड़ेगा। बढते-बढते प्रेम जब पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तो-वही प्रेम श्रद्धा कहलाने लगता है। आत्यन्तिक प्रेम ही को श्रद्धा कहते हैं। जब प्रेम बढ जाता है तो एक अपूर्वतया श्रद्धास्वरूप उत्पन्न हो जाता है। उस अन्तिम अवस्था में न उपास्य के गुणों पर लक्ष्य रहता है-न दोषों पर। हो कैसे ? जबकि दोनों का अभेद हो जाता है। उपासक ही तो उपास्य बन जाता है। उपासक का मन और उपास्य का मन एक बन जाता है। इसीलिए भाषा में प्रवृद्ध प्रेम के विषय में **'थारो म्हारो एक जी छै'**-यह कहा जाता है। इस प्रेम के लिए **'लैला की नस को काटा तो मजनूं के खून निकला'**-यह कहा जाता है। प्रेम ही तो अन्त में श्रद्धा में अर्थात्-उपास्याकाराकार में परिणत हो जाता है। जब तक कच्चा प्रेम रहता है-तब तक शंख-घण्टा हिलाई जाती है। प्रातःकाल उठकर ठाकुर जी को निहलाना-भोग लगाना इत्यादि तो नियम है। जैसे रोटी खाना नित्य का कर्म्म है-वैसे ही यह रोज का काम है। इस उपासना में श्रद्धा थोड़े ही है। असली प्रेम में नेम नहीं रहता है। इसीलिए-**'जहाँ प्रेम तँह नेम नहीं जहाँ नेम 'तँह प्रेम नहीं'**-कहा जाता है। आत्यन्तिक प्रवृद्ध प्रेम में जिसे कि हम श्रद्धा कहेंगे-द्वैत थोड़े ही रहता है। वहाँ तो **'योऽसौ सोऽहं-योऽहं सोऽसौ'**-हो जाता है। वहाँ तो मन तद्रूप होकर उस परात्मा में स्थिर हो जाता है-न कि प्रेमवत् बद्ध रहता है। प्रेमोपासना में जैसे मन बद्ध हो जाता है-वैसे श्रद्धोपासना में बद्ध नहीं होता-अपि तु तन्मय हो जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"प्रेमा यदैति स्वयमातिशय्यं श्रद्धा तदा रूपमुदेति भिन्नम्।
तद्रूपवत् तत्र मनः स्थितं स्यान्न प्रेमवत् तत्र मनोऽस्ति बद्धम्" ॥२०८॥

श्रत् को सत्य कहते हैं। **'श्रीयते तत् सत्यम्'**। तो बस, अबाधित विषय की अस्तिता का दृढ ग्रहण है एवं जैसा उसका ग्रहण हो गया है-उससे अन्यथा कभी उसका ग्रहण होता ही नहीं है-बस, इसे ही श्रद्धोपासना कहते हैं-जो कि मन की प्रतिष्ठा है। हमने पानी को पानी समझ रखा है-घोड़े को घोड़ा समझ रखा है, पुस्तक को पुस्तक समझ रखा है। इनके विषय में अन्यथात्व का कभी सन्देह ही नहीं होता है। मेरा आत्मा घोड़े के आकार से आकारित हो रहा है। मेरा ज्ञान घोड़ा बन रहा है-मेरे अन्तर्जगत् का घोड़ा और मैं अलग नहीं हूँ। तो बस, जैसे अबाधित इन विषयों का **ज्ञान है-मन**

सदा इनके लिए **'इदमित्थमेव'**-**'नान्यथा भवितुमर्हति'**-यह दावा भरता है-तद्वत् यदि उपासक उपास्य में दृढ विश्वास कर लेता है-अपने में और उसमें भेद नहीं समझता है, उसे आत्मस्वरूप ही समझता है-'अपना और उसका'-यह बू सर्वथा हट जाती है एवं सदा यही भाव प्रतिष्ठित रहता है तो बस, वही श्रद्धोपासना कहलाती है। यदि किसी पर सत्यविश्वास नहीं होता है तो मन **'इदं वा इदं वा'** के चक्र में पड़कर चञ्चल रहता है, परन्तु जब **'इदमित्थमेव'**-यह हो जाता है, मन को 'यह घड़ा ही है'-यह सच्चा विश्वास हो जाता है तो तद्विषयक मन का चाञ्चल्य दूर हो जाता है एवं मन उस घटाकार में आकारित होता हुआ प्रतिष्ठित हो जाता है। मन की प्रतिष्ठा श्रद्धा ही है-**'इदमस्ति'**-यह सत्यत्वधारण ही मन की प्रतिष्ठा है। बस, इस चित्तवृत्तिनिरोध ही को तो योग किंवा उपासना कहते हैं।

तात्पर्य्य यही है कि अबाधितरूप से जो सत्यत्व-धारणा है-उसे ही श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा से मन प्रतिष्ठित हो जाता है एवं मन के निरोध ही को कहते हैं-योग, अतएव हम श्रद्धोपासना को **'परा भक्ति'** कहने के लिए तय्यार हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"श्रत्सत्यमाहुर्विषयास्तिताया अबाधिताया ग्रहणं दृढं चेत्।
तदन्यथात्वग्रहणातिरेकाच्छ्रद्धानमुक्तं मनसः प्रतिष्ठा" ॥३०९॥

अर्जुन भगवान् से कहता है—

"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्" ॥[1]

भगवान् उत्तर देते हैं—

"असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते" ॥[2]

बस, अभ्यास ही इस मन को स्थिर बना सकता है। अभ्यास करते-करते जिस दिन धारणा-ध्यान-समाधि तीनों का एक बिन्दु पर संयम हो जाता है-उसी समय भक्त से आत्मा विकसित हो पड़ता है। एकदम आत्मा की सारी ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं एवं वह मुक्त हो-स्वस्वरूप में परिणत हो जाता है। उस श्रद्धेश्वर में ज्ञान की अनवरत चलने वाली धारा से चिर एवं निरन्तर मनन से यदि मन स्थिर हो जाता है-दीर्घकाल के मनन से उपासक का मन उपास्य में जा मिलता है तो उसे हम श्रद्धोपासना कहने के लिए तय्यार हैं। उस दिन उस श्रद्धोपासना का स्वरूप खिलता है-जिस दिन के दीर्घकाल के अभ्यास से उपास्य का मन उपासक के आकार में परिणत हो जाता है। बस, जब दीर्घकाल के मनन से जीवमन ईश्वरमन में चला जाता है-वह दृढभूमि हो जाता है। वह अब कभी ईश्वर से अलग नहीं हो सकता है। इसी अभिप्राय से महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

१-गीता ६।६४। २-गीता ६।३५

"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः"।[1]

चूंकि इस दृढभूमि के कारण दोनों का स्रोत एक हो जाता है, अतएव उस महा-महिमायुक्त ईश्वर का इस अल्पमहिमा-युक्त जीव में संस्रव हो जाता है। अर्थात् उस बडे के साथ मिल जाने से उसके धर्म्म इस छोटे में आ जाते हैं। बस, इसी अद्वैत को लक्ष्य में रखकर हमने प्रेमोपासना की अपेक्षा श्रद्धोपासना को ऊँचे दर्जे की बतलाई है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"श्रद्धेश्वरे प्रत्ययसंप्रवाहतश्चिरं स्थिरं भाति निरन्तरं यदि।
श्रद्धा तदा स्याद् दृढभूमिरित्यतो महामहिम्नोऽल्पमहिम्नि संस्रवः" ॥३१०॥

॥ इति भक्तितारतम्यप्रकरणं समाप्तम् ॥

—※—

१६–श्रद्धोपासनोदाहरणम् ॥७॥
श्रद्धोपासना के उदाहरण—

श्रद्धा के उदाहरण बतलाते हैं-आकाश में जो एक प्रकार की नीलिमा दिखलाई पड़ती है-उसे कितने ही लोग अन्धकार समझ कर उसकी उपासना कर रहे हैं। उनका विज्ञान उन्हें उस नीलिमा को अन्धकार ही बतला रहा है। अन्धकार ही में उनकी श्रद्धा है। उनका आत्मा उस अन्धकार के आकार में परिणत हो रहा है। अन्धकार ही है-यह निश्चित भाव उनके आत्मा में पैदा हो गया है। जैसे हमारा अन्तर्जगत् का घड़ा हमसे अभिन्न है-तद्वत् हमारे विश्वास में बैठा हुआ आकाशान्धकार हमसे जुदा नहीं है। हमारा आत्मा तन्मय हो रहा है। "आकाश अन्धकारमय है-जो कि अन्धकार सूर्य्य के चारों ओर भरा हुआ है-वही सूर्य्य की सफेद चद्दर में से छनकर आता हुआ नीला दिखलाई पड़ रहा है-वास्तव में वह काला है"-यह कहकर वे अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं।

कई लोग वायुघन मान कर उसकी उपासना करते हैं। उनका कहना है कि सूर्य्य के ऊपर जो परमेष्ठि का वायुसमुद्र है-उसे ही हम देखते हैं। उसी का हमें प्रत्यक्ष होता है। परन्तु हम तो चिदात्मा का ज्ञानमय जो कृष्ण का प्रसार है-उसी की उपासना करते हैं। हम तो उसे साक्षात् कृष्णभगवान् मानते हैं।

कृष्ण (काला) कुल तीन ही प्रकार का है-१-निरूपाख्य कृष्ण, २-अनिरुक्त कृष्ण, ३-निरुक्त कृष्ण। 'तम आसीत् तमसा गूळहमग्रे'[2] 'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्'[3]-जो सर्वजगदभावस्वरूप

१-पातञ्जलयोगसूत्र १।१४।३। २-ऋग्वेद मं० १०।१२६।३।
३-मनुस्मृति १।५।

अन्धकार है-वह तो निरूपाख्य कृष्ण है। जो कि सृष्टि से बाहर की वस्तु है एवं जो प्रकाशाभावस्वरूप कृष्ण है-वह अनिरुक्त कृष्ण है। उसका हम प्रत्यक्ष तो करते हैं परन्तु उसे पकड़ नहीं सकते, उसका निर्वचन नहीं कर सकते। आँख मींचने पर जो अन्धकार होता है-रात्रि का जो अन्धकार है-वह अनिरुक्त कृष्ण है-प्रकाशाभावस्वरूप है एवं जो प्रकाशसापेक्षकृष्ण है-वह निरुक्तकृष्ण है। वर्णतः जो कृष्ण (कालारंग)है-उसका स्वरूप हमें प्रकाश में ही मालूम होता है। बस, इस प्रकार से वह चिद्घन कृष्ण तीन प्रकार का है। इनमें से जो अनिरुक्त ज्ञानमय चिद्घन कृष्णकिरणोंवाले विष्णु भगवान् हैं उनका ही मैं साक्षात् कर रहा हूँ। आकाश में जो नीलिमा दिखलाई पड़ रही है-वह साक्षात् पारमेष्ठ्य विष्णु भगवान् हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यो नीलिमा व्योम्नि तमन्धकारं ह्युपासते वायुघनं तु केचित्।
उपास्महे कृष्णकरप्रसारं चिदात्मनो ज्ञानमयं वयं तु" ॥३११॥

कई लोग जगत् को क्षणिक दुःखमय एवं शून्य समझकर उपासना कर रहे हैं। अर्थात् 'सारा जगत् शून्य है, क्षणिक है, दुःखस्वरूप है-यह नास्तिकों की श्रद्धा है एवं हम सारे प्रपञ्च को आनन्दात्मक नित्यस्वरूप एवं पूर्ण समझकर उपासना कर रहे हैं। हम सारे प्रपञ्च को आनन्दमय, नित्य एवं पूर्ण समझ रहे हैं। हमारी—

"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ॥[1]

—यही श्रद्धा है।

तात्पर्य्य यही है कि सत्यत्वधारण को-'**इदमित्थमेव**' को ही श्रद्धा कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"उपासते केऽपि समस्तमेतज्जगद्धि दुःखं क्षणिकं च शून्यम्।
उपास्महे किन्तु समग्रमेवानन्दात्मकं शाश्वतिकं च पूर्णम्" ॥३१२॥

॥ इति श्रद्धोपासनोदाहरणम् ॥

१७-श्रद्धोपासनायाः समानप्रत्ययप्रवाहरूपत्वम् ॥८॥

श्रद्धोपासना को समानप्रत्ययप्रवाहस्वरूप बतलाना—

१-ईशोप० मंगलपाठ।

आत्मा (विज्ञान), मन (प्रज्ञान) और इन्द्रिय-वर्ग (आँख-नाक-कान इत्यादि) इनके मेल से **'घटमहं जानामि'**-इत्यादि ज्ञान उत्पन्न होते हैं। इन्द्रियद्वारों में होकर प्रज्ञानमन पहले विषयाकाराकारित होता है। तदनन्तर वह अपने ऊपर प्रत्याहृत सामग्री को विज्ञानात्मा के पास पहुँचाता है। तदनन्तर **'घटमहं जानामि'**–इस ज्ञान का उदय होता है। विषयों का इन्द्रियों के साथ जो सम्बन्ध है–उसे तो **'अवग्रह'** कहते हैं एवं प्रज्ञान से जो विषयों का सम्बन्ध है–उसे **'ईहा'** कहते हैं एवं विज्ञानात्मा से जो विषय का सम्बन्ध है–उसे **'अवाय'**(निश्चयात्मकज्ञान) कहते हैं। इस प्रकार से अवग्रह-ईहा-अवाय अर्थात् आत्मा-मन और इन्द्रियवर्ग-इन तीनों के मेल से **'घटमहं जानामि'**–यह ज्ञानस्वरूप उदित होता है। तो बस, तीनों के योग से जो ज्ञान उदित होता है–वहाँ सिद्धान्त समझो कि वह प्रमाता ही प्रमेय स्वरूप में परिणत हो जाता है। ज्ञाता ही ज्ञेय बन जाता है। **'ग्राह्यत्वं'**०–इस भर्तृहरि के वाक्यानुसार ग्राहक ही ग्राह्य बन जाता है। मेरा ज्ञान ही घड़ा बना हुआ है–बस, यह जो मेरा प्रत्यय है–उसे मैं **'वैषयिक'** कहने के लिए तत्यार हूँ। घड़ा बनता है–मेरे ही ज्ञान का, परन्तु बनता है–बहिर्जगत् के प्रत्याघात से, अतएव मैं मेरे इस प्रत्यय को **'वैषयिक'** ही कहूँगा। घड़ा बनता है–मेरे ज्ञान से, परन्तु बनकर पितापुत्रवत् वह अलग हो जाता है। ज्ञान ही से बना हुआ घड़ा ज्ञान से भिन्न मालूम होने लगता है। अतएव मैं इस प्रत्यय को वैषयिक कहने के लिए तय्यार हूँ। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"आत्मा मनश्चेन्द्रियवर्ग एषां योगेन यज्ज्ञानमुदेति तत्र।
प्रमेयरूपो भवति प्रमाता तं प्रत्ययं वैषयिकं प्रतीमः" ॥३१३॥

बस, वह प्रत्यय यदि समानप्रवाह में परिणत कर दिया जाता है एवं अभ्यास से उस भावनामय उपास्य में अनारोपकृत एवं अनन्य श्रद्धा कर लेता है तो इस उपासक का मन उसी आकार में परिणत हो जाता है। मैं जिसकी उपासना कर रहा हूँ–वह वही है। जैसे मिट्टी में घड़े का आरोप होता है–ऐसी आरोपित झूँठी श्रद्धा इस भावनामय कल्पित उपास्य में नहीं है–अपि तु, मैं जैसा उसे समझ रहा हूँ–वास्तव में वह वैसा ही है एवं वह मेरे से अलग नहीं है। मैं और वह यह द्वैतबुद्धि नहीं है, अपि तु, अनन्यता है। दोनों एक स्वरूप हैं। मैं ही तो वह हूँ–बस, अभ्यास से जब ऐसी श्रद्धा उस वैषयिक प्रत्यय में कर ली जाती है तो कालान्तर बाद मन झक से तद्रूप में परिणत हो बाहर निकल पड़ता है। आत्मा ही धारणा-ध्यान-समाधि के एकत्रित होने से उपास्यस्वरूप में परिणत हो जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"स प्रत्ययश्चेत् क्रियते समानप्रवाह एवं यदि तत्र धत्ते।
श्रद्धामनारोपकृतामनन्यामभ्यासतस्तर्हि मनस्तथा स्यात्" ॥३१४॥

मन जिस आकार में परिणत रहता है–अर्थात् **'शान्ताकारं॰'**–इत्यादि शब्दज्ञानानुपाती भावनामय जैसे स्वरूप की श्रद्धापूर्वक उपासना करता है–बस, उस उसकी वैसी ही स्थिति बाहर हो जाती है।

अर्थात्-'स तु दीर्घकाल०'[1] अनन्त काल के अभ्यास के अनन्तर वह भावनामय उपास्यदेवता साक्षात् चतुर्भुज भगवान् बाहर संमुख खड़े हो जाते हैं। विश्वास रखो-विष्णु वगैरह कोई अलग वस्तु नहीं है-केवल आत्मा ही श्रद्धा से सब कुछ बन जाता है। इस पुरुष में चान्द्ररस रहता है-जिसे श्रद्धा कहते हैं। वह जैसा जैसा खयाल करता है-उसी स्वरूप में परिणत हो जाता है। वह मन कभी हाथी बन जाता है-अर्थात् हाथी के आकार से आकारित हो जाता है-वही मन अश्व बन जाता है-वही मन सब कुछ बन जाता है। जैसी जिस भाव की श्रद्धा करता है-यह उसी स्वरूप में परिणत हो जाता है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्ध स एव सः"।[2]

इसी अभिप्राय से गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"मनो भवेत् यद्विषयस्वरूपं तस्यात्मनोऽप्यत्र तथा स्थितिः स्यात्।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषोऽस्ति तस्माद् यच्छ्रद्ध एषोऽस्ति स एव सोऽस्ति" ।।३१५।।

'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यः-इसके अनुसार जो वस्तुशून्य प्रत्यय है-भावना का स्वरूप है-उसका निश्चलवृत्तिस्वरूप जो समप्रवाह है-उसी का नाम उपासना है। अनवरत उसी धारा पर श्रद्धापूर्वक मन को लगाए रखने का नाम ही उपासना है। इसीलिए भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं—

"उपासनं नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्"।[3]

मनुष्य श्रद्धामय है-यह जैसी जिस स्वरूप की श्रद्धापूर्वक उपासना करता है-स्वयं उसी स्वरूप में परिणत हो जाता है-अतएव श्रुति कहती है-"यह जैसे-जैसे जिस-जिस स्वरूप से उपासना करता है-वैसा ही हो जाता है"—

"तं यथायथोपासते तदेव भवति"।[4]

श्रुति में 'भवति' पद दिया है। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि आत्मा ही सब कुछ बनता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

१-पातञ्जलयोगसूत्र १।१४। २-गीता १७।३।।
३-ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य ४।१।७। ४-द्रष्टव्य ब्र० सू० शाङ्करभाष्य ३।४।५२।

"उपासनं नाम समप्रवाहः संप्रत्ययो निश्चलवृत्तिरूपः।
तस्माच्छ्रुतिः प्राह यथा यथा तं ह्युपासते तन्नु भवन्ति हीति" ॥३१६॥

॥ इति श्रद्धो सनायाः समानप्रत्ययप्रवाहरूपत्वप्रतिपादनम् ॥

—❀—

१८—ज्ञानयोगस्वरूपम् ॥६॥

ज्ञानयोगस्वरूप—

घट-पट-वस्त्र-मकान-पर्वत-नदी-मिट्टी-जल-तेज-वायु-आकाश-रूप-रस-गन्ध–इत्यादि इत्यादि जो जो पदार्थ जगत् में प्रसिद्ध हैं–उन प्रत्येक के लिए भिन्न-भिन्न विद्या हैं। यच्चयावत् पदार्थों की उत्पत्ति का प्रकार भिन्न-भिन्न है। घड़े के निर्म्माण की विद्या अलग है, रेल के निर्म्माण की विद्या अलग है, वस्त्र के निर्म्माण की विद्या अलग है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि सबकी निर्म्माणविद्या पृथक्-पृथक् है। यह विद्या और जगत् दोनों परमेश्वर स्व हैं। दोनों परमेश्वर में बैठे हुए हैं। यदि कोई मनुष्य नया आविष्कार करता है तो हमारा उससे प्रश्न है कि यह पदार्थ जिसका कि तुमने आविष्कार किया है–बतलाओ–कहाँ से निकाला? इसके बनाने की तर्कीब, विद्या तुमने कहाँ से सीखी? वह कहेगा अपने आप सीखी। तो हम सवाल करेंगे यदि तुम्हारे ही में यह वस्तु बैठी हुई थी तो फिर सोचने की प्रतीक्षा करने की क्या आवश्यकता थी? बस, इससे मानना पड़ता है कि यह विद्या असल में–उस ज्ञानघन परमेश्वर में बैठी हुई थी–जिससे कि इसने निकाली है। उसके आविष्कार की विद्या परमेश्वर के ज्ञान में थी–जिससे कि इसमें निकाल ली।

'नासतो विद्यते०'[1]–यह सिद्धान्त है एवं हमारे ज्ञान में अभी तक वह विद्या है नहीं, अतः अवश्य ही हमारे से अलग कोई उसका खजाना मानना पड़ेगा तो बस, उस विद्या को प्राप्त कर यह मनुष्य परमेश्वर का साक्षात् कर लेता है। अर्थात्–जो नया आविष्कार करता है, किसी अपूर्व विद्या का–(सांख्य-योग-न्याय-वैशेषिक-मीमांसा इत्यादि इत्यादि का) आविष्कार करता है–वह परमेश्वर से टच करता है, क्योंकि वे विद्याएँ उसी में तो रखी हुई हैं। जब उसमें से ये विद्याएँ निकाली जाएँगी तो उसका स्पर्श अवश्य ही होगा। तात्पर्य्य यही है कि यदि तुम्हें ईश्वर से साक्षात् सम्बन्ध करना है–ईश्वर के साक्षात् दर्शन करने हैं तो कोई नवीन विद्या निकालो–नवीन आविष्कार निकालो–यही ज्ञानयोग उपासना है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ये ये पदार्था जगति प्रसिद्धाः प्रत्यर्थमेषां पृथगस्ति विद्या।
विद्या जगत् तत् परमेश्वरस्थं तत्प्रेक्ष्य साक्षात् कुरुते परेशम्" ॥३१७॥

१–गीता २।१६।

इस जगत् में जितने ये विषय हैं–उनकी प्रत्येक की विद्या भिन्न-भिन्न हैं, अतः इन सबको जानने के लिए मनुष्य समर्थ नहीं हो सकते हैं, अतः इस सारे प्रपञ्च को छोडकर केवल एक आत्मा के स्वरूप को ही जानने की कोशिश करनी चाहिए। इस आत्मा में सारा अणु जगत् बैठा हुआ है, अर्थात्–सारा जगत् एवं सारे जगत् की विद्या इस आत्मा में बैठी हुई है, अतः इसे जान लेने से सर्व विज्ञात हो जाता है, अतः सारे प्रपञ्च को छोडकर केवल आत्मा ही की उपासना करनी चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अर्था हि यावन्त इमेऽखिलानां विद्याः पृथङ् नावगमाय शक्याः ।
आत्मानमेव स्वमतं प्रविद्यादेकं स कृत्स्नाणुजगन्मयोऽर्थः" ॥३१८॥

यदि कोई विद्वान् इन्द्रियों का रुख बदल कर आत्मा को जान जाता है तो समझ लो वह सारे जगत् को जान जाता है। समझ लो, उसने परमेश्वर को पहचान लिया एवं उस परमात्मा में लीन हो गया। कहने का तात्पर्य्य यही है कि आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए। उसके जानने पर कुछ भी जानने की वस्तु नहीं बचती ? अपि च–उसके जाने विना अन्योपासना से मोक्ष होता भी नहीं जैसा कि श्रुति कहती है—

"तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" ॥[1]

"आत्मेत्येवोपासीत" ॥[2]

जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"आत्मानमेकं यदि कोऽपि विद्याद् यथार्थतः सर्वजगत् स विद्यात् ।
साक्षात्कृतस्तेन महेश्वरः स्यात् स एक भूतोऽत्र परात्मनि स्यात्" ॥३१९॥

॥ इति ज्ञानयोगस्वरूपम् ॥

———

१६–उपासनोपयोगः ॥१०॥

उपासनोपयोग—

आत्मार्पणस्वरूप प्रपत्तियोग, अपराभक्तियोग एवं पराभक्तियोग भेदेन उपासना तीन प्रकार की बतलाई गई है। इन तीनों ही उपासनाओं से जीवात्मा का परमात्मा के साथ सम्बन्ध हो जाता है।

१–श्वेताश्वतरोप० ३।८ । २–बृहदा० उप० १।४।७ ।

तीनों ही उपासनाओं में उस उपास्य ईश्वर के धर्म्म का उपासक में संस्रव हो जाता है । यदि थोड़े से भी धर्म्म जीव में आ जाते हैं तो वे बडे भारी भय से बचा लेते हैं—

"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्"–इति ।।[1]

अतः उपासना अवश्य ही करनी चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"उपासनैषा त्रिविधोपदिष्टाऽवरात्मनः स्यात् परमात्मयोगः ।
सर्वत्र धर्मस्य हि तस्य लाभः स्वल्पोऽपि रक्षेन्महतो भयान्नः" ।।३२०।।

पूर्वोक्त उपासनाओं में से कोई भी उपासना ऐसी नहीं है–जिससे कि जीव का उपासना-पूर्वकाल की अपेक्षा बल न बढे । उपासना से ही अवश्य ही जीव में बल बढता है । उपासना करके भी यदि जीव दुर्बल ही रहता है, दुःखी ही रहता है तो समझ लो विधिच्युति के कारण वह उपासना अकृता है । अर्थात्–जिस तरीके से उपासना करनी चाहिए–उस तरीके से उसने उपासना की ही नहीं । विधिपूर्वक उपासना करने से अवश्य ही बल बढता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"नोपासना काचिदिहास्ति तादृशी जीवस्य यत्रात्मबलं न वर्द्धते ।
उपास्य दुःखी यदि दुर्बलस्तदा विधिच्युतेः सास्त्यकृतेति भाव्यताम्" ।।३२१।।

।। इत्युपासनावादः ।। ४ ।।

।। इति विशिष्टत्रिसत्योपनिषत् ।।

।। इति तृतीयकाण्डे विशिष्टाद्वैतविज्ञानं नाम प्रथमं पर्व समाप्तम् ।।

।। १ ।।

१–गीत २।४० ।

अथ

ईश्वरैकसत्योपनिषत् द्वितीयं पर्व

तत्रादौ

त्रिपुटीतादात्म्यम्

संशयतदुच्छेदवादमूलसंस्कृतपाठः—

अथ ईश्वरैकसत्योपनिषत् द्वितीयं पर्व ।

तत्रादौ

त्रिपुटीतादात्म्यम् ।

१–जगज्जीवेश्वराणां त्रित्वनिरासः ।

इत्थं त्रिसत्यं प्रवदन्ति सन्तः सन्तोषमायान्ति तु तत्र नान्तः ।
परे महान्तः प्रतिजानते ते सत्यं हि संभाव्यत एकमेव ॥१॥
अस्तीश्वरस्तज्जगदस्ति नित्यं जीवाश्च तेषां च जगन्ति सन्ति ।
इत्थं त्रिसत्याः प्रविदन्ति तत्र ब्रूमस्त्रिधात्वं तदसत्यमस्ति ॥२॥
ज्ञानात् पृथग् ज्ञेयकुलं तदित्थं प्राहुस्त्रिसत्या न तथा तु विद्मः ।
ज्ञानादभिन्नः खलु तद्विवर्तः स ज्ञेयवर्गो न पृथक्पदार्थः ॥३॥

२–प्रमाणस्येश्वरतन्त्रत्वम् ।

विभाति हि ज्ञानमिदं चतुर्भिर्भागैः प्रमाता प्रमितिः प्रमाणम् ।
प्रमेयमेतेषु च मातुरेव प्रमाणभिन्नत्रयमस्ति रूपम् ॥४॥
अहं प्रमाता प्रमितिस्तदंशुव्याप्तप्रकाशो बहिरर्थपृक्तः ।
यया प्रणाल्यांशुरयं बहिर्धा याति प्रमासाधनमिन्द्रियं तत् ॥५॥
एकोऽपि यद्रूपरसादिभिन्नाऽऽत्मना स निष्पद्यत आत्मरश्मिः ।
भिन्नेन्द्रियद्वारवशात् तदाहुस्तदिन्द्रियं भिद्यत आत्मरश्मेः ॥६॥
जीवात्मतन्त्रेतरदिन्द्रियं यद्रूपादि भिन्नप्रतिपत्तिमूलम् ।
बाह्यार्थवत् स्यात्तदपीश्वरीयज्ञानोद्भवं वस्तु न जीवक्लृप्तम् ॥७॥

३—प्रमितेः प्रमात्रा भेदाभावः ।

अथ प्रमाता प्रमितिः प्रमेयं जीवात्मक्लृप्तं त्रयमत्र रूपम् ।
तत्र प्रमातुः प्रमितिर्न तावत् प्रभिद्यते बिम्बविकाशरूपा ॥८॥
ज्ञानं प्रकाशो ध्रुवमेकनाभेरुत्थाय सर्वां दिशमभ्युपैति ।
ज्योतिर्घनो नाभिगतः स आत्मा ज्ञाता ततो ज्ञानमयं प्रकाशः ॥९॥
ज्योतिर्घनाज्ज्योतिरिदं पृथग्वत् प्रतीतमप्यस्ति न तद्विभिन्नम् ।
स्वं मण्डलं बाह्यमथान्तरं च द्विधा विभज्य प्रतितिष्ठतीदम् ॥१०॥

४—अन्तर्बहिर्भेदात् प्रमेयस्य प्रमात्रा भेदाभेदौ ।

ज्ञाने तु यद्भाति जगत् तदुक्तं तत्र द्विधा संप्रतिपत्तिरस्ति ।
यदस्ति किञ्चिद्बहिरर्थरूपं तदेव मज्ज्ञानगृहीतमस्ति ॥११॥
यद्वाऽन्यदस्त्यन्यदिदं विभाति बहिर्जगद्धीश्वरक्लृप्तमस्ति ।
न तत् प्रपश्यामि न तन्ममैतज्ज्ञाने प्रवेशं क्षमते गुरुत्वात् ॥१२॥

५—अथ जीवान्तर्जगतोरैक्यम् ।

जपानुरागः स्फटिके विशुद्धे यथा तथा ज्ञानगतास्तदर्थाः ।
इत्थं वदन्तीति वदन्तु किन्तु ब्रूमो वयं नात्मपृथग् जगत्तत् ॥१३॥
यदत्र पश्यामि किमप्यवैमि तदस्ति सर्वं मम बोधक्लृप्तम् ।
आत्मैव तद्रूपमगात् कथं स्वं स्वस्मिन् गतं स्यात् तदभिन्नमेतत् ॥१४॥
बहिः स्थितार्थेन यदैष जीवात्मरश्मिरायाति कदापि योगम् ।
स तत्परिच्छेदमवाप्य सद्यस्तादृक् स्वरूपं प्रतिपद्य भाति ॥१५॥
ज्ञानं गिरिर्ज्ञानमिमे च वृक्षा ज्ञानं तदन्तर्विवराणि कक्षाः ।
ज्ञानं तदूर्ध्वं तदधस्तदग्रं यज्ज्ञायते ज्ञानमिदं समग्रम् ॥१६॥

६—अथ ज्ञानज्ञेयसंबन्धनिर्धारणम् ।
(ज्ञेयस्य ज्ञानस्वरूपत्वम्)

तत्रापि च त्रैधमिदं प्रसक्तं ज्ञानात् पृथक्सत्ततया प्रजज्ञे ।
ज्ञेयं पिता पुत्रवदुद्धृतं वा तदेकसत्तं दधिदुग्धवद्वा ॥१७॥
तद्भिन्नसत्तं तदभिन्नसत्तं क्षीरं यथा वा शरफेनयुक्तम् ।
एषां तृतीये मम संप्रपत्तिर्ज्ञानस्थितज्ञेयविधाप्रतीतेः ॥१८॥
तत्रापि च द्वैधमिदं यदुक्तं तद्भिन्नसत्तं तदभिन्नसत्तम् ।
अंशप्रभेदात्तु पृथक् तदूह्यं वित्यंशमात्रं हि बभूव वेद्यम् ॥१९॥
अभिन्नसत्तं हि तदंशमात्रं तत्रापि च द्वैधमनुब्रुवन्ति ।
जात्यन्तरं बोध्यमुदेति बोधाद् यद्वाऽखिलं बोध्यमयं स बोधः ॥२०॥
ज्ञाने पृथक्सत्ततयाऽऽहितं तज्ज्ञानातिरेके जगदस्त्यसत्यम् ।
ज्ञानस्य रूपं हि तदात्मलाभो ज्ञानातिरेकेण पृथङ् न तेषाम् ॥२१॥
सत्यं यदि स्याज्जगदेकरूपं सदावतिष्ठेत न चान्तरस्य ।
भेदा भवेयुः स्वगता न वैषां बोधादबोधो भवतामभावः ॥२२॥

ज्ञानं तु सत्यं जगतः स आत्मा दिग्देशकालैस्तु न मीयते सः ।
अस्यानवच्छिन्नतयाऽऽत्मनोऽर्थास्तादात्म्यभूताः प्रतिभान्ति बोधे ॥२३॥

ज्ञानं स्थितं निर्विकृतं विकारेष्वसत्सु सत्स्वेषु सदैकरूपम् ।
ज्ञानं हि सत्यं तदसत्यमस्मिन् स्थितं ततः सत्यवदेव भाति ॥२४॥

इत्थं यदन्तर्जगदस्ति तन्मे ज्ञानं तदेवाहमिति प्रसिद्धम् ।
ज्ञानं हि मद्रूपमथास्य विश्वं मज्ज्ञानरूपं तदभिन्नमेकम् ॥२५॥

७—ज्ञेयस्य ज्ञानरूपत्वे आक्षेपः ।

अत्राहुरेके किल संभवेदिदं नेक्ष्येत यद्यर्थगणस्वतन्त्रता ।
यद्यात्मनि द्रष्टरि दृश्यसंनिधावसंनिधौ वा न विशेष उद्भवेत् ॥२६॥

ज्ञानाद्यदि ज्ञेयकुलं न भिद्यते प्रजागरस्वप्नसुषुप्तयस्तदा ।
न संभवेयुः क्वचिदात्मनो दशा अर्थान्वयानन्वयतस्तदुद्भवाः ॥२७॥

सार्थो हृषीकैर्मनसा सहायवानात्माऽश्नुतेऽर्थांस्तु बहिर्जगद्गतान् ।
स जागरः, स्वप्नदशा त्वनिन्द्रियो मनःस्थमर्थं यदि भासयत्ययम् ॥२८॥

अनिन्द्रियो यद्यमना बहिर्जगच्चान्तर्जगच्च प्रतिचेष्टते न, चेत् ।
नास्ति द्वितीयं न ततोऽर्थभासनं सुषुप्तिरद्वैतदशा तदात्मनः ॥२९॥

अर्था अहंज्ञानसमुद्भवा यदि त्वात्मप्रतिष्ठा न पृथक् स्युरात्मनः ।
अद्वैततोऽर्थानवभासनात्मिका सुषुप्तिरेषा न तदोपपद्यते ॥३०॥

८—तदाक्षेपनिरासः ।

अत्रोच्यते मानसकोशवानयं ह्यात्मा स जीवः परमेश्वरोऽपि वा ।
इन्द्रो मनो व्योम बहिस्तथान्तरं तत्रार्थरूपोदय आत्मरश्मिभिः ॥३१॥

यथा बहिर्धा जगदाश्रयायाकाशो बहिर्धा किल भूमिकास्ति ।
अन्तस्तयान्तर्जगदाश्रयायाकाशो मनो नाम च भूमिकास्ति ॥३२॥

यथा रवे रश्मिकुलं पराहतं वायौ प्रकाशं जनयेदितस्ततः ।
तथा मनस्येव पराहतैरमी अर्था भवन्त्यात्मगभस्तिभिः स्वतः ॥३३॥

बहिर्मनस्यात्मगभस्तयो गताः प्रजागरार्थं जनयन्ति बाह्यतः ।
अन्तर्मनस्यात्मगभस्तयः स्थिताः स्वाप्नान्तिकार्थानुपपादयन्ति तान् ॥३४॥

यदा मनः केन च भूयसा मनोऽर्थकारिता हृत्तमसाभिभूयते ।
धूमावृतव्योमनि दीपकप्रभावदात्मनो ज्योतिरिहापवृच्यते ॥३५॥

अप्राप्य योगं मनसायमात्मा नार्थान् स उत्पादयते ततोऽयम् ।
वक्ताऽपि नो वक्ति न लोकते वा द्रष्टापि मन्तापि न मन्यते वा ।।३६।।

यत्वाहुरात्मा विभुरस्ति सर्वगो न तस्य योगो मनसा विहन्यते ।
अत्रोच्यतेऽर्कप्रतिबिम्बवद्भुवेज्जीवात्मसंस्थावरणं च केनचित् ।।३७।।

मनोऽपि चाकाशमिदं तदात्मनः प्रोद्भूय चालम्ब्य तमेव तिष्ठति ।
न चात्मनोऽन्यत्र मनोऽस्ति भासते तत्रार्थवर्गः पुनरात्मनो भवन् ।।३८।।

अहं मनोमण्डलमध्यवर्त्ती स चिद्घनो मण्डलगाश्रितोऽर्थाः ।
एवं त्रिवृद्रूपमहंपदार्थं मन्ये ध्रुवं तत् त्रयमेकवस्तु ।।३९।।

६—अथ ईश्वरबहिर्जगतोरैक्यम् ।

तथैव विज्ञानघनः स ओमिति प्रवर्तते मध्यगतस्तदाश्रितम् ।
अनन्तवैज्ञानिकनित्यमण्डलं तन्मण्डले ज्ञानविजृम्भणं जगत् ।।४०।।

यदस्ति मज्ज्ञाननिमित्तमन्तर्गूढं तदंशं जगदीश्वरो वा ।
एकं महाज्ञानमिदं बहिर्धा जगत् तदेतन्न किमप्यवेक्षे ।।४१।।

तत्रापि रूपाणि भवन्तु नाना ज्ञानं तु रूपोपहितं न भिन्नम् ।
रूपाण्यसत्यानि विनाशवत्वान्नश्यत्सु नो नश्यति तद्धि सत्यम् ।।४२।।

ज्ञानं हि सत्यं जगतः स आत्मा दिग्देशकालैस्तु न मीयते सः ।
अस्यानवच्छिन्नतयाऽऽत्मनोऽर्थास्तादात्म्यभूता इह सन्त्यदृष्टाः ।।४३।।

यद्वात्र नाशप्रतिपत्तिकर्मँतद्रूपनाशाः परिवर्तनानि ।
तद्रूपभेदा अपि निर्विशेषं तदैश्वरं ज्ञानमतस्तदेकम् ।।४४।।

ज्ञानं गिरिर्ज्ञानमिमे च वृक्षा ज्ञानं तदन्तर्विवराणि कक्षाः ।
ज्ञानं तदूर्ध्वं तदधस्तदग्रं यज्ज्ञायते ज्ञानमिदं समग्रम् ।।४५।।

यत्तु त्रिसत्या इह वेद्यवेत्रोः पृथक्त्वमाहुर्न तदस्ति साधु ।
बोधो हि बोद्धुः स च बोध्यवर्गो बोधस्य रूपान्तरमप्यनन्यत् ।।४६।।

यदिन्द्रियं जीवगतं तदीश्वरादुपाप्तमासीदति नेश्वरे तु तत् ।
कुतश्चिदायाति ततोऽत्र वित्तयो वेद्यानि वेत्ता त्रिवृदेक ईश्वरः ।।४७।।

ओमेव विज्ञानमहाप्रकाशो विज्ञानमेवास्ति जगत् तदित्थम् ।
तादात्म्यमाप्तं जगदस्ति भिन्नं न हीश्वरादीश्वर एव विश्वम् ।।४८।।

यतोऽमितत्वं तत एव चास्मिन्नानन्त्यमरत्वाच्च निराकृतित्वम् ।
एकत्वमस्मादविशेषताऽस्मात् सतोऽसतो वा न स भिद्यतेऽर्थः ।।४९।।

१०–अथ जीवेश्वरयोरैक्यम् ।

सत्यं यदोंनाम विदन्ति नित्यं विज्ञानमानन्दमनन्तमेकम् ।
तद् ब्रह्मशब्देन वदन्ति तस्मादहं य आत्मैष स नास्ति भिन्नः ॥५०॥

यदीश्वरः सर्वगतः स एकः सर्वप्रतिष्ठास्ति तदैष जीवः ।
तत्र प्रतिष्ठां लभतेऽथवाऽयं स्वे स्वे तु सर्वेश्वरवन्महिम्नि ॥५१॥

न स्वे महिम्न्येष पृथङ्महेशाव्याप्तप्रदेशानुपलम्भहेतोः ।
यदीश्वरे तर्हि जगद्वदेते जीवा अपि स्युर्जगदैतदात्म्यात् ॥५२॥

अनन्तविज्ञानघनः स ईशस्तस्यैव मात्राभिरिमे तु जीवाः ।
अहं परे चेति पृथक्तया स्युः समष्टितद्व्यष्टिकृतोऽत्र भेदः ॥५३॥

तदीश्वरज्ञानगताश्चिदंशा बुद्धया धृता ईश्वररूपसाम्यम् ।
आयान्ति तद्वद् विषयं भजन्ते ते स्युश्चिदाभासमया हि जीवाः ॥५४॥

यथास्य सूर्य्यस्य विकाशमण्डलं ह्येकं तदादर्शविभेदतः पृथक् ।
विभिन्नपात्रेषु जलेषु भेदतो भायाच्चिदाभासविभिन्नता तथा ॥५५॥

सूर्य्याद्यथा सूर्य्यसमानरूपा बिम्बाः समन्तात् परियान्त्यनन्ताः ।
त एव काचे च जले च दृष्टाः पृथग्वदाभान्ति तथा वयं स्मः ॥५६॥

व्याप्नोति यावत्तु विकाशमण्डलं स तावदात्मा रविरेक इष्यते ।
प्राग्वारिधौ पश्चिमवारिधौ तथा भिन्नोऽपि बिम्बो न रवेर्विभिद्यते ॥५७॥

ज्ञानप्रकाशा इह यावदास्थितास्तावान् स एकः परमेश्वरः स्थितः ।
स वै चिदाभासतया पृथक् पृथग् दृष्टोऽप्युपाधीतर एक ईश्वरः ॥५८॥

अखण्ड एकः परमेश्वरः स्थितः साम्येन भात्येष समन्ततः सदा ।
क्वचित् क्वचित् किन्तु कदाचिदासते चिद्ग्राहिणस्तेन विभाति खण्डवत् ॥५९॥

तमोरजःसत्त्वगुणातिरेकात् तज्जन्ममृत्युव्यतिरेकतश्च ।
यज्जीवनानात्त्वमुशन्ति तन्न ज्ञानेऽहमर्थं हि तदर्थबाधात् ॥६०॥

या त्वात्मनः सा प्रकृतिः पुरोक्ता यया प्रकृत्याऽहमयं धृतः स्याम् ।
सर्वे गुणास्तत्र वसन्ति जन्मादयोऽपि तस्या न चितः कदापि ॥६१॥

प्रत्यात्म सैषा प्रकृतिर्विभिन्नोपतिष्ठते किन्तु जगत्तदस्ति ।
अथो चिदाभासत आसु योऽसावहं स जन्मादिविकारशून्यः ॥६२॥

उपाधिभेदादिह भेदक्लृप्तावपि स्वयं चिन्न विभेदमेति ।
सर्वे चिदाभासगताश्चिदंशा एकश्चिदात्मा परमेश्वरोऽस्ति ॥६३॥

११–प्रतिबिम्बसमर्थनम् ।

अत्राहुरेके परमेश्वरस्य न संभवन्ति प्रतिबिम्बभूताः ।
जीवा यतो नास्ति जगत् न च स्वं स्वस्मिन् कदाचित् प्रतिबिम्बितं स्यात् ।।६४।।
सूर्य्यातिरिक्ते मुकुरे जले वा रश्मिः परावर्तित एव रूपम् ।
दधाति किन्त्वत्र परेशतोऽन्यन्नो वै परावर्तनहेतुरस्ति ।।६५।।
अत्रोच्यते नास्ति जगन्न तावद् यथात्र पश्यामि तथा तदस्ति ।
ज्ञानेतरत्वं जगतो निरस्तं ज्ञानाद्विना सिद्धमिदं न भिन्नम् ।।६६।।
यच्चाप्यसत्यत्वममुष्य मन्यामहे तदप्यस्य निजास्तितायाः ।
निराक्रिया ज्ञानगतां तु सत्तामालम्ब्य सर्वं जगदेतदस्ति ।।६७।।
सृष्ट्वा यथार्को व्यवहारपक्षे रश्मि परावर्तयतेऽपि तस्मिन् ।
तथा परेशः परमार्थपक्षे सृष्ट्वेदमत्र प्रतिबिम्बितः स्यात् ।।६८।।

१२–ईश्वरैकसत्यतास्थापनम् ।

आनन्द एवेश्वररूपमग्र्यं ज्ञानं बलं द्वौ भवतस्तदंशौ ।
याः शक्तयस्ता हि पृथग्बलानि समुच्चयाच्छक्तिघनस्तु सत्ता ।।६९।।
ज्ञानानि जीवाः प्रभवन्ति सर्वे बलानि सर्वाणि जगन्ति सन्ति ।
कथं नु तानीश्वरतः पृथक् स्युर्ब्रह्मैव सर्वं नु जगत् सजीवम् ।।७०।।
ग्राह्यं ग्रहीत्रित्थमिदं द्विधास्ति स्वभावतो ब्रह्म ततो द्विधेदम् ।
प्रदृश्यते जीवजगद्विभेदान्न वस्तुतो जीवजगद्विभेदः ।।७१।।
जीवो जगच्चेत्युभयं तदेकप्रभूतमस्तीत्यत एव मन्ये ।
सर्वं जगत् प्रत्ययनिष्ठमेकं तादात्म्यमापन्नमिदं विभाति ।।७२।।
न तर्कतः किन्तु स ईश्वरो मे प्रतीकतोऽन्वक्षमिवोपलब्धः ।
सत्तां परिज्ञानमथो सुखं वा नाद्धातमां पश्यति को जनेषु ।।७३।।
या निर्विशेषा परमेह सत्ता निःशेषविज्ञानसमुच्चयो यः ।
परास्ति या सर्वसुखस्थकाष्ठा सत्ता चिदानन्दघनः स ईशः ।।७४।।
गोत्वं पशुत्वं च सचेतनत्वं द्रव्यत्वमर्थत्वमिति क्रमेण ।
संपद्यते यः परमोऽत्र भावः स ईश्वरः सा परमात्र सत्ता ।।७५।।
यास्तूललोष्टाश्मकशैलवज्रादिशक्तयोऽत्रोतरशक्तिनिघ्नाः ।
तासां पराशक्तिरशेषशक्तिः स ईश्वरः सा परमात्र सत्ता ।।७६।।

एकस्य मज्ज्ञानमतः परस्याधिकं तथान्यस्य ततोऽधिकं च ।
यतोऽधिकं नास्ति भवेद्ध्रुवं सा मात्रा परासौ परमेश्वरोऽस्ति ।।७७।।

एकस्य मोदादधिकः परस्य ततः परस्यापि ततः परस्य ।
यतोऽधिको नास्ति भवेद्ध्रुवं सा मात्रा परासौ परमेश्वरोऽस्ति ।।७८।।

मात्रा मिता यावदिहानुभूयते तावत्ततोऽन्यामपि धीरपेक्षते ।
स्वविश्रमाय ध्रुवमभ्युपैति धीर्मात्रामनन्तामभितां स ईश्वरः ।।७९।।

* आनन्दमोमक्षरमस्ति सत्यं नित्यं हि विज्ञानमनन्तमेकम् ।
वयं चिदाभासमयास्तदंशा जगत्तु तत्कर्म्मचितो विवर्तः ।।८०।।

ब्रह्माऽद्वितीयं तत एकमेवेत्याचक्ष्महे विश्वमिदं समस्तम् ।
ब्रह्मैकमेवं वयमप्यनन्ता ब्रह्मैव नातः परमत्र विद्मः ।।८१।।

१३—ऐक्यसमन्वयः ।

जीवात्मनाऽन्तर्जगदस्त्यभिन्नं परात्मनैवं च बहिर्जगत्तत् ।
जीवात्मनां यत् परमात्मनैक्यं मन्यामहे तेन तदेकसत्यम् ।।८२।।

वाक् प्राणतः प्राणकला मनस्तः प्रादुर्भवत्येवमिमा अवस्थाः ।
एकस्य तासामिदमैतदात्म्यं मन्यामहे तेन तदेकसत्यम् ।।८३।।

अस्तीति[1] बोधोऽपि च सोऽस्ति[2], बोधो रसः[3], स बोधोऽपि[4] च बोद्धृबोध्ये ।
रसोऽस्ति[5], सत्तापि[6] रसो, न चान्यन्मन्यामहे, तेन तदेकसत्यम् ।।८४।।

ये ये त्रिसत्यैस्त्रिविधा इहोक्ताः सर्वे विशेषास्त इमे भवन्ति ।
सामान्यतस्ते ध्रुवमुद्धृताः स्युः स निर्विशेषः परमो न आत्मा ।।८५।।

---

* (ओम्=अक्षरम्)

'अस्ति-इति बोधरूपम्=अस्तीत्येव ज्ञायते	ज्ञानेनानुगृह्यते सत्ता	ज्ञानेनाप्यविनाभूता सत्ता	१
'बोधः अस्ति =तदिदं ज्ञानं सत्तावत्	सत्तयाऽनुगृह्यते ज्ञानम्	सत्तयाप्यविनाभूतं ज्ञानम्	२
'रसः' इति बोधरूपम्=रस इति कृत्वा ज्ञायते	ज्ञानेनानुगृह्यते रसः	ज्ञानेनाप्यविनाभूतो रसः	३
बोधो बोद्धा बोध्य इति रसाः =तदिदं ज्ञानं रसः	रसेनानुगृह्यते ज्ञानम्	रसेनाप्यविनाभूतं ज्ञानम्	४
रसः अस्ति = बलाधारः कश्चिदस्ति	सत्तयाऽनुगृह्यते रसः	सत्तयाप्यविनाभूतो रसः	५
सत्ता रसः =ज्ञानक्रियालम्बनत्वात्	रसेनानुगृह्यते सत्ता	रसेनाप्यविनाभूता सत्ता	६

सर्वे विशेषा असदेव रूपं तत्राविशेषस्य सदेव रूपम् ।
असन्मयं सद्ध्यखिलं प्रतीमस्तस्मात् समस्तं सदसद् वदामः ॥८६॥

१४—उपासना

यदीश्वरे स्वात्मसमर्पणं धिया विधाय स्वातन्त्र्यधियं विमुञ्चति ।
सोपासना तत्र च पीठिकात्रयी क्षुद्रैस्तु सेवा क्रियते प्रभोरिव ॥८७॥
भावक्रिया द्रव्यगतं निरस्यते द्वैतं त्रिधाऽद्वैतमिदं विधीयते ।
स्वप्नत्रयं तत्क्रमतो विधूयते मन्यैः कृता मध्यमपीठिका हि सा ॥८८॥

"विकल्पिताऽवस्तुतया विलोकयत्यैक्यं यदा कारणकार्य्यवस्तुनः ।
यदीश्वरे मृद्घटयोरिवात्मनोऽप्यैक्यं तदद्वैतमुपैति भावतः ॥८९॥
ददाति भुङ्क्ते स्वपिति प्रबुध्यते यद्यन्मनो वाक्तनुभिः करोत्ययम् ।
नाहं करोमीति यदीश्वरेऽखिलं पश्येत् क्रियाद्वैतमिदं स पश्यति ॥९०॥
सर्वात्मकेशैक्यधिया यथात्मनस्तथेतरेषामपि सर्वदेहिनाम् ।
स्वार्थांश्च कामांश्च समानमीप्सति द्रव्याश्रिताद्वैतमिदं स पश्यति" ॥९१॥

(भागवते ७।१५)

यां भूतशुद्धिप्रतिपन्नया दिशा विलोप्य भूतप्रतिपत्तिमीश्वरे ।
विलापयत्यात्मसमस्तविग्रहं स ईश्वरीभावमुपैति योगतः ॥९२॥

"विज्ञानमेतद्धनुरस्त्युपासना शरोऽथ लक्ष्यं तु तदक्षरं परम् ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा संधाय विध्येत् स हि तन्मयो भवेत् ॥९३॥
आत्मा शरो वा प्रणवो धनुः कृतस्तदक्षरं लक्ष्यमुवीक्ष्य शिक्षितः ।
यद्यप्रमत्तः कुशलं प्रबोधयेत् शरो यथैवं स हि तन्मयो भवेत्" ॥९४॥

(मुण्डके २।२)

"अक्षाणि चित्ते तदु वाचि मातृकाक्रमे तु तां तं प्रणवस्वरेऽथ तम् ।
बिन्दौ च नादे तमिमं लिनात्यपि प्राणे महत्यात्मनि तं तमीश्वरे" ॥९५॥

(भागवते ७।१५)

एषोत्तमा त्वात्मसमर्पणक्रिया सोपासना विज्ञतमाधिकारिणाम् ।
यत्र त्विदं द्वैतमशेषतो न चेद्विलुप्यते भक्तिरियं न सोत्तमा ॥९६॥
देवर्षिरित्थं निजगाद नारदो भक्ताग्रणीस्तत्प्रतिपन्नया दिशा ।
उपासको भक्तिवशान्महेश्वरे सायुज्यमाप्नोत्यभयं च विन्दति ॥९७॥
या भेदधीः सा ध्रुवमस्त्यसत्या तामास्थितः श्रेयसि नैति योगम् ।
सत्यं त्वभेदं प्रतिपद्य जीवः स्यादीश्वरः शान्तिघनः प्रसन्नः ॥९८॥

अणोरणीयान् महतो महानयं विश्वेश्वरो विश्वमिदं विधारयन् ।
ज्ञानात्मकः संशयमुच्छिनत्ति यः स्वान्तेऽप्यंतेऽस्मिन्नयमास्पदे धियः ।।६६।।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।१००।।

।। इति मधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीते ब्रह्मविज्ञानशास्त्रे ईश्वरैकसत्योपनिषत् सम्पूर्णा ।।

।। २ ।।

१५–उपसंहारः ।

वेदग्रन्थविमन्थनप्रतिफलप्रज्ञावदातश्रमः
श्रीमान्यो मधुसूदनः समभवद् वेदार्थबोधक्षमः ।
वेदार्थप्रतिपत्तिशून्यमनसां विज्ञानशिक्षाक्रम—
श्रद्धार्थं कृत एष संशयसमुद्धारोऽमुनाऽत्युत्तमः ।।१।।

कालाक्षिगोभूमितवैक्रमाब्दे [१६२३] जातोऽष्टमेऽब्दे गुरुणोपनीतः ।
स पञ्चविंशे कृतविद्य एतं पञ्चाशदब्दो व्यदधान्निबन्धम् ।।२।।

यज्ञेतिहासस्तुतिभिः स वेदान् विज्ञानतश्च प्रविभज्य तेषु ।
विज्ञानभेदान् दश देवलोके पुरा प्रसिद्धान् यततेऽभिनेतुम् ।।३।।

निर्म्मति भागैर्दशभिः स विद्यावाचस्पतिः श्री मधुसूदनोऽयम् ।
यं ब्रह्मविज्ञाननिबन्धमस्मिन् पूर्णोऽभवत् संशयभङ्गभागः ।।४।।

।। इति उत्तमकाण्डस्य मूलसंस्कृतपाठः ।।

।। इति मधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीते ब्रह्मविज्ञानशास्त्रे संशयतदुच्छेदवादस्य मूलसंस्कृतपाठः सम्पूर्णः ।।

अथ

ईश्वरैकसत्योपनिषत् द्वितीयं पर्व

तत्रादौ

त्रिपुटीतादात्म्यम् ।

१-जगज्जीवेश्वराणां त्रित्वनिरासः ।।

जगत्–जीव–ईश्वर का त्रित्वनिरास—

[**हिन्दीविज्ञानभाष्य**] पूर्व प्रकरण में त्रिसत्यत्व की स्थापना की गई है । वास्तव में उपासना काण्ड में तीनों ही सत्य हैं । विना त्रित्व के उपासना बन ही नहीं सकती । रामानुज का त्रिसत्यवाद उपासना के लिए अत्यन्त ही उपयोगी है । उपयोगी ही नहीं आवश्यक है । परन्तु साथ ही में एकत्ववाद का जो उनका खण्डन है–वह एकान्ततः अशुद्ध है । ज्ञानकाण्ड के लिहाज से तीन सत्य टिक ही नहीं सकते हैं । उपासना के अनन्तर ज्ञानकाण्ड में पहुँचे बाद त्रित्व का नाम निशान ही नहीं रहता । तात्पर्य्य यही है कि त्रिसत्यवाद उपासना के लिए ही उपयोगी है । अन्त में जाकर उसी अद्वैतवाद की शरण लेनी पड़ती है । हम क्रम क्रमशः जगत्–जीव और ईश्वर को एक बतलाएँगे । सबसे पहले "जीव-जगत्-ईश्वर –ये तीन चीज नहीं हैं–अपि तु, तीनों मिलाकर के एक चीज है–यह बतलाएँगे ।

"जीव भी सत्य है, जगत् भी सत्य है, ईश्वर भी सत्य है–तीनों अलग-अलग पदार्थ हैं"–इस प्रकार से कितने ही दार्शनिक सारे प्रपञ्च को त्रिसत्याक्रान्त बतलाते हैं । उनका खयाल है कि जगत् में सत्य पदार्थ तीन हैं । परन्तु दूसरे-दूसरे महापुरुष जो कि विदितवेदितव्य हैं–ज्ञान की अन्तिम सीमा पर पहुँच चुके हैं–वे इस त्रिसत्यवाद पर विश्वास नहीं करते हैं । त्रिसत्यवाद पर जाकर के दार्शनिक मत का अन्त है–यह बात उनकी समझ में नहीं आती । वे एक ही पदार्थ को सत्य मानते हैं । उनका कहना है कि सत्य पदार्थ एक हो सकता है, तीन नहीं । तीन भी कभी 'सत्य' हो सकते हैं । तीन और सत्य के तो रात-दिन का फरक है, अतः जीव-जगत्-ईश्वर–ये तीन चीज नहीं हैं–अपि तु, तीनों को मिलाकर एक वस्तु है । ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, प्रमाता-प्रमिति-प्रमेय, ध्याता-ध्यान-ध्येय–तीनों तीन वस्तु नहीं हैं–तीनों को मिलाकर एक वस्तु है । ईश्वर भी है, जीव भी है, जगत् भी है, तीनों हैं–परन्तु तीनों तीन पदार्थ नहीं हैं । तीनों पुड़तों को मिला करके एक हैं । तीन इलायची नहीं हैं–अपि तु, एक ही इलायची है–जिसमें कि तीन पुड़त हैं । अहं–ज्ञान और ज्ञेय–ये तीनों मिलकर एक चीज हैं । ज्ञाता ही ज्ञान बनता है, ज्ञान

ही ज्ञेय बनता है। अहंस्वरूप जो एक ज्ञाता है--वह तो केन्द्र में कन्दलस्वरूप से स्थित रहता है। उसकी जो रश्मियाँ आसमन्तात् वितत होती हैं-वे ज्ञान हैं एवं जो ज्ञान ग्राह्यस्वरूप में परिणत हो जाता है-वही ज्ञेय है। सूर्य्य, सूर्य्य का प्रकाश एवं घटपटादि यच्चयावत् पदार्थ-तीनों एक वस्तु हैं। तीनों तीन होकर के भी एक हैं। जो सूर्य्य का गोला है-उसी का तो यह प्रकाश है-फिर भला प्रकाश और सूर्य्य दो वस्तु कैसे हो सकती हैं ? एवं हम जो लाल-पीले-काले-नीले-इत्यादि नानावर्ण के पदार्थ देखते हैं-वे भी तो सूर्य्य की रश्मियाँ ही हैं। वास्तव में वर्णों के अधिष्ठाता सूर्य्य ही तो हैं। लाल-पीला जो कुछ दिखलाई पड़ रहा है-सब सौर प्रकाश है। कदाचित् कहो कि अच्छा साहब ! वर्ण तो सूर्य्य की वस्तु है, परन्तु हम आँख मींचकर यदि घट को उठाते हैं तो वह वजन किसका मालूम होता है ? हम कहते हैं-वैज्ञानिक भाषा में **'वजन'** कोई चीज नहीं है। यह तो पृथिवी का आकर्षणमात्र है। वस्तुतः रूपरसादि गुणसमष्टि का नाम ही द्रव्य है। गुण के अलावा द्रव्य कुछ भी नहीं है-**'गुणकूटो द्रव्यम्'**। रूपरसादि सारे पदार्थ सौर हैं-फिर भला प्रकाशात्मा, प्रकाश और प्रकाश्य-तीन भिन्न कैसे हो सकते हैं ? कहने को तीन हैं-वस्तुतः तीनों एक हैं। तो जब भूतज्योति में यह बात है तो फिर ज्ञान-ज्योति का तो कहना ही क्या है ? ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय तीन अलग अलग कैसे हो सकते हैं ? कहने को तीन हैं- वास्तव में तीनों एक हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"इत्थं त्रिसत्यं प्रवदन्ति सन्तःसन्तोषमायान्ति तु तत्र नान्तः।
परे महान्तः प्रतिजानते ते सत्यं हि संभाव्यत एकमेव" ॥१॥

ईश्वर भी है, जगत् भी है एवं जीव भी ईश्वर से अलग सदा नित्यतया रहते हैं। जीव कभी ईश्वर बन ही नहीं सकते। एवं जैसे ईश्वर का एक सत्तासिद्ध बहिर्जगत् है-वैसे जीवों के भी जगत् हैं। अनन्त जीवों के अनन्त ही जगत् हैं। गरज यह है कि तीनों हैं-तीनों नित्य हैं, तीनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। जगत् अपने ही स्वरूप में रहता है, जीव अपने ही स्वरूप में रहते हैं। इस प्रकार तीनों सत्य हैं। इस प्रकार से जो-जो कई महानुभाव त्रिसत्यवाद की स्थापना करते हैं-इस विषय में अधिक न कहकर केवल इतना ही कहना है कि आपका जो एक तीनपना है-वह सत्य हो ही कैसे सकता है ? अरे भाई ! सत्य तो एक वस्तु हो सकती है-तीन नहीं। तीन और सत्य, वाह-वाह ! खूब दार्शनिक विचार है !! कृपानिधान जरा सूक्ष्मदृष्टि से विचारिए-मालूम होगा कि तीन-तीन नहीं हैं-अपि तु, तीनों एक वस्तु हैं। चिराग की लौ और उसका प्रकाश दो चीज नहीं है-दोनों एक हैं। सूर्य्य, प्रकाश, प्रकाश्य तीनों कहने को तीन हैं-वास्तव में तीनों एक हैं। बस, इसी प्रकार से ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय तीनों कहने के लिए तीन हैं, वास्तव में तीनों एक हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अस्तीश्वरस्तज्जगदस्ति नित्यं जीवाश्च तेषां च जगन्ति सन्ति।
इत्थं त्रिसत्याः प्रविदन्ति तत्र ब्रूमस्त्रिधात्त्वं तदसत्यमस्ति" ॥२॥

त्रिसत्यवादी ज्ञान से ज्ञेयकुल को पृथक् मानकर त्रिसत्यवाद की स्थापना करते हैं। उनका कहना है कि हमारे ज्ञान में जिन घटपटादि का भान होता है-वे अवश्य ही ज्ञान से अलग हैं। यदि ऐसा न

होता, यदि हमारे ज्ञान ही से सब कुछ बना होता तो फिर हम कभी किसी पदार्थ को भूलते ही नहीं, क्योंकि '**अहमस्मि**' इसका अभाव कभी नहीं होता है। परन्तु हम प्रत्यक्ष में ही पदार्थों को भूलते देखते हैं–इसलिए मानना पड़ता है कि ज्ञेयकुल ज्ञान से विजातीय पदार्थ हैं। यह हेतु देकर कई दार्शनिक त्रिसत्यवाद की स्थापना करते हैं। परन्तु हम तो ज्ञेयकुल को ज्ञान से पृथक् समझने के लिए तय्यार नहीं है। हमारे खयाल से तो सारा ज्ञेयकुल ज्ञान से बना हुआ है। मिट्टी और घड़ा व्यवहारकोटि में दो चीज अवश्य ही हैं, परन्तु परमार्थकोटि में दोनों दो-दो नहीं है–एक है। घड़ा, मिट्टी दोनों मिट्टी हैं। केवल आकारविशेष से वही मिट्टी घड़ा कहलाने लगती है–इसीलिए वेद भगवान् कहते हैं—

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" ॥[1]

ज्ञान तो एक है–यदि ज्ञान ही के बने हुए सारे पदार्थ हैं तो फिर नानात्व क्यों ? इसका उत्तर '**विवर्त्त**' है। ग्राहक का स्वरूप तब तक नहीं बन सकता जब तक कि ग्राह्य न हो। ग्राह्य ही से ग्राहक का ग्राहकपना है, अतः उस ग्राहक को अपने ग्राहकपने की रक्षा के लिए थोड़े हिस्से से ग्राह्यस्वरूप में परिणत होना पड़ता है। वही ग्राहक दो भागों में बँटकर ग्राह्य और ग्राहक बन जाता है। तेजोमय जितने भी पदार्थ हैं–उन सबमें स्वभाव ही से ग्राहक और ग्राह्य दो पार्ट हो जाते हैं। इसीलिए अभियुक्त कहते हैं—

"ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते" ॥[1]

तात्पर्य्य यही है कि जिसे तुम ज्ञेय कह रहे हो वह तो ज्ञान का विवर्त्त है। ज्ञान की विविध-वृत्तिता का ही नाम ज्ञेयवर्ग है। समुद्र के ऊपर जैसे उसी पानी की अनन्त लहरें नाचा करती हैं, तद्वत् ज्ञान के ऊपर ज्ञान की अनन्त वृत्तियाँ नाचा करती हैं। क्या अनन्त लहरों के होने से पानी भी अनेक हो गए ? क्या लहरें उस एक पानी से अलग हैं, विजातीय हैं, तो बस, ऐसी हालत में इसका उत्तर आपके पास सिवाय '**नहीं**' के और कुछ नहीं हो सकता, अतः हम कह सकते हैं–कह ही नहीं सकते हैं–निश्चित है कि ज्ञेयवर्ग ज्ञान से पृथक् पदार्थ नहीं है। ज्ञान ही ज्ञेय बना हुआ है। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय कहने को तीन चीज हैं–वस्तुतः तीनों एक वस्तु हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्ञानात् पृथग् ज्ञेयकुलं तदित्थं प्राहुस्त्रिसत्या न तथा तु विद्मः।
ज्ञानादभिन्नः खलु तद्विवर्तः स ज्ञेयवर्गो न पृथक्पदार्थः" ॥३॥

॥ इति जगज्जीवेश्वराणां त्रित्वनिरासः ॥

———

१–छान्दोग्योप० ६।१।४। १–वाक्यपदीय १।५५।

२-प्रमाणस्येश्वरतन्त्रत्वम् ।

प्रमाण का ईश्वरतन्त्रत्व—

वेदान्तिलोग प्रमाता, प्रमिति और प्रमेय ज्ञान के ये तीन पार्ट मानते हैं । ज्ञान को त्रिपुटी-स्वरूप मानते हैं । उनका कहना है कि जो हम हैं-वह तो ज्ञाता है एवं विषय और हमारे से सम्बन्ध कराने वाला जो एक सूत्र है-वह ज्ञान है एवं विषय ज्ञेय है । **अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य, अन्तःकरण-वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य** एवं विषयावच्छिन्न चैतन्य-इन तीनों के मेल से-**'घटमहं जानामि'**-इस प्रत्यय का स्वरूप बनता है । परन्तु नैय्यायिकादि **'घटमहं जानामि'**,-इस ज्ञान के प्रमाता, प्रमाण, प्रमिति और प्रमेय-ये चार पार्ट मानने हैं । उन्हीं के अभिप्राय से कहते हैं-**'घटमहं जानामि' पटमहं जानामि'**-यह जो ज्ञान है वह-प्रमाता, प्रमिति, प्रमाण और प्रमेय-इन चार भागों में प्रतीत होता है । जो ज्ञान का कन्दल है-उसका नाम तो प्रमाता है-जिसे कि **'अहं'** शब्द से व्यवहृत किया जाता है एवं जो विषय है-वह प्रमेय है, ज्ञेय है एवं विषय और अहं (आत्मा) से टच करते हुए मध्य में रहने वाला जो एक सूत्र है-वही प्रमिति है एवं जिस मार्ग में होकर वह सूत्र निकलता है-उसका नाम है-प्रमाण । ज्ञान इन्द्रियों द्वारा बाहर निकलकर विषय का ज्ञान करवाता है । चूँकि इन्द्रियाँ ही प्रमा को उत्पन्न कराती **हैं**, अतएव **'प्रमाजनकत्वं प्रमाणत्वम्'**-के अनुसार-प्रमाता. प्रमेय, प्रमिति के अलावा चौथी इन्द्रियवर्ग को प्रमाण अवश्य ही मानना पड़ता है । इस प्रकार से एक ज्ञान चार भागों में विभक्त है । इन चारों में से प्रमाण को छोडकर (इन्द्रियवर्ग को छोडकर) जो अवशिष्ट तीनों (प्रमाता-प्रमेय-प्रमिति) हैं-वे प्रमाता ही के स्वरूप हैं । प्रमाता ही प्रमिति और प्रमेयस्वरूप में परिणत हो रहा है । इस प्रकार से तीनों जीवतन्त्र के अन्तर्गत हैं । तीनों आत्मा ही के स्वरूप हैं । वही प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति बना हुआ है । परन्तु प्रमाण (इन्द्रियवर्ग) जीव की वस्तु नहीं है-अपि तु, ईश्वर की है । जैसे जीव ईश्वराधीन है-तद्वत् प्रमाण भी ईश्वराधीन है । यदि आँख-नाक-कान इत्यादि प्रमाण (इन्द्रियाँ) हमारे (जीव) के ही अधीन होते तो फिर हम कभी अन्धे होते ही नहीं । सारे प्रमाण सुरक्षित रहते हैं, क्योंकि अपना अनिष्ट हम चाहते ही क्यों ? परन्तु स्वास्थ्य की चाह करते हुए भी प्रमाण धोका दे जाते हैं, हम नहीं चाहते कि हम अन्धे हों, परन्तु हो जाते हैं । इससे मानना पड़ता है कि प्रमाण मेरे सीगे की चीज नहीं है-अपि तु, ईश्वर के तन्त्र की वस्तु है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"विभाति हि ज्ञानमिदं चतुर्भिर्भागैः प्रमाता प्रमितिः प्रमाणम् ।
प्रमेयमेतेषु च मातुरेव प्रमाणभिन्नत्रयमस्ति रूपम्" ॥४॥

शरीर के केन्द्र में जो कन्दलस्वरूप मैं हूँ-वही प्रमाता है । बाहर के अर्थ से मिला हुआ जो उस ज्ञानस्वरूप प्रमाता के अंशु का चारों ओर फैला हुआ प्रकाश है-वही **'प्रमिति'** है एवं जिस नलिका से-जिस द्वार से ये किरणें बाहर जाती हैं-वह प्रमासाधन मार्गविशेष ही इन्द्रियाँ हैं-जिन्हें कि हम प्रमासाधन-त्वात् प्रमाण कहते हैं । हमारा आत्मा सूर्य्य से बनता है-**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'** । सूर्य्य ही के अन्यतम प्राण का नाम इन्द्र है । इसीलिए तो-**'यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'**-यह कहा

जाता है। बस, यही इन्द्र मेरा आत्मा है। यह इन्द्र आत्मा चूंकि उन-उन मार्गों से निकलता है, अतएव उन मार्गों को इन्द्रिय कहते हैं। **'प्रमातुरात्मन (इन्द्रस्य) साधनं प्रमासाधनं प्रमाणम्'**। तात्पर्य्य कहने का यही है कि जिस मार्ग से होकर ये अंशु जाते हैं-उसी को प्रमासाधनत्वात् प्रमाण कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अहं प्रमाता प्रमितिस्तदंशुव्याप्तप्रकाशो बहिरर्थपृक्तः।
यया प्रणाल्यांशुरयं बहिर्धा याति प्रमासाधनमिन्द्रियं तत्" ॥५॥

वादी पूर्वपक्ष करता है कि प्रमाता से अलग इन्द्रियाँ मानने की क्या आवश्यकता है? जिनको तुमने चक्षु-घ्राणादि मान रखे हैं-वे सब उन रश्मियों का ही नाम हैं-यही क्यों न मान लिया जाए? प्रमिति ही चक्षु आदि इन्द्रियाँ हैं-ऐसा मान लेने में क्या हर्ज है? हर्ज क्या है-मानना ऐसा ही चाहिए। एक घड़े में दीपक रखा हुआ है। उसके एक छिद्र हो रहा है। अब उसमें से प्रकाश बाहर निकलता है तो क्या प्रकाश के अलावा और कुछ वहाँ है? प्रकाश ही तो वस्तु को दिखलाता है। उसमें छिद्र क्या करता है? बस, इसी प्रकार प्रत्यक्षादि का अनुभव प्रमिति ही तो करवाती है फिर इसके अलावा इन्द्रियाँ मानने की क्या आवश्यकता है? बात वास्तव में ठीक है। परन्तु क्या करें? एक अड़चन ऐसी पड़ती है कि जिसके लिए अवश्य ही इन्द्रियों को मानना पड़ता है। आत्मरश्मि एक ही प्रकार की है। वह आत्मरश्मि भिन्न-भिन्न मार्गों में निकलकर रूप-रस-गन्ध इत्यादि भिन्नात्मना परिणत हो जाता है। यह बात भिन्नेन्द्रियद्वार के कारण ही उपपन्न होती है। यदि इन्द्रिय कोई चीज न होती तो हम उस एकस्वरूप आत्मरश्मि से सबका एक ही छिद्र पर अनुभव कर लेते। आँख के छिद्र से सुन भी लेते, सूंघ भी लेते, बोल भी लेते। परन्तु आत्मरश्मि के एकस्वरूप होने पर भी हम देखते हैं कि जो सुराख सुनाने का काम देता है-स्वप्न भी रूपप्रत्यक्ष वह नहीं कर सकता। सबके विषय नियत हैं। इससे मानना पड़ता है-द्वाराधिष्ठाता कोई पदार्थ आत्मरश्मि से भिन्न अवश्य है-बस, इसीलिए हम प्रमाण को प्रमिति से अलग कहने के लिए तय्यार हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"एकोऽपि यद्रूपरसादिभिन्नाऽऽत्मना स निष्पद्यत आत्मरश्मिः।
भिन्नेन्द्रियद्वारवशात् तदाहुस्तदिन्द्रियं भिद्यत आत्मरश्मेः" ॥६॥

रूपादि के भिन्न-भिन्न ज्ञान करवाने में मूलभूत जो इन्द्रिय है-अर्थात् प्रमाण है-वह जीवात्मतन्त्र से सर्वथा अलग है। जैसा कि हम पूर्व में बतला आए हैं। जैसे बाह्यजगत् ईश्वर के ज्ञान से बना हुआ है तद्वत् यह प्रमाणवर्ग (इन्द्रियवर्ग) ईश्वरीयज्ञानोत्पन्न है। प्रमाण ईश्वर की वस्तु है, जीव की नहीं। उसका निर्म्माता ईश्वर है, न कि जीव। इसीलिए तो प्रमाणों के विषय में हम पराधीन हैं। इस प्रपञ्च से बतलाना यही है कि ज्ञान के प्रमाता-प्रमाण-प्रमिति और प्रमेय चार पार्ट होते हैं। इनमें से प्रमाण तो ईश्वर के प्रमेय में दाखिल है। अर्थात्-इन्द्रियवर्ग तो ईश्वर की वस्तु है। ईश्वर का प्रमेय है

बाकी रहे–प्रमाता, प्रमिति और प्रमेय । बस, ये तीनों एक हैं यही आगे के प्रकरण से बतलाया जाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"जीवात्मतन्त्रेतरदिन्द्रियं यद्रूपादि भिन्नप्रतिपत्तिमूलम् ।
बाह्यार्थवत् स्यात्तदपीश्वरीयज्ञानोद्भवं वस्तु न जीवक्लृप्तम्" ॥७॥

॥ इति प्रमाणस्येश्वरतन्त्रत्वम् ॥

——※——

३–प्रमितेः प्रमात्रा (सह) भेदाभावः ।

प्रमिति का प्रमाता के साथ भेदाभाव—

प्रमाण ईश्वरकोटि में चला गया, बाकी बचे–प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति । ये तीनों जीवात्म-क्लृप्त हैं । तीनों का स्वरूप उस आत्मा से बना हुआ है । प्रमाता ही प्रमिति और प्रमेय बना हुआ है । प्रमाता ही प्रमेय कैसे बना है ? इसके पहले प्रमाता और प्रमिति का अभिन्नत्व बतलाते हैं । प्रमाता-प्रमेय-प्रमिति–इन तीनों में से बिम्बविकाशस्वरूपा प्रमिति प्रमाता से भिन्न नहीं हो सकती । सूर्य्य प्रमाता है और उसका प्रकाश प्रमिति है । दोनों एक वस्तु हैं । उसी प्रकाशघन में से तो बाहर का प्रकाश निकल रहा है । दीप का प्रकाश और दीपक (लौ) भिन्न वस्तु थोड़े ही हैं । दोनों एक वस्तु हैं । प्रमाता बिम्ब है और उसका प्रकाश–उसका विकाश ही प्रमिति है । पाँखुरी से ही तो पुष्प निकलता है । पाँखुरी ही तो विकसित हो पुष्प कहलाने लगती है । ज्ञानकन्दल ही तो विकसित हो प्रमिति कहलाने लगता है । प्रमाता और प्रमिति कहने को दो हैं–वास्तव में दोनों एक हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अथ प्रमाता प्रमितिः प्रमेयं जीवात्मक्लृप्तं त्रयमत्र रूपम् ।
तत्र प्रमातुः प्रमितिर्न तावत् प्रभिद्यते बिम्बविकाशरूपा" ॥८॥

ज्ञान प्रकाशस्वरूप है । यह चौतरफ फैलने वाला जो एक प्रकाश है–उसका कोई न कोई केन्द्र अवश्य ही मानना पड़ेगा–जहाँ से कि यह प्रकाश चारों ओर फैले रहा है । बस, यह प्रकाश उस नाभिगत ज्ञानकन्दल में से उठकर के बाहर चारों ओर फैल रहा है । नाभिगत जो ज्योतिर्घन है–सूर्य्यवत् ज्योति का कन्दल है–उसे ही हम 'आत्मा' कहते हैं । बस, यही ज्ञाता है एवं इससे जो ज्ञानमय प्रकाश निकलता है–वही ज्ञान है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्ञानं प्रकाशो ध्रुवमेकनाभेरुत्थाय सर्वां दिशमभ्युपैति ।
ज्योतिर्घनो नाभिगतः स आत्मा ज्ञाता ततो ज्ञानमयं प्रकाशः" ॥९॥

ज्योति आग्नेय पदार्थ है। अग्नि स्वभाव ही से अपनी दो संस्था कायम करता है–चित्यसंस्था और चितेनिधेय संस्था। इन्हीं को अन्तःपृष्ठ और बहिःपृष्ठ भी कहते हैं। जो पिण्ड होता है–वही चित्य किंवा अन्तःपृष्ठ कहलाता है एवं जो उस पिण्ड में से निकलकर चारों ओर फैलने वाला प्रकाश का सोलर सिस्टम है–वही बहिःपृष्ठ किंवा चितेनिधेय संस्था है। ज्योतिमात्र अपनी यही दो संस्था रखती है। ज्योतिर्घन से निकली हुई यह ज्योति प्रकाशमण्डल पृथक्वत् प्रतीत होता हुआ भी वास्तव में उस कन्दलज्योति से वह प्रकाशमण्डल भिन्न नहीं है। यह ज्योतिर्मण्डल बाह्य और आन्तर भेद से बहिःपृष्ठ और अन्तःपृष्ठ भेद से दो भागों में विभक्त हो प्रतिष्ठित होता है। सदा इसके दो मण्डल बनते हैं। इस प्रकार कहने को दो होकर भी वास्तव में दोनों एक वस्तु हैं। प्रमाता के साथ प्रमिति का भेदाभाव है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्योतिर्घनाज्ज्योतिरिदं पृथग्वत् प्रतीतमप्यस्ति न तद्विभिन्नम्।
स्वं मण्डलं बाह्यमथान्तरं च द्विधा विभज्य प्रतितिष्ठतीदम्" ॥१०॥

॥ इति प्रमितेः प्रमात्रा भेदाभावः ॥

———

४–अन्तर्बहिर्भेदात् प्रमेयस्य प्रमात्रा भेदाभेदौ।

अन्तर्जगत्, बहिर्जगत् भेद से प्रमेय का प्रमाता के साथ भेद और अभेद—

प्रमाता और प्रमिति के विषय में तो कोई झगडा ही नहीं है। झगड़ा है–प्रमेय के विषय में। इस ज्ञान में जो भासता है–उसे ही जगत् कहते हैं। घट-पट-पर्वत-इत्यादि ज्ञान में भासने वाले जो पदार्थ हैं–वही तो जगत् है। इस जगत् के विषय में दो मत हैं। एकमत है कि जो–कुछ बाहर स्थित है–वही मेरे ज्ञान से पकड़ा हुआ है। अर्थात् बहिर्जगत् का ही मैं प्रत्यक्ष करता हूँ। मेरा ज्ञान कोई नया घट नहीं बनाता है–अपि तु, बहिःस्थित घट का ही मुझे प्रत्यक्ष होता है। इस मत के अनुसार ज्ञान अलग वस्तु है और ज्ञेय अलग वस्तु है। इस मत में अन्तर्जगत् कोई वस्तु नहीं है–बहिर्जगत् ही-इसमें अभिप्रेत है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्ञाने तु यद्भाति जगत् तदुक्तं तत्र द्विधा संप्रतिपत्तिरस्ति।
यदस्ति किञ्चिद्बहिरर्थरूपं तदेव मज्ज्ञानगृहीतमस्ति" ॥११॥

परन्तु दूसरे दार्शनिकशिरोमणि कहते हैं कि है कुछ और, भासता है कुछ और। जो है–उसका भान हमें नहीं होता। बाहर का जो 'अस्ति' सिद्ध जगत् है–बहिर्जगत् है–वह ईश्वर का बनाया

हुआ है । उस ईश्वरक्लृप्त बहिर्जगत् को मैं सर्वथा नहीं देखता हूँ । वह बहिर्जगत् वजनदार है–गुरु है–उसका मेरे ज्ञान में हर्गिज प्रवेश नहीं होता । मैं अपने ज्ञान के बनाए हुए अन्तर्जगत् को देखता हूँ–बहिर्जगत् का मेरे से कोई सम्बन्ध नहीं है–जैसा कि 'अन्तर्जगत्सिद्धि' में विस्तृतया बतला दिया गया है । इस मत में ज्ञान और ज्ञेय दोनों एक वस्तु हैं । तो बस, इस प्रकार से ज्ञान और ज्ञेय के विषय में दो संप्रतिपत्तिएँ हैं । एक कहते हैं–ज्ञान से ज्ञेयकुल पृथक्वस्तु है–अन्तर्जगत् कोई चीज नहीं–दूसरे कहते हैं–ज्ञान से ज्ञेयकुल पृथक् वस्तु नहीं है–हमें हमारे ज्ञान से ही बने हुए अन्तर्जगत् का ही प्रत्यक्ष होता है–बहिर्जगत् का हमारे से कोई सम्बन्ध नहीं । इन दोनों में से दूसरा मत ही (अन्तर्जगत्वाला) ठीक है–यह बतलाते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यद्वाऽन्यदस्त्यन्यदिदं विभाति बहिर्जगद्धीश्वरक्लृप्तमस्ति ।
न तत् प्रपश्यामि न तन्ममैतज्ज्ञाने प्रवेशं क्षमते गुरुत्वात्" ।।१२।।

।। इति-अन्तर्बहिर्भेदात् प्रमेयस्य प्रमात्रा भेदाभेदौ ।।

५–जीवान्तर्जगतोरैक्यम् ।

जीव और अन्तर्जगत् का ऐक्य—

जिस प्रकार से स्वच्छ शुक्ल स्फटिकमणि (बिल्लौर) पर-जपा कुसुम की लाली का प्रतिबिम्ब पड़ता है एवं उस प्रतिबिम्ब से सफेद स्फटिक लाल हो जाता है, वस्तुतः वह अब भी शुद्ध ही है । तो बस, जैसे स्फटिक पर जपानुराग है–ठीक उसी प्रकार से हमारे ज्ञानगत अर्थ है । ज्ञान में विषय का सम्बन्ध जपानुरागवत् है । विषय का प्रतिबिम्बमात्र है । वास्तव में स्फटिकवत् ज्ञान अब भी बेलाग है । इस प्रकार से कई लोग अपना अभिप्राय प्रकट करते हैं, परन्तु किया करें–उनसे हमें कुछ नहीं कहना, हमें तो जिज्ञासुओं के प्रति कहना है–यह जगत् जिसका कि हमें भान होता है–वह हमारे आत्मा से भिन्न नहीं है । हमारा दृश्यजगत् हमारे ज्ञान से बना हुआ है–बहिर्जगत् से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"जपानुरागः स्फटिके विशुद्धे यथा तथा ज्ञानगतास्तदर्थाः ।
इत्थं वदन्तीति वदन्तु किन्तु ब्रूमो वयं नात्मपृथग् जगत्तत्" ।।१३।।

मैं जो कुछ देखता हूँ एवं जानता हूँ–वह देखा हुआ और जाना हुआ सारा प्रपञ्च मेरे ज्ञान से बना हुआ है । मेरे जगत् का निर्म्माता मैं ही हूँ । मेरे ज्ञान ही ने ज्ञान के मसाले से जगन्निर्म्माण किया है । आत्मा ही जगत्स्वरूप में परिणत हो गया है । वह एक ही आत्मा नामरूपकर्म–इन तीन भागों में परिणत हो गया है एवं वही तीन प्रतिसंचरक्रिया से एक बन जाते हैं । इसी अभिप्राय से–**'तदेतदेकं**

सत्रयम्'–कहा जाता है। स्व का स्व में आधाराधेयभाव नहीं हो सकता। आप अपने में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। चूंकि जगत् भी उसी से बना है, अतः वह उसमें (ज्ञान में) प्रतिष्ठित कैसे हो सकता है? आधाराधेयभाव तो विजातीय पदार्थों में हुआ करता है इसीलिए हम इस ज्ञान और ज्ञानीय अन्तर्जगत् को अभिन्न कहने के लिए तय्यार हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यदत्र पश्यामि किमप्यवैमि तदस्ति सर्वं मम बोधक्लृप्तम्।
आत्मैव तद्रूपमगात् कथं स्वं स्वस्मिन् गतं स्यात् तदभिन्नमेतत्" ॥१४॥

बहिःस्थित घटपटादि अर्थ के साथ यह जीवात्म-रश्मि जब कभी युक्त होती है तो उस आयतन को प्राप्तकर वह तत्स्वरूप में परिणत हो भासित होने लगती है। ज्ञान ही प्रत्याघात से अर्थस्वरूप में परिणत हो जाता है–न कि वह अर्थ ज्ञान में आ बैठता है। यदि ऐसा हो तो हम मारे बोझ के ही दब कर मर जाएँ। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"बहिःस्थितार्थेन यदैष जीवात्मरश्मिरायाति कदापि योगम्।
स तत्परिच्छेदमवाप्य सद्यस्तादृक् स्वरूपं प्रतिपद्य भाति" ॥१५॥

यह पहाड़ है, ये अनन्तवृक्ष हैं, ये पत्तों के बीच के विवर हैं–ये बडे-बडे लम्बे-चौड़े मैदान हैं, यह ऊपर है, यह नीचे है, यह आगे है, यह पीछे है–यह जो कुछ प्रतीत हो रहा है–सब कुछ मेरा ज्ञान ही तो है। मेरा खयाल ही तो है। मेरे ज्ञान से अलावा ज्ञेय है क्या? जो कुछ जानता हूँ–वह सारा प्रपञ्च ज्ञानस्वरूप है, अतः ज्ञान और ज्ञेय भिन्न वस्तु नहीं समझनी चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्ञानं गिरिर्ज्ञानमिमे च वृक्षा ज्ञानं तदन्तर्विवराणि कक्षाः।
ज्ञानं तदूर्ध्वं तदधस्तदग्रं यज्ज्ञायते ज्ञानमिदं समग्रम्" ॥१६॥

॥ इति जीवान्तर्जगतोरैक्यम् ॥

——❀——

६–ज्ञानज्ञेयसम्बन्धनिर्धारणम्।
ज्ञानज्ञेयसम्बन्धनिर्धारण—
(ज्ञेयस्य ज्ञानस्वरूपत्वप्रतिपादनम्)
ज्ञेय का ज्ञानस्वरूपत्वप्रतिपादन—

ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय–इन तीनों में से ज्ञाता और ज्ञान का तो निर्णय हो चुका। ज्ञाता ही रश्मिरूप से बाहर निकलकर ज्ञान कहलाने लगता है। ज्ञाता ही ज्ञान बन जाता है। अब बाकी बच

जाता है-ज्ञेय। ज्ञान में भासित होने वाले घटपटादि ज्ञान से विजातीय हैं अथवा सजातीय। इस ज्ञान-ज्ञेय के आधाराधेयभावसम्बन्ध मे तीन संप्रतिपत्तियाँ हो सकती हैं। ज्ञान का ज्ञेय के साथ जो आधाराधेयभाव सम्बन्ध है-वह तीन तरह से देखा जा सकता है। जिस प्रकार से टेबिल और पुस्तक के आधाराधेयभाव होने पर भी पुस्तक अपनी सत्ता टेबल से पृथक् रखती है। टेबल की सत्ता से पुस्तक सत्ता का कोई सम्बन्ध नहीं है तद्वत् ही ज्ञान से ज्ञेय घटपटादि पृथक्सत्ता को लेकर उत्पन्न होते हैं। पुस्तक और टेबिल का उदाहरण ठीक न होगा। क्योंकि वहाँ उपादान कार्य्यकारणभाव नहीं है। टेबिल से पुस्तक उत्पन्न नहीं होती। इनमें निमित्त कार्य्यकारणभाव है-उपादानकार्य्यकारणभाव नहीं। परन्तु घट और ज्ञान में तो उपादान कार्य्यकारणभाव है अतः इसके विषय में टेबल-पुस्तक का दृष्टान्त ठीक नहीं हो सकता। इसका दृष्टान्त हो सकता है-पिता-पुत्र का सम्बन्ध। पिता के अंश से ही पुत्र उत्पन्न होता है, परन्तु उत्पन्न होते ही वह अपनी पृथक् सत्ता बना लेता है। अब चाहे पिता मर जाओ फिर भी पुत्र का कुछ नहीं बिगड़ता। पुत्र की अपनी सत्ता पिता से सर्वथा पृथक् है बस, तद्वत् ही "ज्ञान से ज्ञेय पृथक् सत्ता को लेकर ही उत्पन्न हुआ है"-ज्ञान-ज्ञेय के आधाराधेयभाव में यह पहली संप्रतिपत्ति हो सकती है। ज्ञान से विषय विजातीय नहीं है-उसी से उत्पन्न होता है, परन्तु स्थान विजातीय रखता है। ज्ञान से उत्पन्न घटादि की सत्ता ज्ञान से सर्वथा पृथक् है। इसीलिए तो हम विषय को टटोला करते हैं-यदि ज्ञान ही की सत्ता से विषयसत्ता रहती है तो फिर टटोलते किसे? ऐसी हालत में तो कभी विस्मृति होनी ही नहीं चाहिए थी, परन्तु होती है, अतः मानना पड़ता है कि ज्ञान से उत्पन्न जगत् की सत्ता पितापुत्रवत् ज्ञान से पृथक् है—**'ज्ञानात् पृथक्सत्ततया प्रजज्ञे। ज्ञेयं पितापुत्रवद् उद्धृतम्'** ॥१॥

बस, यही पहली संप्रतिपत्ति है अथवा जैसे दूध दही बन गया है, तद्वत् यह ज्ञान ही घड़ा बन गया है-यह बात भी इस ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध में हो सकती है। तन्तु ही वस्त्र बन गया है, मिट्टी ही घड़ा बन गई है-वास्तव में वस्त्र और घट की तन्तु और मिट्टी से पृथक् सत्ता नहीं है। उसी तन्तुसत्ता से वस्त्र **'सत्'** कहलाता है। उसी मृत्तिका की सत्ता से घट **'सत्'** कहलाता है। यदि वस्त्र में से तन्तु निकाल दिए जाएँ एवं घट में से मिट्टी निकाल दी जाए तो वस्त्र और घट का स्वरूप ही नहीं रहेगा। तद्वत् ही ज्ञान से उत्पन्न ज्ञेयजगत् की सत्ता ज्ञान से पृथक् नहीं मानी जा सकती। ज्ञान ही से विषय उत्पन्न होते हैं-ज्ञान ही पर ठहरते हैं-ज्ञान ही में लीन हो जाते हैं। ज्ञान ही विषय का प्रभव-प्रतिष्ठा और परायण है, अतएव हम ज्ञान को विषय से अभिन्न कहने के लिए तय्यार हैं। जो ज्ञान की सत्ता है-वही घट की सत्ता है। जो दूध की सत्ता है-वही दही की सत्ता है। ज्ञान सर्वात्मना घटस्वरूप में परिणत हो जाता है-जैसे कि दूध सर्वात्मना दही बन जाता है। बस, ज्ञानज्ञेयसम्बन्ध में यह दूसरी संप्रतिपत्ति हो सकती है—**'तदेकसत्तं दधिदुग्धवद् वा'** ॥२॥ जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी निर्दिष्ट करते हुए कहते हैं—

"तत्रापि च त्रैधमिदं प्रसक्तं ज्ञानात् पृथक्सत्ततया प्रजज्ञे।
ज्ञेयं पितापुत्रवदुद्धृतं वा तदेकसत्तं दधिदुग्धवद्वा" ॥१७॥

अथवा ज्ञान और ज्ञेय के सम्बन्ध में तद्भिन्नसत्तात्व एवं तदभिन्नसत्तात्व भी कहा जा सकता है। दूध पर जैसे मलाई जम जाती है, पानी पर फेन जम जाता है- वैसे ही ज्ञान से ज्ञेय बनता है। **'दधिदुग्धवद्वा'**–के अनुसार तो एकान्ततः सारे ज्ञान का ही विषयस्वरूप में परिणत होना सिद्ध होता है, परन्तु इस– **'शरफेनवद्वा'**–के हिसाब से ज्ञान के एक अंश से विषयपरिणति सिद्ध होती है। सारा दूध मलाई नहीं बन जाता, सारा ही पानी झाग नहीं बन जाता–अपि तु, पानी का और दूध का एक अंश ही मलाई और झाग बनता है। एवमेव सारा ही ज्ञान विषय नहीं बन जाता–अपि तु, ज्ञान का एक अश विषय बनता है। जितना सा दूध मलाई बन गया है एवं जितना सा पानी झाग बन गया है–उतने से पानी और दूध के साथ जो मलाई और झाग का सम्बन्ध है–वह अभिन्नसत्ताक सम्बन्ध है एवं जो मलाई से अतिरिक्त दूध बचा हुआ है एवं फेन से अलग जो पानी बचा हुआ है–उसका और मलाई का जो आधाराधेयभावसम्बन्ध है–वह भिन्नसत्ताक है। बस, इसी प्रकार से ज्ञान का जितना अंश ज्ञेय बन गया है, उस ज्ञेय और ज्ञान का अभेदसम्बन्ध है–एकसत्ताक आधाराधेयभाव है एवं जो ज्ञेय से अतिरिक्त बहुमात्रा में ज्ञान बचा हुआ है–उसका और ज्ञेय का भिन्नसत्ताक आधाराधेयभाव सम्बन्ध है। बस, यही तीसरी संप्रतिपति है—**'तद्भिन्नसत्तं तदभिन्नसत्तं क्षीरं यथा वा शरफेनयुक्तम्' ॥३॥**

इस प्रकार से पितापुत्रवद्वा, दधिदुग्धवद्वा एवं क्षीरशरवद्वा–इन तीनोंमें से तीसरे शरफेनयुक्त में मेरी संप्रतिपत्ति है। मेरे ख़याल से तीसरा ही मत ठीक है। क्योंकि ज्ञेय की जो विधा है–उसकी स्थिति ज्ञान पर ही प्रतीत होती है। विषय ज्ञान में ही स्थित प्रतिभासित होते हैं। ज्ञान के अलावा कहीं विषयसत्ता नहीं रहती–इसलिए तो अभिन्नसत्ताक है एवं ज्ञेय की विस्मृति भी हो जाती है–इसलिए भी इनका सम्बन्ध अभिन्नसत्ताक है। जो ज्ञान ज्ञेय में परिणत हो गया है–उसका और उस ज्ञानांश का सम्बन्ध तो अभिन्नसत्ताक है। वह ज्ञानांश तो उस ज्ञान का स्वरूप ही है एवं जो ज्ञान द्रष्टारूपेण स्वतन्त्र बचा हुआ है–उसका और ज्ञेय का सम्बन्ध भिन्नसत्ताक है। इसीलिए ज्ञेय की विस्मृति हो जाया करती है। जो मिट्टी घड़ा बन गई–उसका और घट का तो अभेद सम्बन्ध है एवं जो मिट्टी अलग पड़ी हुई है–उसका और घड़े का भेदसम्बन्ध है। बस, इसी प्रकार से ज्ञान और ज्ञेय में भिन्नसत्ताक और अभिन्नसत्ताक दोनों सम्बन्ध समझने चाहिएँ। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी निर्दिष्ट करते हुए कहते हैं—

"तद्भिन्नसत्तं तदभिन्नसत्तं क्षीरं यथा वा शरफेनयुक्तम् ।
एषां तृतीये मम संप्रपत्तिर्ज्ञानस्थितज्ञेयविधाप्रतीतेः" ॥१८॥

इस ज्ञानज्ञेयसम्बन्ध में जो भिन्नसत्तात्व एवं अभिन्नसत्तात्वस्वरूप द्वैध बतलाया है–उसी का स्पष्टीकरण करते हैं —

ज्ञानज्ञेय-सम्बन्ध के विषय में जो द्वैध बतलाया है–वह भिन्नसत्ताक एवं अभिन्नसत्ताक नाम से व्यवहृत होता है–**'तत्रापि च द्वैधमिदं यदुक्तं तद्भिन्नसत्तं तदभिन्नसत्तम्'**। **(इति नाम्ना व्यवह्रियते–इति शेषः)।**

अंशप्रभेद से पृथक् निकालकर जो ज्ञान का अंश वेद्य बन जाता है-तदंशमात्र ज्ञान ज्ञेय से अभिन्नसत्त है। अर्थात् मलाई की तरह जितना सा ज्ञान ज्ञेय बन जाता है-उस अंशज्ञान और ज्ञेय का जो परस्पर आधाराधेयभाव सम्बन्ध है-वह अभिन्नसत्ताक है। वित्ति अर्थात्-ज्ञान का जो अंशमात्र है-वही वेद्य बना है-सारा ज्ञान (वित्ति) ज्ञेय नहीं बन गया है-'**अंशप्रभेदात्तु पृथक् तदूह्यं वित्त्यंशमात्रं हि बभूव वेद्यम्**'। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी निर्दिष्ट करते हुए कहते हैं—

"तत्रापि च द्वैधमिदं यदुक्तं तद्भिन्नसत्तं तदभिन्नसत्तम्।
अंशप्रभेदात्तु पृथक् तदूह्यं वित्त्यंशमात्रं हि बभूव वेद्यम्" ॥१९॥

बस, जो वित्ति का अंश है-तदंशमात्र ही ज्ञेय से अभिन्न सत्ता है। ज्ञेय में परिणत ज्ञानांश ही ज्ञेय से अभिन्न है। जो ज्ञेय से भिन्न ज्ञान बचा हुआ है-वह ज्ञेय से सर्वथा भिन्न है। इस ज्ञानांश में भी कई दार्शनिक द्वैध बतलाते हैं। उनका कहना है कि बोध से अर्थात्-ज्ञान से बोध्य अर्थात्-ज्ञेय एक-जात्यन्तर ही उत्पन्न होता है। ज्ञान अमृत है-ज्ञेय मृत्यु है। ज्ञान नित्य है, ज्ञेय अनित्य है। घटपटादि का नाश हो जाता है, ज्ञान का नाश नहीं होता-इसीलिए मानना पड़ता है कि ज्ञान से ज्ञेय विजातीय पदार्थ है। बोध से जात्यन्तर बोध्य उत्पन्न होता है ज्ञेय कभी ज्ञान नहीं बन सकता-ज्ञान कभी ज्ञेय नहीं बन सकता। बस, यह पहला मत है।

दूसरे दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञान से ज्ञेय विजातीय नहीं है। ज्ञान से ज्ञेय कभी विजातीय नहीं हो सकता। घट भी कभी मिट्टी से विजातीय हुआ है? मलाई भी कभी दूध से विजातीय हुई है। जैसे दूध की मलाई विजातीय प्रतीत होती है-वास्तव में दूध भी मलाई ही है-तद्वत् विषय विजातीय अवश्य ही प्रतीत होते हैं, परन्तु हैं-सजातीय ही। परन्तु दूध और मलाई की तरह ज्ञान का एक अंश (वित्त्यंश) ही घट बन जाता है-बाकी का सारा ज्ञान अलग रहता है-यह बात हम इस ज्ञान के विषय में मानने के लिए तय्यार नहीं। हमारे हिसाब से सारा बोध सारा ज्ञान दधिदुग्धवत् बोध्यमय है, ज्ञेयमय है। सारा ज्ञान घट बन जाता है। एक अंश घट बन गया और बाकी का अंश अलग अछूता बचा हुआ है-यह बात हर्गिज नहीं समझनी चाहिए। बात वास्तव में सच है-जिस समय हमारा ज्ञान घटाकारित रहता है-उस समय सारा ज्ञान घटस्वरूप ही दिखलाई पड़ता है। घट से अलावा ज्ञान को अलग हम नहीं देखते। एवमेव जब ज्ञान घट को छोडकर हाथी को पकड़ लेता है तो हाथी के आकार में परिणत हो जाता है। गरज यह है कि ज्ञान सर्वात्मना विषय में परिणत होता है-न कि ज्ञान का एक अंश। कदाचित् कहो कि यदि सारा ज्ञान ही विषय बनता है तो एककालावच्छेदेन सौ पदार्थ कैसे बन जाते हैं? ज्ञान चूँकि एक है, अतः पदार्थ भी एक ही बनना चाहिए। परन्तु बनते हैं-अनन्त, इसलिए मानना पड़ता है कि ज्ञान के जरा जरा से अंश से पदार्थ बनते हैं। इस प्रश्न का उत्तर सहल है। वही ज्ञान एकदम सौ पदार्थों के आकार से आकारित हो जाता है-इसमें कौनसी अनुपपत्ति है? विषयत्वेन सौ भी एक ही हैं। अन्यथा तो एक हाथी में भी कान-नाक-आँख-चर्म-पैर-सूंड-दांत-इत्यादि नाना विषय मानने पडेंगे। कहना प्रकृत में हमें यही है कि ज्ञान सर्वात्मना ज्ञेय बन जाता है।

घट ज्ञान के समय सारा ज्ञान घटाकाराकारित है–न कि ज्ञान का एक अंश। बस, इसी अभिप्राय से–**'यद्वाखिलं बोध्यमयं स बोधः'**–कहा गया है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी निर्दिष्ट करते हुए कहते हैं—

"अभिन्नसत्तं हि तदंशमात्रं तत्रापि च द्वैधमनुब्रुवन्ति।
जात्यन्तरं बोध्यमुदेति बोधाद् यद्वाऽखिलं बोध्यमयं स बोधः" ॥२०॥

ज्ञान में पृथक् सत्ततया आहित जो जगत् है–वह ज्ञानसत्ता से ही सत् है। जैसे मिट्टी की सत्ता से घडा सत् प्रतीत होता है–तद्वत् ज्ञान की सत्ता से अपनी सत्ता पृथक् कायम करता हुआ जगत् सत् प्रतीत हो रहा है। ज्ञान की ही सत्ता से ज्ञेय सत् है। ज्ञान ही की सत्ता से घड़ा 'अस्ति' का अधिकारी होता है। यदि इस घटजगत् से ज्ञान हटा दिया जाए तो जगत् सर्वथा मिथ्या है, असत्य है, अर्थात्–सत्ता-शून्य है। सूर्य्य के प्रकाश से ही लाल-पीला-काला रंग है–यदि सूर्य्य का प्रकाश हटा लिया जाए तो रंगों का कोई अस्तित्व ही न रहे। ज्ञान का जो स्वरूप है–वही तो जगत् का आत्मलाभ है। ज्ञान ही तो घटपटादि का आत्मा है। जैसे आत्मा विना आत्मन्वी नाम की कोई वस्तु नहीं तद्वत् ज्ञान विना जगत् कोई वस्तु नहीं। ज्ञान से स्वतन्त्र वे अपना आत्मलाभ कर सकें–ज्ञान के अलावा वे अपनी सत्ता रख सकें–यह कदापि संभव नहीं। ज्ञान ही जगत् का प्रभव है, ज्ञान ही प्रतिष्ठा है, ज्ञान ही परायण है। भला ऐसी हालत में जगत् ज्ञान से भिन्न क्योंकर हो सकता है? ज्ञान से ज्ञेय को अलग कैसे बतलाया जा सकता है? ज्ञान ही तो ज्ञेय का स्वरूप है। मिट्टी ही तो घट का स्वरूप है, तन्तु ही तो वस्त्र का स्वरूप है। वस्तुतः मिट्टी और तन्तु ही तो असली चीज हैं। घट और वस्त्र तो असत् हैं, मिथ्या हैं, सत्ताशून्य हैं। इसीलिए **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'**[1]–यह कहा जाता है। घट को जब भी हम देखते हैं–ज्ञान ही के स्वरूप में परिणत देखते हैं। यदि ज्ञान से पृथक् इसकी सत्ता होती तो कभी तो यह ज्ञान से पृथक् दिखलाई पड़ता ही। इसलिए मानना पड़ता है कि ज्ञान ही ज्ञेय है। ज्ञेय ज्ञान से पृथक् नहीं है —**'ज्ञानातिरेकेण पृथङ् न तेषाम् (सत्ता)'** ॥ जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी निर्दिष्ट करते हुए कहते हैं—

"ज्ञाने पृथक्सत्ततयाऽऽहितं तज्ज्ञानातिरेके जगदस्त्यसत्यम्।
ज्ञानस्य रूपं हि तदात्मलाभो ज्ञानातिरेकेण पृथङ् न तेषाम्" ॥२१॥

अपि च–ज्ञानवत् यदि जगत् सत्य होता, नित्य होता, अपनी पृथक् सत्ता रखने वाला होता, तो सदा एक ही स्वरूप में रहता। हम जगत् के यच्चयावत् पदार्थों में प्रतिक्षण परिवर्त्तन देखते हैं। जो वस्तु कल थी–वह आज बिल्कुल दूसरे स्वरूप में परिणत हो गई है। यदि जगत् नित्य एवं सत्य ही होता तो इसमें नाना भेद न होते। हम मानते हैं कि इसमें विजातीय-सजातीय भेद नहीं होते, परन्तु

१–छान्दोग्योप० ६।१।४।

स्वगतभेद तो होते हैं । अतः इस विश्व के अन्तः अर्थात्-मध्य में स्वगत नाना भेद न होते-यदि जगत् ज्ञानवत् सत्य ही हो तो । अपि च-इनके बोध हो जाने पर फिर कभी अबोध नहीं होना चाहिए अर्थात्-हमें एकदफे घट का ज्ञान हो गया तो वह आकल्प बना ही रहना चाहिए एवं यदि एकदफे घट बन गया-उत्पन्न हो गया तो फिर कभी उसका अभाव ही नहीं होना चाहिए । यदि है तो फिर नास्ति नहीं होनी चाहिए एवं ज्ञायते है तो न ज्ञायते नहीं होनी चाहिए, परन्तु होती है । जो अस्ति घट की आज थी-वही कल नहीं है । जो घट का ज्ञान हमें आज था-वही कल नहीं है । इससे मालूम होता है कि ज्ञानवत् जगत् नित्य एवं पृथक् सत्तावाला नहीं है । ज्ञान ही की सत्ता से वह असत् भी जगत् सद्वत् प्रतीतमात्र होता रहता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"सत्यं यदि स्याज्जगदेकरूपं सदावतिष्ठेत न चान्तरस्य ।
भेदा भवेयुः स्वगता न वैषां बोधादबोधो भवतामभावः" ।।२२।।

ज्ञान सत्य है एवं यह ज्ञान ही इस मर्त्यजगत् का आत्मा है । ज्ञान की सत्ता से ही असत् जगत् की सत्ता होती है । यह ज्ञान दिग्देशकाल से नापा नहीं जा सकता । जैसे घटपटादि परिच्छिन्न हैं-तद्वत् ज्ञान परिच्छिन्न नहीं है । वह सारे विश्व को भी अपने खयाल में ला सकता है, अतएव वह महान् से महान् है एवं एक तिलस्वरूप में भी परिणत हो जाता है, अतएव वह अणु से भी अणु है । वह सब कुछ हो सकता है । उसका कोई नियत परिमाण नहीं है । वह यहाँ तक है-यह नहीं कहा जा सकता । वह तो दिग्-देश-काल से अनवछिन्न है । इस दिशा में है, यहाँ तक है, यहाँ नहीं है, यह दिग्-नियम भी उसमें लागू नहीं है । वह इस स्थान में है-इस स्थान में नहीं है-इस प्रपञ्च से भी वह दूर है । पहले था-पर अब नहीं, आगे होगा-यह कालनियम भी उसमें नहीं है । दिग्-देश-कालादि किसी से भी वह परिच्छिन्न नहीं बनाया जा सकता । चूंकि यह ज्ञान अनवच्छिन्न है, व्यापक है-इससे खाली एक बिन्दु भी नहीं है । चूंकि सारे विषय रहते हैं-इस ज्ञानात्मा पर, यह है अनवच्छिन्न, अतएव इस बोध में-इस ज्ञान में अर्थ तादात्म्यतया प्रतिभासित होते रहते हैं । ज्ञान के अलावा जगत् रहता ही नहीं । ज्ञान है-व्यापक, अतः सारे विषय ज्ञानतादात्म्येन प्रतिभासित होते रहते हैं । यदि ज्ञान के अलावा इनकी सत्ता होती तो इनका ज्ञान से पृथक्त्वेन ग्रहण होता । परन्तु हो कैसे ? जबकि ज्ञान व्यापक है । ज्ञान के अलावा ये ठहरें जब ही न-जबकि ज्ञान से अलावा कोई स्थान खाली हो । चूंकि ज्ञान से खाली कोई स्थान नहीं है, अतएव ये विषय तादात्म्येन प्रतीत होते रहते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्ञानं तु सत्यं जगतः स आत्मा दिग्देशकालैस्तु न मीयते सः ।
अस्यानवच्छिन्नतयाऽऽत्मनोऽर्थास्तादात्म्यभूताः प्रतिभान्ति बोधे" ।।२३।।

ज्ञान बिलकुल स्थित है-निष्क्रिय है-निर्विकृत है । हजारों विकारों के होने पर भी इसका कुछ नहीं बिगड़ता, न होने पर भी कुछ नहीं बिगड़ता । पानी को कितना भी विकृत कीजिए-उसमें चमकने वाले

प्रतिबिम्ब का कुछ नहीं बिगड़ता । वह तो असंग है । विकारों के होने न होने से उसका कोई सरोकार नहीं है । पानी में कितनी ही लहरें चलें–पानी अब भी अपने स्वस्वरूप से स्थित है । बस, इसी प्रकार से इस ज्ञान में चाहे हजारों विकार होते रहें, अथवा न होते रहें–इसका उन विकारों से कोई सम्बन्ध नहीं है । वह सदा एकरूप रहता है । ज्ञान सत्य है–इस सत्यज्ञान में रहने वाला असत्य भी जगत् सत्यवत् प्रतीत होने लगता है । जगत् (मृत्यु-बल) सर्वथा सत्ताशून्य है–ज्ञान ही की सत्ता से वह सत् कहलाने लायक बनता है । वास्तव में ज्ञान से अलावा घटपटादि कोई वस्तु नहीं हैं । ज्ञेय ज्ञान ही है । जिसे तुम घड़ा 'है'–यह कहते हो–वह 'है' ज्ञान ही की सत्ता है । घड़ा है, वस्त्र है, पर्वत है, नदी है–इत्यादि 'है'–इसका सीगा (ज्ञेय का सीगा) ज्ञान ही का तो है । ऐसी हालत में ज्ञेय को ज्ञान से पृथक् क्योंकर कहा जा सकता है ? जिस दिन घड़े को मिट्टी से अलग किया जाएगा–उस दिन 'घट' ही नहीं रहेगा । एवमेव ज्ञेयजगत् को जिस दिन ज्ञान से अलग करके समझा जाएगा--उस दिन ज्ञेय 'ज्ञेय' ही नहीं रहेगा । अपि च–हम देखते हैं कि घट के पहले भी हमारा ज्ञान था–घट की वर्त्तमान अवस्था में भी ज्ञान है–घट के फूट जाने पर भी ज्ञान रहेगा । इस प्रकार ज्ञान त्रिकालाबाध्य है । परन्तु घट न पहले था–न आगे रहेगा–केवल वर्त्तमानकोटि है । ऐसी हालत में ज्ञानवत् जगत् को क्योंकर भिन्नसत्ताक बतलाया जा सकता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्ञानं स्थितं निर्विकृतं विकारेष्वसत्सु सत्स्वेषु सदैकरूपम् ।
ज्ञानं हि सत्यं तदसत्यमस्मिन् स्थितं ततः सत्यवदेव भाति" ।।२४।।

सम्पूर्ण कथन का सारांश यही हुआ कि जो मेरा अन्तर्जगत् है–वह मेरा ज्ञान ही है । मेरा ज्ञान ही अन्तर्जगत् बना हुआ है । मैं जो कुछ जानता हूँ–वह मेरे ज्ञान से बना हुआ है एवं वह ज्ञान ही (कन्दल ही) 'अहं' है । ज्ञान ही तो 'अहं' का स्वरूप है एवं इसका जो विश्व है वह मज्ज्ञानस्वरूप ही तो है । तो बस, इस प्रकार से ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय कहने को तीन हैं–वास्तव में तीनों एक हैं । कन्दल-ज्ञान ज्ञाता है, रश्मिज्ञान ज्ञान है–परावर्त्तित ज्ञान ज्ञेय है । तीनों ज्ञान हैं, अतएव त्रिसत्यवाद विज्ञान-काण्ड में ढीला पड़ जाता है । तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर त्रिसत्यवाद कोई चीज ही नहीं बचती । तीनों व्यवहार के लिए तीन हैं–वास्तव में तीनों का एकरूप है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"इत्थं यदन्तर्जगदस्ति तन्मे ज्ञानं तदेवाहमिति प्रसिद्धम् ।
ज्ञानं हि मद्रूपमथास्य विश्वं मज्ज्ञानरूपं तदभिन्नमेकम्" ।।२५।।

।। इति ज्ञानज्ञेयसम्बन्धनिर्धारणम् ।।

।। इति ज्ञेयस्य ज्ञानस्वरूपत्वम् ।।

७-ज्ञेयस्य ज्ञानरूपत्वे आक्षेपः ।

ज्ञेय के ज्ञानरूपत्व पर आक्षेप—

पूर्वप्रकरण में ज्ञेय को ज्ञानरूप बतलाया गया है । उसमें कई लोग आक्षेप करते हैं कि ज्ञान और ज्ञेय दोनों एक चीज नहीं हो सकती । ज्ञेय कभी ज्ञानस्वरूप बन ही नहीं सकता । उन आक्षेप-कर्त्ताओं का कहना है कि यदि अर्थगण ज्ञान से स्वतन्त्र न दिखलाई पड़ते तो अवश्य ही आप ज्ञेय को ज्ञानस्वरूप बतला सकते थे । परन्तु हम घटपटादि को ज्ञान से सर्वथा पृथक् देखते हैं । जिस समय हम घट का (आन्तर घट का) प्रत्यक्ष करते हैं तो वह हमें हमारे ज्ञान से विजातीय दिखलाई पड़ रहा है । यदि हमारे ज्ञान से ही हमारे अन्तर्जगत् का निर्म्माण होता तो दस हजार वर्ष पहले जिस स्थान में गंगा थी उसी स्थान पर आज हमें गंगा का प्रत्यय न होता । हमें हमारा ज्ञानप्रमाण इस बात को मानने के लिए बाध्य करता है कि हम उसी गंगा को देख रहे हैं-जो कि आज से दस हजार वर्ष पहले के मनुष्यों के अन्तर्जगत् में थी । कल्पना कीजिए-एक हाथी सामने खड़ा हुआ है-जो कि हमारे से सर्वथा अपरोक्ष है । उसे दस हजार आदमी एककालावच्छेदेन देखते हैं । उसी एक सत्तासिद्ध हाथी के आधार पर सबके अन्तर्जगत् (हाथी) का निर्म्माण होता है एवं सब हाथी का स्वरूप एकसा बतलाते हैं । दसों के दसों हजार मनुष्य एक ही तरह के हाथी का वर्णन करते हैं । इस पर हमें यह कहना है कि प्रत्येक मनुष्य का ज्ञान है-भिन्न भिन्न । यदि ज्ञान ही से हाथी बनता तो प्रत्येक का अन्तर्जगत् (हाथी) भी भिन्न-भिन्न स्वरूप का ही बनता । "ज्ञान से ही जगत् बनता है-ज्ञेय और ज्ञान दोनों एक वस्तु हैं"-यदि यह बात होती तो ज्ञानवैचित्र्यात् प्रत्येक का अन्तर्जगत् भिन्न-भिन्न स्वरूप वाला बनता । परन्तु हम देखते हैं कि दसों हजार आदमी एक ही स्वरूप के हाथी का वर्णन करते हैं । सब मनुष्य 'अपनने ऐसा हाथी देखा है-देखो ! उसकी पूँछ कितनी सी थी, देखो ! उसके दाँत कैसे स्वच्छ थे, देखो ! उसका मस्तक कितना बडा था"-इस प्रकार से हाथी का स्वरूप एक ही प्रकार के बतलाते हैं । सारों के अन्तर्जगत् का स्वरूप एकसा है । इससे मानना पड़ता है कि ज्ञेय ज्ञान से पृथक् वस्तु है । हमारे ज्ञान से उस ज्ञेयजगत् का कोई सम्बन्ध नहीं है । वह उसके पराधीन नहीं-अपि तु, स्वतन्त्र है । सारे अर्थ ज्ञान से स्वतन्त्र हैं । ज्ञेय से ज्ञान का स्वरूप बनता है । ज्ञेयाधीन ज्ञान है । जब ज्ञान में ज्ञेयघट आता है-तभी **'घटमहं जानामि'**-यह ज्ञान का स्वरूप बनता है । यदि घट ज्ञान में नही आता है तो ज्ञान का कोई स्वरूप ही नहीं रहता । भला जो ज्ञेय ज्ञान का भी स्वरूप कायम करता है-वह मिथ्या कैसे हो सकता है ? ज्ञेय तो सत्यस्वरूप है-ज्ञान से पृथक् सत्ता रखने वाला है । हाँ, यदि यह विषय ज्ञान से स्वतन्त्र न दिखलाई पड़ते, यदि प्रत्येक मनुष्य का अन्तर्जगत् भिन्न-भिन्न होता तो अवश्य ही ज्ञेय को ज्ञानस्वरूप बतला सकते थे । परन्तु चूँकि सारे अर्थ ज्ञान से पृथक् दिखलाई पड़ते हैं एवं सबका अन्तर्जगत् एक सरीखा है, गंगा के तट पर दस हजार वर्ष पहले जिस मनुष्य के अन्तर्जगत् में गंगा जल की लहर बह रही है-वही आज हमारे ज्ञान में बह रही है, अतः मानना पड़ता है कि लहर ज्ञान से पृथक् पदार्थ है । बस, इसीलिए हम ज्ञेय को ज्ञानस्वरूप नहीं मान सकते-इसी अभिप्राय से—

'अत्राहुरेके किल संभवेदिदं नेक्ष्येत यद्यर्थगणस्वतन्त्रता' । परन्तु स्वातन्त्र्यमीक्ष्यते-यह कहा गया है ।

इसलिए ज्ञान ज्ञेय बन जाए यह हर्गिज संभव नहीं हो सकता ।

अपि च-यदि द्रष्टा-आत्मा में दृश्यघटपटादि के संनिधान असंनिधान में कोई विशेषभाव उत्पन्न न होता तो आपकी बात मानी जा सकती थी । परन्तु हम देखते हैं कि जो ज्ञान घट के पहले बिलकुल शान्त एकाकार था-वही घटपटादि के आने से अनेकाकार हो जाता है । घट **के आने से पहले जो ज्ञान** की स्थिति रहती है-घट के आने से ज्ञान की वह स्थिति बिलकुल बदल जाती है । इस स्थितितारतम्य को अनुभव रसिक ही जान सकता है । यदि ज्ञान ही से बना हुआ ज्ञेय हाता तो यह विशेषता क्यों होती ? स्व में स्व से कोई विशेषता नहीं हुआ करती । ऐसी हालत में ज्ञान से निम्मित ज्ञेय के जिसे कि हम आपके हिसाब से ज्ञान कहेंगे संनिधान से ज्ञान में कोई भी विशेषभाव उत्पन्न नहीं होना चाहिए, परन्तु होता है । घट के असंनिधान में जो ज्ञान की स्थिति थी-संनिधान से उसमें एकदम परिवर्त्तन हो जाता है, अतएव मानना पड़ता है कि ज्ञेय सर्वथा विजातीय वस्तु है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी निर्दिष्ट करते हुए कहते हैं —

"अत्राहुरेके किल संभवेदिदं नेक्ष्येत यद्यर्थगणस्वतन्त्रता ।
यद्यात्मनि द्रष्टरि दृश्यसंनिधावसंनिधौ वा न विशेष उद्भवेत्" ।।२६।।

अपि च-ज्ञान से ज्ञेयकुल यदि पृथक् नहीं माना जाएगा तो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-ये तीनों अवस्थाएँ ही उत्पन्न नहीं होंगी । आत्मा की जाग्रदादि अवस्थाएँ ज्ञेय को ज्ञान से भिन्न नहीं मानने पर कथमपि उपपन्न नहीं हो सकती । अर्थ के आत्मा के साथ सम्बन्ध और असम्बन्ध से ही जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति-ये तीनों अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं । यदि ज्ञान और ज्ञेय दोनों वस्तुएँ एक मान ली जाएँगी तो तीन अवस्थाएँ कथमपि उपपन्न नहीं होंगी । जैसा कि आगे बतलाया जाता है-**'ज्ञानद्यदि ज्ञेयकुलं न भिद्यते-प्रजागरस्वप्नसुषुप्तयस्तदा । न संभवेयुः क्वचिदात्मनो दशाः (अवस्था) यतो हि अर्थान्वयतः, अनन्वयतश्च तासामुद्भवो जायते'** ।।

जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी निर्दिष्ट करते हुए कहते हैं—

"ज्ञानाद्यदि ज्ञेयकुलं न भिद्यते प्रजागरस्वप्नसुषुप्तयस्तदा ।
न संभवेयुः क्वचिदात्मनो दशा अर्थान्वयानन्वयतस्तदुद्भवा." ।।२७।।

हमारे आत्मा में प्रज्ञामात्रा, प्राणमात्रा, और भूतमात्रा-ये तीन मात्राएँ रहती हैं । जो प्रज्ञामात्रा है-उसे ही तो मन (अनिन्द्रियमन) कहते हैं एवं प्राणमात्रा को चक्षु, रसना, घ्राण, श्रोत्रेत्यादि इन्द्रियाँ कहते हैं एवं रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-इन अर्थों को भूतमात्रा कहते हैं । प्रत्येक आत्मा में-प्रज्ञा-प्राण-अर्थ

तीनों मात्राएँ रहती हैं। मन और प्राण (इन्द्रियां) तो प्रत्यक्ष ही हैं। बाकी रहे अर्थ। मन और प्राण की तरह रूपरसादि भी हमारे आत्मा में ही रहते हैं। रूपरसादि हमारे आत्मा के पदार्थ हैं न कि बाहर के। हमें जिस हरितादि रूप का प्रत्यक्ष होता है-सिद्धान्त समझो वह हमारे आत्मस्थित हरितादि का प्रत्यक्ष है। बाहर के रूप तो अभिव्यञ्जक मात्र हैं। बाहर के रूप से आघात होते ही हमारा आत्मरूप जग पड़ता है। इसी प्रकार खट्टे-मीठे इत्यादि जितने भी रसों का हम अनुभव करते हैं-वे सारे के सारे मेरी आत्मा की वस्तु हैं। मैं मेरे आत्मस्थित रसों का अनुभव करता हूँ-बाहर के रसों से मेरा कोई ताल्लुक नहीं है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जिस भूतमात्रा (**अर्थमात्रा**) की मेरे पास कमी रहती है-तद्विषयक अनुभव उस पदार्थ के खाने पर भी नहीं होता। यदि खटाई की मात्रा मेरे पास नहीं है तो मुझे खट्टे पदार्थ जरा भी खट्टे मालूम नहीं होंगे। इस विषय में अधिक कहना व्यर्थ है। अनुभवरसिक इस रहस्य को अच्छी तरह समझ सकता है। हमें कहना केवल इतना ही है कि आत्मा में प्राण-प्रज्ञा-और अर्थ तीनों मात्राएँ रहती हैं। तो इन्द्रियों के साथ अर्थात्-प्राणमात्रा के साथ एवं मन के साथ अर्थात्-प्रज्ञामात्रा के साथ एवं अर्थों के साथ (भूतमात्रा के साथ) यह आत्मा जब बहिर्जगत् के पदार्थों को अपने में भुक्त करता रहता है तो यह उसकी जाग्रत्-अवस्था कहलाती है। अर्थात्-तीनों को साथ लेकर आत्मरश्मियाँ जब बहिर्जगत् से सम्बन्ध करती रहती हैं तो आत्मा जाग्रत् कहलाता है। यह अवस्था जाग्रत्-अवस्था कहलाती है-**'सार्थो हृषीकैर्मनसा सहायवानात्माऽश्नुतेऽर्थांस्तु बहिर्जगद्गतान्। स जागरः'**॥

एवं जब आत्मा प्रज्ञा-प्राण-भूत इन तीनों में से प्राणमात्रा को छोड देता है-अनिन्द्रिय होकर मन के ऊपर स्थित उस वासनात्मक जगत् को यदि चमकाता है तो उसकी यह अवस्था स्वप्नावस्था कहलाती है। अर्थात्-आत्मा इन्द्रियों द्वारा बाहर न जा केवल आन्तर वासनात्मक जगत् को ही देखता है तो वह इसकी स्वप्नावस्था कहलाती है। इन्द्रियव्यापार के रुक जाने पर अन्तर्जगत् की प्रत्यक्ष होने वाली अवस्था को ही स्वप्नावस्था कहते हैं-**'स्वप्नदशा तु-अनिन्द्रियो मनःस्थमर्थं यदि भासयत्यम् तदा'**।

जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी निर्दिष्ट करते हुए कहते हैं—

"सार्थो हृषीकैर्मनसा सहायवानात्माऽश्नुतेऽर्थांस्तु बहिर्जगद्गतान्।
स जागरः, स्वप्नदशा त्वनिन्द्रियो मनःस्थमर्थं यदि भासयत्ययम्" ॥२८॥

एवं अनिन्द्रियता के साथ-साथ यदि अमना होकर बहिर्जगत् किंवा अन्तर्जगत् दोनों ही से अलग हो जाता है तो चूंकि उस समय कोई दूसरा रहता नहीं, अतएव आत्मा की इस अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। अर्थात् जब आत्मा अन्तर्जगत् को वासनात्मक जगत् को-भी नहीं देखता है-मन से भी जब अलग हो जाता है तो उस समय अन्तर्जगत् के (वासनात्मक जगत् के) भी अभाव हो जाने के कारण यह आत्मा अपने आप में अपीत हो जाता है, अतएव इस अवस्था को **'स्वपिति'** (**स्वं हि अपीतो भवति**') कहा जाता है। इस प्रकार से ईश्वरजगत् के सम्बन्ध से जीव की जाग्रत्-अवस्था होती है।

जीवजगत् के (अन्तर्जगत् के) सम्बन्ध से जीव की स्वप्नावस्था होती है एवं दोनों ही के असम्बन्ध से सुषुप्त्यवस्था होती है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि विषयसम्बन्धेन ही आत्मा में जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अनिन्द्रियो यद्यमना बहिर्जगच्चान्तर्जगच्च प्रतिचेष्टते न चेत्।
नास्ति द्वितीयं न ततोऽर्थभासनं सुषुप्तिरद्वैतदशा तदात्मनः" ॥२६॥

आपके हिसाब से यदि विषय अहं ज्ञान से ही उत्पन्न होने वाले हैं, मेरे ज्ञान से ही ज्ञेयजगत् बनता है–तो इस ज्ञेयस्वरूप आत्मा की प्रतिष्ठा आत्मा से पृथक् न होती। अर्थात् स्व की स्व ही प्रतिष्ठा होती। अर्थात् ज्ञान का बना हुआ ज्ञेय ज्ञान से अलग न रहता। ऐसी हालत में अद्वैत हो जाता। बस, अद्वैतता से अर्थानवभासनात्मिका केवल सुषुप्ति मात्र ही होती। तात्पर्य्य यही है कि यदि ज्ञेय ज्ञानस्वरूप ही होता तो फिर द्वैत नहीं होता। ऐसी हालत में विषयसम्बन्ध से होने वाली जो जाग्रत् और स्वप्नावस्था है–वे कभी न होतीं, क्योंकि दोनों अवस्थाएँ विषयसम्बन्ध से ही तो होती हैं। जबकि विषय कोई आत्मा से अन्य है ही नहीं तो फिर सम्बन्ध किसका? और यदि सम्बन्ध नहीं तो जाग्रत्स्वप्नावस्था कैसी? ज्ञानज्ञेयाभेदवाद में तो अर्थाभावमूलिका केवल सुषुप्ति ही हो सकती है। परन्तु होती हैं तीनों। यह बात द्वैत ही में हो सकती है, अतः ज्ञेय को ज्ञानस्वरूप हर्गिज हर्गिज नहीं माना जा सकता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अर्था अहंज्ञानसमुद्भवा यदि त्वात्मप्रतिष्ठा न पृथक् स्युरात्मनः।
अद्वैततोऽर्थानवभासनात्मिका सुषुप्तिरेषा न[1] तदोपपद्यते" ॥३०॥

॥ इति ज्ञेयस्य ज्ञानस्वरूपत्वे आक्षेपः ॥

———

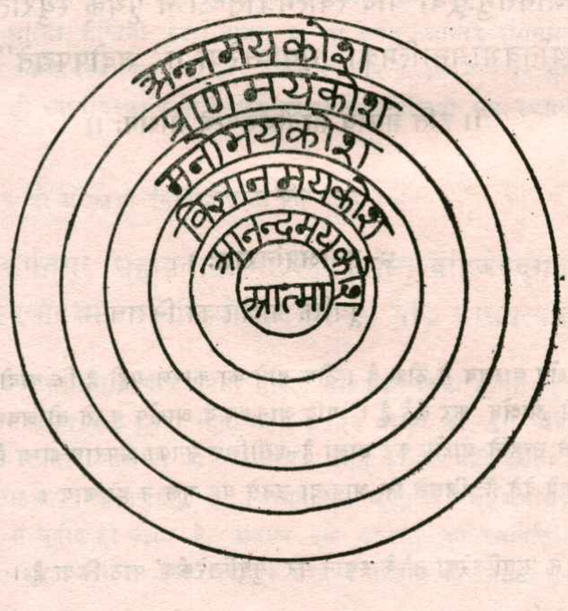
८–तदाक्षेपनिरासः।

पूर्वोक्त आक्षेप का निरास—

वादी का आक्षेप वास्तव में ठीक है। ठीक होने का कारण यही है कि वादी महाशय वैज्ञानिक तत्त्व से अपरिचित हो–आक्षेप कर बैठे हैं। यदि जानकर वे आक्षेप करते तो अवश्य ही आक्षेप अशुद्ध होता। परन्तु अनजाने उन्होंने आक्षेप कर डाला है–इसीलिए उनका अपराध क्षम्य है। आज हम उनके इस अज्ञान को दूर किये देते हैं, जिससे कि आयन्दा उनसे यह भूल न हो जाय।

१–स्व० शास्त्री जी ने 'सुषुप्तिरेषा न' के स्थान पर 'सुषुप्तिरेकैव' पाठ किया है। [सं०]

इस आत्मा के अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द–ये पाँच कोश माने जाते हैं। ये पाँच अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश एवं आनन्दमयकोश–इन नामों से व्यवहृत होते हैं। ये पाँचों ही दो-दो प्रकार के हैं। आनन्द समृद्ध और शान्त भेदेन दो प्रकार का है एवं विज्ञान भी सविशेष एवं निर्विशेष भेद से दो प्रकार का है। इसका विस्तृत विवेचन श्री गुरुप्रणीत 'ब्रह्मसमन्वय' ग्रन्थ में देखना चाहिए। यहाँ पर आनन्दमय से समृद्धानन्द का ग्रहण समझना चाहिए। आत्मा शान्तानन्दस्वरूप है। वह उस समृद्धानन्दकोश (म्यान) के भीतर रहता है। स्वयं शान्तानन्दस्वरूप है एवं उसका कोश समृद्धानन्दस्वरूप है। इसी समृद्धानन्दकोश के अभिप्राय से भगवान् व्यास ने–**'आनन्दमयोऽभ्यासात्'** कहा है। शङ्कराचार्य ने शान्त और समृद्ध की परवाह न कर जो आनन्दमय का आनन्दस्वरूप अर्थ कर एक प्रकार से–**'आनन्दमयोऽभ्यासात्'**–इस सूत्र का खण्डन किया है। वह उनका एक प्रकार से प्रौढिवादमात्र है। वास्तव में कोश आनन्दमय है–न कि आत्मा। समृद्धानन्द के लिहाज से **'आनन्दमयोऽभ्यासात्'** कहा गया है। अस्तु, इस विषय में अधिक कहना प्रकृत से दूर जाना है, अतः इसे यहीं छोड प्रकृत का अनुसरण करते हैं–कहना प्रकृत में हमें यही है कि यह आत्मा पाँचों कोशों के भीतर रहता है। आत्मा के ऊपर रहने वाले पहले स्तर का नाम आनन्दमयकोश है। आनन्दमय के ऊपर के स्तर का नाम विज्ञानमयकोश है। इसके ऊपर के स्तर का नाम मनोमयकोश है, मनोमय के ऊपर के स्तर का नाम प्राणमयकोश है एवं प्राणमयकोश के भी ऊपर के स्तर का नाम अन्नमयकोश है। बस, इन पाँचों के अभ्यन्तर में, आनन्दमय के पेट में आत्मा रहता है। जैसा कि चित्र से स्पष्ट है—



प्रकृत में सिर्फ मनोमयकोश से प्रयोजन है। इसलिए और किसी का जिक्र न करके आत्मा को मानसकोशवान् ही बतलाया जाएगा। यह आत्मा मानसकोशवान् है। ईश्वर भी आत्मा है एवं जीव भी आत्मा है। तो बस, जीवात्मा भी मानसकोशवान् है। परमात्मा (ईश्वर) भी मानसकोशवान् है। आत्मसाधर्म्यात्-जीव कि वा ईश्वर में मानसकोशवत्ता समानरूप से है। जीववत् परमेश्वर भी चूंकि आत्मा है, अतः वह भी मानसकोशवान् ही है। इस प्रकार मानसकोशत्व तो जीव कि वा परमेश्वर में समान है। फ़रक केवल नाम में है एवं आयतन में है। ईश्वर का जो मानसकोश है-वह जीव की अपेक्षा बहुत बडा है एवं उसका नाम **'इन्द्र'** है एवं जीव के मानसकोश का नाम 'मन' ही है। यह दोनों ही मन आकाश नाम से व्यवहृत होते हैं। जो ईश्वर का मानसकोश है-वह परमाकाश कहलाता है एवं इसी को इन्द्र कहते हैं। आँख खोलने पर जो एक अनन्ताकाश दिखलाई पड़ रहा है-वही ईश्वर का परमाकाश है-इस आकाश में इन्द्र भरा हुआ है। हम जो कुछ देखते हैं-उस सबमें इन्द्र भरा हुआ है। इसीलिए-**'नेन्द्राद् ऋते पवते धाम किञ्चन'**-कहा जाता है, इसी इन्द्र को आधुनिक वैज्ञानिक **'ईथर'** शब्द से व्यवहृत करते हैं। बस, यह व्यापक इन्द्र ही ईश्वर का मन है-जिसे कि हम परमाकाश कहते हैं एवं इसे ही बहिराकाश कहते हैं एवं जीव का जो दहराकाश है-(अन्तराकाश है) उसे ही **'मन'** कहते हैं। बस, इसी आकाश में इसी-इन्द्र और मन में आत्मरश्मियों द्वारा विषय का उद्भव होता है। जीव के मनोमय आकाश के सोलर सिस्टम में आत्मरश्मियों से जीव के अन्तर्जगत् का उद्भव होता है एवं परमाकाशस्वरूप इन्द्रापरपर्य्यायक बहिराकाश में ईश्वर के बहिर्जगत् का उदय होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अत्रोच्यते मानसकोशवानयं ह्यात्मा स जीवः परमेश्वरोऽपि वा।
इन्द्रो मनो व्योम बहिस्तथान्तरं तत्रार्थरूपोदय आत्मरश्मिभिः" ॥३१॥

जिस प्रकार से बाहर की ओर बहिर्जगत् का आश्रयभूत परमाकाश बहिर्जगत् की भूमिका है, तद्वत् अन्दर की ओर अन्तर्जगत् का आश्रयभूत दहराकाश जिसका कि नाम मन है-भूमिका है। अर्थात् दहराकाश नामक जैवमन का जो सोलर सिस्टम है-वह अन्तर्जगत् की भूमिका है। मन की जहाँ तक व्याप्ति है-वहीं तक अन्तर्जगत् की व्याप्ति है। उसी मनोमय पटल पर सारे विषय आविर्भूत एवं तिरोहित होते हैं। तो जिस प्रकार से जैवमन अन्तर्जगत् की भूमिका है-तद्वत् परमाकाशापरपर्य्यायक इन्द्र नाम के परमेश्वर के मन का जो सोलर सिस्टम है-वह उसके बहिर्जगत् की भूमिका है। जहाँ तक परमाकाश की व्याप्ति है-वहीं तक बहिर्जगत् की व्याप्ति है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यथा बहिर्धा जगदाश्रयायाकाशो बहिर्धा किल भूमिकास्ति।
अन्तस्तथान्तर्जगदाश्रयायाकाशो मनो नाम च भूमिकास्ति" ॥३२॥

अखिल विश्व में सत्य और ऋत दो ही तत्त्व हैं। बस, इन दो से अलग कुछ भी नहीं है। इन्हीं से सारी सृष्टि का निर्म्माण होता है। जो सीधी लाइन पर जाता है-अपनी लाइन को कभी नहीं

छोडता है-वही सत्य-तत्त्व है। जैसे दीपक की रश्मि। दीपक की रश्मियाँ बिल्कुल सीधी नपी हुई एक लाइन में जा रही हैं। वे तब तक सीधी जाती ही रहेंगी-तब तक कि उनका कोई आघात करने वाला न हो। यदि सामने कोई आवरण आ जाएगा-चाहे वह आवरण तिल का ही क्यों न हो-फोरन वह रश्मि लाइन से प्रतिफलित हो-उसी लाइन से वापस लौट जाएगी। आग्नेय पदार्थ जितने भी हैं-जो कि पिण्ड बनाकर रहते हैं-जिनमें से कि चारों ओर रश्मियाँ निकलती हैं-उन्हें हम सत्य' कहेंगे। चूंकि ये आग्नेय रश्मियाँ अपनी लाइन को नहीं छोडती एवं देवता सारे हैं-आग्नेय, अतएव **'सत्यसंहिता वै देवाः'**-कहा जाता है। तात्पर्य्य यही है कि जो अपनी लाइन को न छोडे एवं आघात से प्रतिफलित हो वापस उसी लाइन से लौट जाए-वही **'सत्य'** पदार्थ है-जिसे कि हम **'अग्नि'** कह सकते हैं।

दूसरा पदार्थ है-ऋत। ऋत फैलने वाले तत्त्व का नाम है। वह आवरण आने से उतनी दूर में अवश्य ही रुक जाता है, परन्तु इसके इधर-उधर होकर आगे निकल जाता है। इसका कोई केन्द्र नहीं होता। जहाँ यह रहता है-अपनी अवस्था बिखरी हुई रखता है। एक लाइन पर नहीं चलता। पानी-वायु और सोम-इन्हीं तीन पदार्थों को ऋत कहते हैं। पानी बहता हुआ आ रहा है-उसे रोकने के लिए यदि आप किसी का आवरण लगा देंगे तो उतनी दूर से न आकर उस आवरण के इधर-उधर होकर के यह निकल जाएगा। रश्मि की तरह प्रत्याहत हो यह वापस नहीं लौटेगा। बस, इसीलिए हम इसे ऋत कहने के लिए तय्यार हैं। यही हाल वायु और सोम के हैं। सोम का कोई नियत स्थान नहीं-वह तो उर्वन्तरिक्ष में व्याप्त है। तो बस, जो केन्द्ररहित फैलने वाला तत्त्व है-उसे ही **'ऋत'** कहते हैं। बतलाना प्रकृत में हमें यही है कि सूर्य्य की जो किरणें हैं-वे सत्यस्वरूपा हैं। वे अपनी सीधी लाइन बनाकर दूर तक चली जा रही हैं। अब हमारा यह प्रश्न है कि सूर्य्य की रश्मियाँ अपना सीधा रुख बना करके जा रही हैं। ऐसी हालत में हमारे पास जो यह प्रकाश (छायामय गायत्रीप्रकाश) कहाँ से कैसे आया? सूर्य्य की रश्मियाँ तो सीधी जा रही हैं-फिर यह प्रकाश हमारे पास क्योंकर आया? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है-**'वायुस्तर'**। इस पृथिवी के ४८ कोस तक चारों ओर एक वायु भरा हुआ है। उसी वायुस्तर ने उस पृथिवी को पकड़ रखा है, अतएव पौराणिक इस वायु को-**'एमूषवराह'** कहते हैं। इसी वायु के दबाव के कारण इस अग्निमय विशकलन धर्म्मयुक्ता पृथिवीपिण्ड की रक्षा हो रही है। इस वायु में अत्रिप्राण भरा हुआ है। अत्रिप्राण सूर्य्य का विरोधीप्राण है, अतएव सीधी लाइन से आने वाली सूर्य्य की रश्मियाँ इस वायुस्तर से धक्का खाकर प्रतिफलित हो जाती हैं। बस, इस प्रति-फलन से वायुस्तर के बिन्दु-बिन्दु पर सूर्य्य बन जाते हैं। अनन्त सूर्य्य बन जाते हैं। बस, उन्हीं का यह छायामय प्रकाश है। वास्तव में छायामय प्रकाश किरणों से विभिन्न वस्तु नहीं है। वही किरणें प्रति-फलित हो गायत्रीस्वरूप में परिणत हो जाती हैं। इसी विज्ञान को सहल तरीके से समझाने के लिए दयालु पौराणिक ब्रह्मा के साथ गायत्री के विवाह की कथा बना गए हैं। ब्रह्मा जी ने यज्ञ करना चाहा, उनके सावित्री और गायत्री दो स्त्रियाँ थीं। सावित्री आई नहीं, विना स्त्री के यज्ञ होता नहीं, अतएव उन्होंने एक ग्वाले की छोकरी को गाय के पेट में से निकाल उसका नाम गायत्री रखा, उसके साथ यज्ञ किया। यह ब्रह्मा-यही भगवान् भूगर्भ आग्नेय प्रजापति हैं। गाय यही पृथिवी है-गायत्री-इसी प्रति-फलित प्रकाश का नाम है। सावित्री सत्य है-वह मुड़े कैसे? आवे कैसे? अतः उनका यज्ञ गायत्री

द्वारा ही पूरा होता है । अस्तु प्रकृत में कहना हमें यही है कि सूर्य्य का रश्मि-समूह वायु में पराहत होकर जैसे इधर-उधर गायत्री-प्रकाश को उत्पन्न कर देता है-तद्वत् मन में पराहत होकर ये आत्म-रश्मियाँ स्वत: अपने आप ही अर्थस्वरूप में परिणत हो जाती हैं । हमारा आत्मा सूर्य्य से बना है, अतएव वह भी सूर्य्य है-इसीलिए तो **'अहं सूर्य इवाजनि'** कहा जाता है एवं हमारा मन चन्द्रमा (चान्द्र-सोम) से बना है-इसीलिए **'मनश्चन्द्रेण लीयते'**-कहा जाता है । चन्द्रमा अत्रिप्राणप्राधान्यात् अत्रिपुत्र कहलाते हैं । अर्थात् चन्द्रमा अत्रिप्राणमय है एवं इसी से बनता है-हमारा मन, अत: मन भी अत्रिप्राण-मय ही है । यह है-सूर्य्य का विरोधी प्राण, अत: आत्मरश्मियाँ जब मन पर आती हैं तो पराहत हो जाती हैं । बस, पराहत आत्मरश्मियाँ ही अर्थस्वरूप में परिणत हो जाती हैं । वही सूर्य्यरश्मियाँ, जैसे केवल 'रिफलेक्शन' मात्र से गायत्रीस्वरूप में परिणत हो जाती हैं-गायत्री सूर्य्य की रश्मियों से कोई विजातीय पदार्थ नहीं है-उसी प्रकार से वे ही आत्मरश्मियाँ मन से प्रत्यावर्तित हो-स्वतएव अर्थ बन जाती है । अर्थ उन आत्मरश्मियों से कोई विजातीय पदार्थ नहीं है । मन आत्मा से अलग है-इसमें भ्रम नहीं करना चाहिए । क्योंकि मन को (प्रमाणों को)[1] तो हमने पहले ही ईश्वरतन्त्राधीन बतलाया है । यहाँ विचार केवल ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेयमात्र का है । अस्तु, कहने का तात्पर्य्य यही है-मन से प्रत्यावर्तित आत्मरश्मियाँ ही गायत्रीप्रकाशवत् अर्थ बन जाती हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

> "यथा रवे रश्मिकुलं पराहतं वायौ प्रकाशं जनयेदितस्ततः ।
> तथा मनस्येव पराहतैरमी अर्था भवन्त्यात्मगभस्तिभिः स्वतः" ।।३३।।

यह मन बहिः और आन्तर भेदेन अपनी दो संस्था कायम करता है । जो इसका बाहर का मण्डल है-उसमें गई हुई जो आत्मरश्मियाँ हैं-वे बाहर ही नए-नए पदार्थों को जाग्रत्-अवस्था के लिए उत्पन्न करती हैं । बाहर के मन में जब आत्मरश्मियों का प्रत्याघात होता है तो उससे बहिर्जगत् का निर्म्माण होता है जो कि हमारा अन्तर्जगत् ही है एवं आन्तर शरीरावच्छिन्न मन में स्थित आत्मरश्मियाँ स्वाप्न-सृष्टि का निर्म्माण करती हैं । बस, इस प्रकार से मनद्वैविध्यात् जाग्रत् और स्वप्नावस्था होती रहती हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

> "बहिर्मनस्यात्मगभस्तयो गताः प्रजागरार्थं जनयन्ति बाह्यतः ।
> अन्तर्मनस्यात्मगभस्तयः स्थिताः स्वाप्नान्तिकार्थानुपपादयन्ति तान्" ।।३४।।

परन्तु जब मन एवं मन की अर्थकारित्वता शक्ति किसी हृत्तम से अभिभूत हो जाती है तो धूम से आवृत आकाश में दीपप्रभावत् आत्मा की ज्योति एकदम ढक जाती है । जैसे घोर अन्धकार के हो जाने पर दीपप्रभा उसमें छुप जाती है-उस समय स्वस्वरूप से प्रकाशित रहने पर भी दीपप्रभा बाहर नहीं फैल सकती-तद्वत् हृत्तम से मन जब ढक जाता है तो आत्मरश्मियों को बाहर निकलने का मौका नहीं मिलता । बस, यही इस आत्मा की सुषुप्ति-अवस्था है । जाग्रत् में इन्द्रियद्वार होकर रश्मियाँ बाहर जाती थीं एवं स्वप्नावस्था में आन्तर मन पर ही जाकर प्रतिफलित हो स्वाप्न-जगत् का निर्म्माण करती

१-द्रष्टव्य-द्वितीयसूत्र-**'प्रमाणस्येश्वरतन्त्रत्वम्'** पृष्ठ संख्या ५३८ ।

थीं–परन्तु जब मन भी ढक गया तो जाय किस पर ? बस, इसीलिए इस अवस्था में अर्थसृष्टि का अभाव रहता है, अतएव इस अवस्था को 'सुषुप्ति' अवस्था कहते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यदा मन: केन च भूयसा मनोऽर्थकारिता हृत्तमसाभिभूयते ।
धूमावृतव्योमनि दीपकप्रभावदात्मनो ज्योतिरिहापवृज्यते" ।।३५।।

यह आत्मा मन से योग न पाकर अर्थों को उत्पन्न नहीं करता है, अर्थात् अर्थानुत्पत्ति में मन का योगाभाव ही कारण है, अतएव यह आत्मा वक्तृत्वादि सारी शक्तियाँ रखता हुआ भी इस समय न बोलता है, न देखता है, न मनन करता है । उस समय यह अपने स्वरूप में अपीत रहता है । मन का संकोच विकास होना, हृत्तम से अभिभूत होना ये सारे काम पञ्चज्योति के तारतम्य पर निर्भर हैं–जिनका कि विस्तृत विवेचन अप्रकृततया नहीं किया जा सकता । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अप्राप्य योगं मनसायमात्मा नार्थान् स उत्पादयते ततोऽयम् ।
वक्ताऽपि नो वक्ति न लोकते वा द्रष्टापि मन्तापि न मन्यते वा" ।।३६।।

कई दार्शनिक पूर्वपक्ष करते हैं कि आत्मा तो विभु है, 'सर्वज्ञ' है । उसकी गति को कौन रोक सकता है ? ऐसी हालत में मन के साथ उसका योग न हो–यह बात कभी नहीं हो सकती है । व्यापक वस्तु का किसी भी बिन्दु पर अभाव नहीं है । उसकी सर्वत्र सत्ता है । ऐसी हालत में उससे मन कभी अलग हो ही नहीं सकता । इस प्रश्न के उत्तर में हमें अधिक कुछ नहीं कहना । कहना केवल इतना ही है कि यह जीव चित् का आभास है–प्रतिबिम्ब है । सूर्य्य का प्रतिबिम्ब जल पर पड़ता है । परन्तु यदि बीच में कोई आवरण डाल दिया जाता है तो प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है । बस, इसी प्रकार से किसी तम-विशेष से जीवात्मसंस्था का आवरण मात्र हो जाता है । इससे व्यापकता में कोई बाधा नहीं । प्रज्ञान एक पानी है । उस पर जब किसी का आवरण आ जाता है तो उस पर चित् का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, अतएव उसमें प्रकाश नहीं होता । बस, यही मन और आत्मा का वियोग है एवं यही आत्मा की सुषुप्ति है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यत्त्वाहुरात्मा विभुरस्ति सर्वगो न तस्य योगो मनसा विहन्यते ।
अत्रोच्यतेऽर्कप्रतिबिम्बवद्भवेज्जीवात्मसंस्थावरणं च केनचित्" ।।३७।।

यह आकाशस्वरूप मन भी इस आत्मा से ही निकलकर इसी का आश्रय ले इसी के आधार पर ठहरा रहता है एव इसी के केन्द्र से बद्ध होकर अपना मण्डल बनाता है । आत्मा से अलग कोई मन नहीं है । मन विजातीय पदार्थ नहीं है एवं इस मन ही पर चूंकि सारे अर्थ-वर्ग प्रतिभासित होते हैं एवं

मन भी आत्मा है, अतः इस पर प्रतिभासित होने वाले पदार्थ आत्मा के ही हो सकते हैं। अर्थात्-वे ही आत्मरश्मियाँ प्रतिफलित हो अर्थ बनी हुई हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी कहा है—

"मनोऽपि चाकाशमिदं तदात्मनः प्रोद्भूय चालम्ब्य तमेव तिष्ठति ।
न चात्मनोऽन्यत्र मनोऽस्ति भासते तत्रार्थवर्गः पुनरात्मनो भवन्" ॥३८॥

इस मन के सोलर सिस्टम के बीचों बीच केन्द्र में बैठने वाला तो मैं 'जीव' हूँ। यह अहं चिद्घन है-अर्थात् ज्ञान का कन्दल है एव मण्डल में जाकर प्रतिफलित होने वाली आत्मरश्मियाँ ही विषय हैं। इस प्रकार से-ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय यह त्रिवृत्‌रूप वह एक ही 'अहं' पदार्थ है। तीनों कहने को तीन हैं-वास्तव में तीनों एक हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अहं मनोमण्डलमध्यवर्त्ती स चिद्घनो मण्डलगाश्चितोऽर्थाः ।
एवं त्रिवृद्रूपमहंपदार्थं मन्ये ध्रुवं तत् त्रयमेकवस्तु" ॥३९॥

॥ इति ज्ञेयस्य ज्ञानरूपत्वे आक्षेपनिरासः ॥

——❀——

९-अथ ईश्वरबहिर्जगतोरैक्यम् ।

ईश्वर एवं बहिर्जगत् का ऐक्य—

हमने जीव-ईश्वर-अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् सारे प्रपञ्च को चार भागों में विभक्त बतलाया था। इनमें से जीव और जीव के अन्तर्जगत् की भेदप्रतिपत्ति का निराकरण हो चुका। जीव अर्थात्-ज्ञाता एवं रश्मिरूप से चौतरफ फैलने वाला उसका ज्ञान एवं मनोमय आकाश से प्रतिफलित होकर अर्थ नाम धारण करती हुई आत्मरश्मियाँ-जिन्हें कि ज्ञेय शब्द से व्यवहृत करते हैं, तीनों कहने को तीन हैं-वास्तव में तीनों एक हैं। बस, यही पूर्वप्रकरण का विषय था। जीव की जो ज्ञाता-ज्ञान एवं ज्ञेय-स्वरूपा त्रिपुटी थी, उसके भेदवाद का निराकरण कर दिया गया। बाकी बचा ईश्वर और उसका बहिर्जगत्। बस, इस प्रकरण में इसी का ऐक्यस्थापन किया जाएगा।

विश्व में जो तेजस्वी प्रकाशी पदार्थ का सीगा है-वह अपने तीन पार्ट रखता है। अग्नि प्रकाशी पदार्थ है, अतएव श्रुति कहती है-'त्रिवृद् वा एष यदग्निरर्चिरङ्गारा धूमाः'। एवमेव आँख भी चूँकि प्रकाशी पदार्थ है, अतएव इसमें भी तीन ही पुड़त हैं। पहला पुड़त सफेद है-उसके बीच में कालामण्डल है एवं उसके भी बीच में कृष्णकनीनिका है। दीपक भी प्रकाशी पदार्थ है, अतएव उसमें भी-लौ, प्रकाशमण्डल और प्रकाश्य तीन पार्ट हैं। सूर्य्य भी प्रकाशी पदार्थ है, अतएव उसमें भी सूर्य्यपिण्ड, प्रकाशमण्डल, प्रकाश्यपदार्थ-ये तीन पदार्थ हैं। कहने का तात्पर्य्य यही है कि ज्योतिष्मान् पदार्थ सारे

के सारे त्रिवृत् हैं। इस त्रिवृतता में पहले के दो पार्टों के एकत्व में तो कोई सन्देह ही नहीं, लौ और प्रकाश, सूर्य्य और प्रकाश तो दोनों एक ही वस्तु हैं। सूर्य्य में से निकलने वाली किरणों ही का नाम तो प्रकाश है, अतः कन्दल और रश्मियाँ तो विवादाग्रस्त हैं। बाकी रहता है-प्रकाश्य का हिस्सा। उस प्रकाश के पेट में भासित होने वाले पदार्थ उस प्रकाश से विजातीय हैं-अथवा सजातीय एकमात्र यह प्रश्न बाकी बच जाता है। चाहे जो कुछ हो, चाहे प्रकाश्य विजातीय हो, अथवा सजातीय-इस विवाद को हम नहीं उठाना चाहते। हमें तो सिर्फ यही बतलाना है कि जितने भी ज्योतिष्मान् पदार्थ हैं-उन सबमें तीन पार्ट रहते हैं। विना त्रिवृतता के ज्योतिष्मान् पदार्थ अपनी स्थिति एक सैकण्ड भी नहीं रख सकता। जब भी कभी आप ज्योतिष्मान् पदार्थ को देखेंगे-उसे आप त्रिवृद्भाव में ही परिणत देखेंगे। इस त्रिवृतता में हमारा एवं ईश्वर का ज्ञान आ पड़ता है। ज्ञान भी ज्योतिष्मान् पदार्थ है। ज्योतिष्मानों को भी प्रकाशित करने वाला है। भौतिक ज्योति तो प्रकाश में रखी हुई वस्तु का ही प्रत्यक्ष करवाती है। अन्धकार का तो भौतिक ज्योति के पास टिकाव ही नहीं होता, परन्तु ज्ञानज्योति भूतज्योति से भी बढकर के है। यह जैसे सूर्य्यप्रकाश को दिखलाती है अन्धकार का भी प्रत्यय उसी प्रकार करवाती है। इसीलिए श्रुति कहती है—

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" ॥[1]

कहने का तात्पर्य्य यही है कि ज्ञान भी एक ज्योतिष्मान् पदार्थ है, अतएव यह भी त्रिवृतता की कोटि में आ जाता है। यह ज्ञान समष्टि-व्यष्टि भेद से ईश्वर और जीव-इन दो स्वरूपों में परिणत हो जाता है। जो जीव ज्ञान है-वह भी त्रिवृतता को लिए हुए है एवं जो ईश्वरज्ञान है-वह भी विवृतता को लिए हुए है। हमारी हृद्बिन्दु पर स्थित जो एक ज्ञान का पुञ्ज है-वह तो ज्ञाता कहलाता है एवं जिन ज्ञान की रश्मियों के सोलर सिस्टम में जगत् के यच्चयावत् पदार्थ भासित हो रहे हैं-वे ज्ञानघन ज्ञाता की रश्मियाँ ही **'ज्ञान'** कहलाती हैं एवं भासित होने वाला जो प्रतिफलित ज्ञानरश्मियों से निर्मित अन्तर्जगत् है-वह ज्ञेय कहलाता है। बस, इस प्रकार से हमारा ज्ञान ही अवस्थाभेदमात्र से-ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय-इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। वस्तुतः तीनों ही **'मैं'** हूँ। ज्ञानघन अहं ही तो ज्ञान और ज्ञेय बना हुआ है। भला ऐसी हालत में ज्ञान और ज्ञेय ज्ञाता से भिन्न क्योंकर हो सकते हैं? ज्ञान का स्वभाव ही ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय-इन तीन संस्थाओं में रहने का है, अतएव दयालु महर्षि इस त्रिवृतता के रहस्य को बतलाने के वास्ते जीवात्मा को **'अहम्'** शब्द से व्यवहृत करते हैं। अहम् ही इस त्रिवृतता को स्फुटरूपेण बतला देता है। कारणब्रह्म, सूक्ष्मब्रह्म एवं स्थूलब्रह्म अर्थात्-कार्य्यब्रह्म-ये तीन ही ब्रह्म के स्वरूप हैं। जो एक अनादि-अनन्त अव्ययतत्त्व है जो कि विज्ञानघन है जो कि ईश्वर कहलाता है, जो कि केन्द्र में रहकर अपनी सूक्ष्म और स्थूलसृष्टि पर शासन करता है-जिसके लिए कि—

---

१ मुण्डकोप० २।२।१०।

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया" ।।[1]

–यह कहा जाता है। जिसे कि वैय्याकरण **'स्फोट'** कहते हैं–जो कि अनुच्चार्य्य है–स्वानुभवैकगम्य है–वही कारणब्रह्म है। इसी अव्ययनामक कारण ब्रह्मालम्बन पर सूक्ष्म (ज्ञान) और स्थूल (जगत्) सृष्टियाँ हुआ करती हैं। यदि इस कारणतत्त्व-को आलम्बनतत्त्व को पहचान लिया जाता है तो मनुष्य कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुम् समर्थ हो जाता है–इसीलिए भगवान् वेदपुरुष कहते हैं—

"एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते" ।।[2]

इसी कारण सूक्ष्मातिसूक्ष्म निराकार ब्रह्म को अर्द्धमात्रायुक्त बतलाया जाता है। **'अर्द्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्य्या विशेषतः'**–यह इसी कारणब्रह्म के वास्ते कहा जाता है। स्वर की एकमात्रा होती है एवं व्यञ्जन की आधीमात्रा, अतः **'ओम्'** के ऊपर जो अर्द्धचन्द्राकार है–वही आधीमात्रा है–इस प्रकार की जो आधीमात्रा की व्याख्या टीकाकारों ने की है–वह नितान्त मिथ्या है, अवैदिक है, अतएव त्याज्य है। वैज्ञानिक रहस्य के न जानने से ऐसी ही भयङ्कर भूलें हुआ करती हैं। उस आधी मात्रा के लिए तो साफ शब्दों में **'अनुच्चार्य्या, नित्या'**–कहा गया है। भला इसका व्यञ्जन से क्या सम्बन्ध ? उसे आधी कहने का तात्पर्य्य कुछ और है। एक रुपये में से आठ आने में तो वह स्वयं है एवं ८ आने से सूक्ष्म और स्थूल दो जगत् हैं। वे ४-४ (चार) आने में विभक्त हैं–यह स्वयं आधीमात्रा में रहता है–बस, इसी अभिप्राय से उसे अर्थमात्रायुक्त बतलाया जाता है–न कि व्यञ्जन के अभिप्राय से। यह अनुचार्य्या है–सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम है। उसका शब्द से निर्वचन ही किया जाता है। बस, इस अनुच्चार्य्या आधीमात्रा से चारों ओर निकलने वाला जो एक ज्ञानमण्डल है–उसे ही–**'सूक्ष्मब्रह्म'** कहते हैं। वही ज्ञानघना आधीमात्रा उस ज्ञान सूक्ष्मजगत् की जननी है एवं वही स्थूल जगत् की जननी है। इस प्रकार से सूक्ष्म और स्थूल दोनों जगत् उसी से बनकर उसी पर प्रतिष्ठित हो रहे हैं। स्वर निर्विकृतस्वरूप है, सूक्ष्म है–अपनी प्रतिष्ठा से प्रतिष्ठित है। वह अपनी स्थिति के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता, परन्तु व्यञ्जन को स्वर की अपेक्षा है। व्यञ्जन की प्रतिष्ठा व्यञ्जन का उच्चारण बिना स्वर के नहीं हो सकता–बस, इसी भाव को इसी परब्रह्मस्वरूप को समझाने के वास्ते जगत् के संकेत के वास्ते–**'ह्'** यह कहा गया है। जगत् स्थूल है–वह व्यञ्जन स्वयं अपनी सत्ता नहीं रखता–ज्ञान ही उसकी प्रतिष्ठा है, अतएव उसे 'ह्' इस व्यञ्जन से व्यवहृत किया जाता है। ज्ञान स्वरस्थानीय है, अतएव उसे **'अ'** अक्षर से कहा जाता है। **'अ'** स्वयं प्रतिष्ठित है। वही 'अ' स्पर्श और ऊष्मा के तारतम्येन–२८० वर्णों में परिणत हो जाता है। वही अर्द्धमात्रास्वरूप ब्रह्म ही तो सूक्ष्म (अ) और स्थूल (ह्) स्वरूप में परिणत हो जाता है। बस, इसी शब्दब्रह्म और अर्थब्रह्म के रहस्य को बतलाती हुई श्रुति कहती है—

१–गीता १८।६१।   २–कठोप० १।२।१६-१७।

"अकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति"।[1]

जो तरीका शब्दब्रह्म का है-वही अर्थब्रह्म का है। शब्दसृष्टि 'अ' से होती है, अर्थसृष्टि अस्थानीय कारणब्रह्म से होती है। शब्दसृष्टि में-अ-इ-उ-ऋ-लृ-ये पाँच अक्षर हैं तो अर्थसृष्टि में-ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम-ये पाँच अक्षर हैं। उधर अ-इ-उ-यह एक जाति की चीज हैं तो इधर ब्रह्मा-विष्णु इन्द्र एक जाति की वस्तु हैं। उधर ऋ-लृ बाहर की वस्तु हैं तो इधर अग्नि और सोम दोनों एक स्वतन्त्र क्लास की वस्तु हैं। अ-इ-उ-ऋ-लृ इन्हीं पाँच अक्षरों से शब्दसृष्टि चलती है। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम-इन पाँच ही अक्षरों से अर्थसृष्टि चलती है। दोनों का एक कायदा है। वाक् और अर्थ दोनों की कड़ी मिली हुई है। एक के कायदे को जानने से दूसरे का रहस्य समझ में आ जाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति"॥[2]

हम बतला रहे थे कि जो अनुच्चार्या है-हृत्स्था है-नित्या है-वही आलम्बनब्रह्म है-इसी के ऊपर सूक्ष्म और स्थूल जगत् रहता है। वह स्वयं ज्ञान का कन्दल है एवं उससे निकलने वाली ज्ञानरश्मियाँ सूक्ष्म जगत् हैं एवं प्रतिफलित ज्ञानरश्मियाँ स्थूल जगत् हैं-बस, इसी त्रिवृतत्व को बतलाने के वास्ते जीव का नाम 'अहम्' रखा गया है। 'अ' सूक्ष्मसृष्टि का (ज्ञानरश्मियों का) द्योतक है-'ह्' स्थूल जगत् का द्योतक है एवं अम् इनके एकीभाव का सूचक है। 'अ' (कारणब्रह्म)-'अ' (ज्ञानसूक्ष्मब्रह्म) और 'ह्' (स्थूल जगत्)-इन तीनों का जब एकीभाव हो जाता है तो उसका नाम 'अहम' पड़ जाता है। कारण-स्वरूप जो 'अ' है-वह केवल समझने के लिए बतला दिया गया है-वास्तव में वह तो निराकार है। 'अ' इस सूक्ष्म जगत् को और 'ह्' इस स्थूल जगत् की एक 'अह्' इस स्फोटरूप से प्रतीति कराने वाला यही अर्द्धमात्रास्वरूप अव्यय है। 'अ'-दूसरी वस्तु है, 'ह्'-दूसरी वस्तु है-इन दोनों को जो एकसूत्र में बाँधकर 'अह्' यह प्रतीति कराने वाला है-वही अनिर्वचनीय अनुभवैकगम्य पदस्फोट है। वही हमारा कारणब्रह्म है। 'अम्' का अर्थनिपतन होता है-जैसा कि साधर्म्यवैधर्म्यवाद प्रकरण में बतला दिया गया है। 'अम्' उन तीनों के निपत्यभाव का सूचक है। जिसमें-अ-ह्-और 'अह्' यह पदस्फोट एकस्वरूप से रहते हैं-उसे ही 'अह्'-अम् कहते हैं। वही 'अहम्' है। यही जीवात्मा का असली स्वरूप है। केन्द्र का जो ज्ञान है-वही अव्यय है एवं इस ज्ञान का जो एक बडा भारीमण्डल है-जिसमें कि स्थूलजगत् भासित होता रहता है-वही 'अ' है एवं जो इस ज्ञान की स्थूलावस्था है-वही 'ह्' है। 'अ' को जब जरा जोर देके बोला जाता है तो वही अह् बन जाता है। 'अ' ही तो 'ह्' बना हुआ है।

१-ऐ० आ० २।३।६।१८। २-मैत्रायण्युप० ६।२२।

कहने को–'ह्' जुदी चीज है–वास्तव में 'अ' की स्थूलावस्था का ज्ञान ही 'ह्' है। जगत् विजातीय नहीं है–ज्ञान ही की स्थूलावस्था है- इसीलिए 'अ' और 'ह्' कहा है। 'अ' ही-'ह्' बनता है। ज्ञान ही जगत् बनता है–बस, इसीलिए जीवात्मा को 'अहम्' कहा है जो अनुच्चार्य्य कारण अव्ययब्रह्म है–उसे ही श्वोवसीयस-मन कहते हैं। जो इसकी सूक्ष्म 'अ' सृष्टि है–उसे प्राण कहते हैं एवं 'ह्' इस स्थूलसृष्टि को 'वाक्' कहते हैं–जिसे कि भूत कहा जाता है। वाक् ही को–'आकाश' कहते हैं चूँकि आकाश में सारा विश्व ओतप्रोत है, अतएव–'**वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता**'[1] –कहा जाता है। भूतों में पहला भूत यही–'**वाक्**' है, अतएव यह जल-तेज-वायु की अपेक्षा सूक्ष्म है। आत्मा से उत्पन्न वही आकाश जल-तेज-वायु-मिट्टी में परिणत होता है–वाक् ही तो सब कुछ बनती है, इसीलिए–'**अथो वागेवेदं सर्वम्**'[2]–यह कहा जाता है। वाक् भी वस्तुतः आत्मा से बनी है, आत्मा ही सब कुछ है। वह कारणब्रह्म ही सब कुछ बना हुआ है, इसीलिए–'**आत्मैवेदं सर्वम्**'[3]–'**नेह नानास्ति किञ्चन**'[4]--कहा जाता है। बात वास्तव में ठीक है–कहने को नानाभाव हैं, वस्तुतः वही आत्मा तो सब कुछ है। बस, इसी सृष्टिप्रक्रिया को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी"॥[5]

हाँ तो हम बतला रहे थे कि उस कारणज्ञानघन को '**मन**' कहते हैं। उसकी ज्ञानस्वरूपा सूक्ष्मसृष्टि को–प्राण कहते हैं एवं स्थूलसृष्टि को 'वाक्' कहते हैं। मन-प्राण-वाक् तीनों को मिलाकर के '**अहम्**' कहलाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है–'**स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः।** इच्छा मन का धर्म्म है, तप प्राण का धर्म्म है एवं श्रम वाक् का धर्म्म है। बस, इन तीन में जाके आत्मा '**कृतम्**'–इस संपत्ति से युक्त हो जाता है। इसीलिए श्रुति में बार-बार–**ऐक्षत स तपोऽतप्यत सोऽश्राम्यत्**–कहा जाता है। सम्पूर्ण प्रपञ्च से हमें बतलाना यही है कि ज्ञान ज्योतिष्मान् पदार्थ है एवं ज्योतिष्मान् होते हैं–त्रिवृत्–बस, इसी त्रिवृतता को बतलाने के वास्ते जीव को '**अहम्**' कहा जाता है। 'अ' ज्ञान का सूचक है–'ह्' जगत् (अन्तर्जगत्) का सूचक है एवं 'अ' और 'ह्' इन भिन्नों का 'अह्'–इत्याकारक एक शब्दत्वप्रतिपत्तिप्रतिपादक जो एक अनिर्वचनीय निराकार तत्त्व है–वही स्फोट है। उसी से अर्थ की प्रतीति होती है। भिन्नों में भी अभिन्नता प्रतीत कराने वाला वही स्फोट है–जो कि 'अह्' इस पद को पकड़े हुए है। बस, वही ज्ञाता है। 'अ'–ज्ञान है, 'ह्'–जगत् है। इसी ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के त्रिवृतत्व के रहस्य को सुगमता से समझने के लिए जीव को '**अ**' (**ज्ञान**) '**ह**' (**जगत्**) '**म्**'–कहा जाता है।

यह तो हुई जीवात्मा की बात–अब लें परमेश्वर के नाम का विवेचन–परमेश्वर को '**ओम्**' शब्द से कहा जाता है। बस, इस '**ओम्**' से भी–वही त्रिवृतत्व प्रकट होता है। जो 'अहम्' है–वही 'ओम्' है–

१–तै० ब्रा० २।८।८।४-५। २–ऐ० आ० ३।१।६।
३–छा० उप० ७।२५।२। ४–कठोप० २।१।११।
५–तै० उप० २।१।

जो 'ओम्' है-वही अहम् है। अह्-अम् ये ही अक्षर-'अहम्'-में हैं एवं अह्-अम्-ये ही अक्षर 'ओम्' में हैं। फरक इतना है कि परमेश्वर के अह्-अम् में हकार को पदान्ततया उत्व हो जाता है-इसलिए 'ओम्' बन जाता है एवं जीव के अह्-अम् में अपदान्तत्वात् उत्व नहीं होता, अतएव वहाँ अह् का 'ह' 'अ' में जा मिलता है तो 'अहम्' ही रह जाता है। ईश्वर पूर्णब्रह्म कहलाता है। वह पद है-किसी पद का अवयव नहीं है। उसका आत्मा किसी का अवयव नहीं है-वह स्वयं अवयवी है। वह अधूरा नहीं है-पूर्ण है-पदस्वरूप है। वह किसी दूसरे के सहारे नहीं रहता। वह अपनी महिमा में आप प्रतिष्ठित है, बस, इसी पदत्व को-पूर्णत्व को बतलाने के वास्ते पदान्त की विवक्षा कर उत्व कर दिया जाता है। पूर्णत्व बतलाने के लिए ही ईश्वर को 'ओम्' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। परन्तु जीव पद नहीं है-पद का अवयव है। वह तो उस ईश्वर का एक अंशमात्र है। पदैकदेशस्वरूप है। उस ईश्वर के अवयवस्वरूप अनन्त जीव हैं, अतएव वे अपद हैं। एक पदेश्वर के ये अनन्त अपद अवयवभूत जीव हैं। इसीलिए भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं—

"यद्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वं।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः" ॥

बस, इसी अपदत्व सम्पत्ति को बतलाने के वास्ते जीव नाम में पद की अविवक्षा कर उसे 'अहम्' शब्द से व्यवहृत किया गया है। बस, जीव और ईश्वर में अहम् और ओम् में इतना ही भेद है। नाम का भेद है-वस्तुतः दोनों एक चीज हैं। इसीलिए श्रुति कहती है—

"यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" ॥[1]

अपि च—

'योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्'-इति।[2]

बस, यह हुई 'ओम्' की व्याख्या।

इस प्रकार अहम् और ओम् की व्याख्या बतलाकर प्रकृत का अनुसरण करते हैं। हमने इस प्रकरण के पहले जीव के ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय-इन तीनों का एकत्वप्रतिपादन किया है। तो बस, जैसे ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय जीव से अभिन्न हैं-तथैव (जीववदेव) विज्ञानघन वह 'ओम्' मध्य में रहता है। अर्थात् जैसे हमारे शरीर के केन्द्र में ज्ञानघन हमारा आत्मा रहता है-जो कि सूक्ष्म और स्थूल अन्तर्जगत् का कारण है-तद्वत् ही आत्मत्वसादृश्यात् इस महाब्रह्माण्ड का जो एक कोई केन्द्र है-उसी में विज्ञानघन

१-कठोप० २।१।१० । २-ऐ० आ० २।२।४।१२ ।

ओम्-स्वरूप परमेश्वर का आत्मा सूर्य्यवत् चमक रहा है। इस बडे भारी भुवनेषु अन्तः में वह ज्ञानघन परमेश्वर बैठा हुआ है-इसी अभिप्राय से-'**बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः**'[1]-कहा जाता है।

बस, उसी केन्द्रस्थ ज्ञानघन के आश्रित यह अनन्त एवं नित्य वैज्ञानिक मण्डल स्थित है। जैसे हमारे केन्द्र से निकलकर एक ज्ञानमण्डल हमारे चारों ओर फैल रहा है-जिसमें कि हमारा अन्तर्जगत् बैठा हुआ है-तद्वत् ही उस केन्द्रस्थ विज्ञानघन के चारों ओर अपना गोलमण्डल बनाता हुआ नित्यस्वरूप वैज्ञानिक मण्डल स्थित है। उस ज्ञानमण्डल में उन्हीं ज्ञानरश्मियों से बना हुआ सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र, पर्वत, नदी, तालाब गुहा, समुद्र-इत्यादि इत्यादि सारा प्रपञ्च-सारा जगत् बैठा हुआ है। जैसे हमारा ज्ञान हमारे आत्मा के आधार पर स्थित है एवं अन्तर्जगत् उस ज्ञान के ऊपर स्थिर है-तद्वत् ही ईश्वर का ज्ञानविजृम्भण-(ज्ञान से बना हुआ) जगत् उसके अनन्त वैज्ञानिक मण्डल में स्थित है। केन्द्र में वह आलम्बन अर्द्धमात्रा-स्वरूप ज्ञानघन बैठा हुआ है एवं वही ज्ञान रश्मिरूप से बाहर निकलकर अपना एक गोल गुम्मज बनाता है। बस, उस गुम्मज के पेट में उसी ज्ञान से बना हुआ जगत् स्थिर है। बस, केन्द्र से उठता हुआ चारों ओर बडी दूर तक अपना गुम्मज बनाता हुआ जो एक नित्यज्ञान है-वही परमेश्वर का साक्षात् स्वरूप है। बस, इसी भाव का प्रत्यक्ष दर्शन कराने के वास्ते परमेश्वर को '**ओम्**' कहा जाता है। '**ओम्' बोलते** समय एक ध्वनि केन्द्र में से उठकर चारों ओर अपना गोलगुम्मज बनाती है। ओम् ही में गुम्मज बनाने का सामर्थ्य है-'**अहम्**' शब्द के उच्चारण से '**ओम्**' सदृश गुम्मज नहीं बनता। बस, इसीलिए दयालु महर्षि कहते हैं कि यदि तुम ईश्वर का स्वरूप पूछना चाहते हो तो अपने बोले हुए '**ओम्**' पर ध्यान दो। '**ओम्**' शब्दोच्चारण में केन्द्र से उठकर वाक् का जैसे गोलमण्डल बन जाता है-बस, ठीक वही स्वरूप ईश्वर का समझो। वह ज्ञानघन केन्द्र से उठकर अपना अनन्त मण्डल बनाए हुए केन्द्र में स्थित है। तुम्हारी ओम् की ध्वनि का आकार जैसा ही ईश्वर का आकार है। उसका वाचक प्रणव ही है-'**तस्य वाचकः प्रणवः**'-**इति**।

सम्पूर्ण कथन का सारांश यही हुआ कि इस महामण्डल के केन्द्र में स्थित जो ओम् है-वही ईश्वर है, वही ज्ञाता है एवं वह ज्ञानमण्डल ज्ञान है एवं ज्ञानविजृम्भणजगत् ही ज्ञेय है। वही ज्ञाता रश्मिरूप से बाहर जाकर ज्ञान बना हुआ है एवं वही ज्ञान प्रतिफलित हो बहिर्जगत् बना हुआ है। कहने को ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय तीन हैं-वास्तव में तीनों एक हैं। ईश्वर और उसका ज्ञेय बहिर्जगत् भिन्न नहीं है। दोनों एक वस्तु हैं। इसी अभिप्राय से गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"तथैव (जीववदेव) विज्ञानघनः स ओमिति प्रवर्त्तते मध्यगतस्तदाश्रितम्।
अनन्तवैज्ञानिकनित्यमण्डलं तन्मण्डले ज्ञानविजृम्भणं जगत्" ॥४०॥

अन्तर्जगत्सिद्धिः-प्रकरण में बतला आए हैं कि हमारे अन्तर्जगत् का आधार बहिर्जगत् है। बहिर्जगत् ही अन्तर्जगत् का निमित्त है। सत्तासिद्ध घटपटादि के आधार पर ही मेरे भातिसिद्ध अन्तर्जगत् का

१-ऋग्वेद मं० ८।१०१।१४।

निर्म्माण होता है। यदि मेरे से सर्वथा परोक्ष सत्तासिद्ध घटपटादियुक्त बहिर्जगत् न हो तो मेरा ज्ञान हर्गिज हर्गिज घटपटादिस्वरूप अन्तर्जगत् का निर्म्माण नहीं कर सकता था। बाहर घड़ा है-तभी मैं घड़े को देखता हूँ-बाहर गङ्गाजी हैं-तभी मैं उनके स्वरूप का प्रत्यक्ष कर रहा हूँ अर्थात्-मेरे अन्तर्जगत् का निर्म्माण कर रहा हूँ। यदि बाहर गङ्गाजी एवं घड़ा न हो तो मेरे ज्ञान की क्या ताकत है कि वह घड़ा किंवा गङ्गाजी बना सके। तो बस, मेरे ज्ञान का-अन्तर्जगत् का निमित्तभूत अन्तर्निगूढ अर्थात्-मेरे से सर्वथा परोक्ष जो बहिर्जगत् है-वह परमेश्वर के ज्ञान से बना हुआ है। वह ऐशजगत् है। ऐशजगत् क्या है बल्कि वह जगत् तो चूंकि ईश्वर के ज्ञान ही से बना है, अतः स्वयं ईश्वर ही है। हमारा अन्तर्जगत् विना सत्तासिद्ध जगत् के माने उपपन्न नहीं हो सकता, अतः बहिर्जगत् अवश्य ही मानना पड़ता है। जैसे मेरे ज्ञान का एक ज्ञानीय मेरे अन्दर मेरा आन्तरजगत् है-तद्वत् एक महाज्ञानस्वरूप मेरे से बाहर की ओर ईश्वर के ज्ञान से बना हुआ बहिर्जगत् है। परन्तु ध्यान रहे-यह बहिर्जगत् मेरे अन्तर्जगत् का निमित्त अवश्य है-तथापि हम इसको जरा सा भी नहीं देखते हैं। जैसे ईश्वर अदृश्य है, तद्वत् ईश्वर-ज्ञान से विनिर्मित जगत् भी हमारे लिए सर्वथा परोक्ष है। चूंकि ईश्वर के ज्ञान से वह जगत् बना है, अतएव हम उसे ईश्वर का जगत् भी कह सकते हैं एवं ईश्वर भी कह सकते हैं। चाँद-सूरज-पर्वत-नदी--घर-तालाब-वृक्ष इत्यादि इत्यादि जो कुछ हम देखते हैं-वे हमारे ज्ञान का बना हुआ देखते हैं। ईश्वर के जगत् का हमें मुतलक प्रत्यक्ष नहीं है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यदस्ति मज्ज्ञाननिमित्तमन्तर्गूढं तदैशं जगदीश्वरो वा।
एकं महाज्ञानमिदं बहिर्धा जगत् तदेतन्न किमप्यवेक्षे" ।।४१।।

इस नित्य वैज्ञानिक मण्डल में ज्ञेयजगत् नाना प्रकार का है। घट का स्वरूप और ही कुछ है, पट का स्वरूप और ही कुछ है। पर्वत का आकार दूसरा ही है, सूर्य्य का आकार दूसरा ही है। दूर क्यों जाते हैं? घट के मुँह का रूप दूसरा ही है, पैंदे का रूप दूसरा ही है। पर्वत के शिखर का स्वरूप जुदा है। उसके मूल का स्वरूप जुदा है। इस प्रकार से इस वैज्ञानिक मण्डल में अनन्त प्रकार के रूप हैं। अनन्त प्रकार के अनन्त पदार्थ हैं। इस प्रकार से विशेषणविशिष्ट जो ज्ञान है-वह अवश्य ही नाना भावों में परिणत हो रहा है। घटज्ञान भिन्न है, पटज्ञान भिन्न है, मठज्ञान भिन्न है। पर्वतज्ञान भिन्न है। परन्तु रूपोपहित (रूप को-विशेषण को छोडकर) जो ज्ञान है-वह भिन्न नहीं है। रूपोपहित ज्ञान में नानात्व नहीं है। रूपोपहित ज्ञान एक है। विशेषण, उपलक्षण और उपाधि-तीन बातें विशेषण विशेष्य में हुआ करती हैं। इन तीनों के लक्षण और उदाहरण ये हैं—

विद्यमानं सत्, गृहीतं सद् व्यावर्त्तकम्-'विशेषणम्'। 'यथा लम्बकर्णमानय'।

अविद्यमानं सत्, गृहीतं सद् व्यावर्त्तकम्-'उपलक्षणम्'। 'यथा दृष्टसागरमानय'।

विद्यमानं सत्, अगृहीतं सद् व्यावर्त्तकम्-'उपाधिः' । 'यथा घटे घटत्वम्'।

'लम्बकर्णमानय' यहाँ लम्बे कान विद्यमान भी हैं और उसका आनयनक्रिया में ग्रहण भी है। लम्बे कानवाले को ही बुलाया जाता है एवं दृष्टसागरमानय यहाँ उस सागर का अभाव है, परन्तु देखा

जरूर है–देखने का आनयनक्रिया में ग्रहण है, परन्तु समुद्र अविद्यमान है–बस, इसे ही उपलक्षण कहते हैं एवं–**'घटे घटत्वम्'** यहाँ घटत्व विद्यमान है, परन्तु उसका अग्रहण है। घट में घटत्व अवश्य ही रहता है। घटत्व ही तो घट का स्वरूप है, अतः **'घटे'** यहाँ घटत्व विद्यमान अवश्य है, परन्तु उसका अग्रहण है। इसीलिए **'घटे घटत्वम्'** का–**'घटत्वोपहिते घटे घटत्वम्'**–यह अर्थ होता है–न कि **घटत्व-विशिष्टे घटे घटत्वम्'**। बस, इसी तीसरी उपाधि से ही प्रकृत में सम्बन्ध है। हम मानते हैं कि ज्ञान में घटपटादि अवश्य ही रहते हैं। ग्राहक ज्ञान का स्वरूप तो ग्राह्य घटपटादि से ही सुरक्षित रहता है–तथापि–**'ज्ञाने ज्ञानत्वम् विषयोपहिते–ज्ञाने ज्ञानत्वम्'**–यही अर्थ करना पड़ता है–न कि **'विषयविशिष्टे ज्ञाने ज्ञानत्वम्'**–यह। प्रकृत में कहना हमें यही है कि विशेषण (रूप)–विशिष्ट ज्ञान अवश्य ही नाना हैं, परन्तु रूपोपहित जो ज्ञान है–वह भिन्न नहीं है–वह तो एकस्वरूप ही है–**'ज्ञानं तु रूपोपहितं न भिन्नम्'**।

घटपटादि जितने भी रूप हैं–वे सर्वथा असत्य हैं, क्योंकि हम प्रत्यक्ष इनका विनाश देख रहे हैं। जो घड़ा कल था–वह आज नहीं। जो वृक्षादि मनुष्यादि महाभारत के समय में थे–आज कहीं उनका पता भी नहीं है। बस, इस विनाशवत्वहेतु से ही हम इन नानारूपों को–असत्य (सत्तारहित) कहने के लिए तय्यार हैं। परन्तु रूपोपहित ज्ञान स्वस्वरूप से जब घड़ा नहीं था तब भी था, अब भी है, बाद में भी रहेगा। इन नाशवान् पदार्थों में रात-दिन रहने पर भी उस ज्ञान का नाश नहीं होता, अतएव हम इस ज्ञान को सत्य (सत्तावान्) कहने के लिए तय्यार हैं। क्योंकि भूत, भविष्य, वर्त्तमान त्रिकालाबाधितत्व ही तो सत्ता का लक्षण है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"तत्रापि रूपाणि भवन्तु नाना ज्ञानं तु रूपोपहितं न भिन्नम्।
रूपाण्यसत्यानि विनाशवत्वान्नश्यत्सु नो नश्यति तद्धि सत्यम्" ॥४२॥

ज्ञान सत्यस्वरूप है। वही जगत् का आत्मा है। ज्ञान से बना हुआ जगत् इसी के आधार पर ठहरा हुआ है। इस ज्ञान को दिग्-देश-काल से अवच्छिन्न हर्गिज नहीं किया जाता है। यह तो दिग्देश कालानवच्छिन्न है। बस इसके अनवच्छिन्न होने के कारण ही इस पर रहने वाले **अर्थ** इससे तादात्म्यापन्न ही दिखलाई पड़ते हैं। ज्ञान व्यापक है, अतः विषय ज्ञान के अलावा रह कहाँ सकते हैं? व्यापक ज्ञान से निर्म्मित विषय ज्ञान को छोडकर बाहर जाएँ किस स्थान में। यदि ज्ञानपरिच्छिन्न होता तो उसके बाहर विषय दीखने लगते–ऐसी हालत में भेद-प्रतीति होने लगती। परन्तु ऐसा है ही नहीं। ज्ञान से कोई स्थान खाली ही नहीं। बस, इसीलिए सारे विषय तादात्म्यापन्न ही दीखते हैं। परन्तु साथ ही में हम इतना और कह देते हैं कि ये बहिर्जगत् के सूर्य्यचन्द्रमादि सारे विषय सर्वथा अदृष्ट हैं। हम कभी इस बहिर्जगत् को नहीं देखते हैं। बात सच है–चैत्र के ज्ञान को एवं उसके ज्ञानीय अन्तर्जगत् को जब हम नहीं देख सकते, उसके ख़याल में क्या क्या है?–यह भी जब हम नहीं जान सकते तो फिर ईश्वर के बहिर्जगत् के प्रत्यक्ष की तो कथा ही क्या है? ईश्वर ज्ञानस्वरूप है एवं जगत् ज्ञानमय है, अतएव हमें बहिर्जगत् नहीं दीखता। बहिर्जगत् हमें नहीं दीखता–यही बहिर्जगत् के ज्ञानमयत्व में प्रमाण है। ज्ञान चूँकि दीखता नहीं एवं जगत् हमें नहीं दीखता–इससे मानना पड़ता है

कि ईश्वर का जगत् चूंकि ईश्वर के ज्ञान से बना है, अतएव वह ईश्वर से अभिन्न है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्ञानं हि सत्यं जगतः स आत्मा दिग्देशकालैस्तु न मीयते सः।
अस्यानवच्छिन्नतयाऽऽत्मनोऽर्थास्तादात्म्यभूता इह सन्त्यदृष्टाः" ॥४३॥

आपने कहा था कि जगत् में रूप नाना हैं। घटपटादि नानारूप इस ज्ञान में नाच रहे हैं, परन्तु रूपोपहित ज्ञान तो एक ही है। हम कहते हैं कि नाना-वाना कुछ नहीं है। रूपोपहित ज्ञान एक है, अतएव वह सत्य है, अतएव च-नित्य है एवं उसमें रहने वाले विषय नाना हैं, अतएव वे अनित्य हैं, अतएव च-मिथ्या हैं-हम यह सुनने के लिए तय्यार नहीं। एकत्ववादी को अनेकत्व सुनना ही बुरा लगता है-चाहे वह विषयसम्बन्धी ही क्यों न हो। हमारे खयाल से विषयनानात्व बतलाना भी सर्वथा गलत है। यदि नानारूपत्व का असली स्वरूप पूछा जाए तो सिवाय अस्ति और नास्ति के और कुछ भी नहीं है। अस्ति और नास्ति ही-अभाव और भाव ही वस्तु का स्वरूप बना नाना रूपता उत्पन्न करती है।

एक बक्स रखा हुआ है-उसके ऊपर आप हाथ रखते चले जाइए-जहाँ आपका हाथ खाली स्थान पर पहुँचा कि बक्स का स्वरूप हटा। अस्ति अस्ति करते चले जाइए-जब चारों ओर अस्ति का स्वरूप खतम हो जाएगा-तो उसी समय बक्स का स्वरूप बन जाएगा। जब तक अस्ति के आगे नास्ति नहीं आवेगी-तब तक पदार्थस्वरूप नहीं बनेगा। कहने का तात्पर्य्य यही है कि वस्तु का नाश, किंवा उसका ज्ञान (लाभ) किंवा उसकी क्रिया एवं फिर उस घटरूप का नाश एवं परिवर्तन एवं रूपभेद सारे के सारे अस्ति और नास्ति-इस ज्ञान के ही तो अन्तर्गत हैं। अस्ति-नास्त्यात्मक जो ज्ञान है-वही तो नानात्वप्रतीति करवाने वाला है। 'है'-यह भी ज्ञान है-नहीं 'है'-यह भी ज्ञान है। ज्ञान के अलावा अस्ति और नास्ति है क्या चीज ? अस्ति-नास्ति ही नानात्व का मूल है एवं यह है-एक ज्ञान तो बस, यह निर्विशेष जो एकेश्वर ज्ञान है-उसी को हम मानने के लिए तय्यार हैं-जो कि एक है। विषयनानात्व भी ज्ञान है। ज्ञान के अलावा और कुछ नहीं है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यद्वात्र नाशप्रतिपत्तिकर्मैतद्रूपनाशाः परिवर्तनानि।
तद्रूपभेदा अपि निर्विशेषं तदैश्वरं ज्ञानमतस्तदेकम्" ॥४४॥

ज्ञान ही पर्वत है, ज्ञान ही वृक्ष है, ज्ञान ही अन्तर्विवर है, ज्ञान ही में ज्ञान है। ज्ञान ही 'ऊपर' है-ज्ञान ही 'नीचे' है, ज्ञान ही 'आगे' है। सब ओर ज्ञान ही ज्ञान है। जो कुछ जाना जाता है-वह सब ज्ञान ही ज्ञान तो है। ज्ञान के अलावा और है ही क्या ? जैसाकि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्ञानं गिरिर्ज्ञानमिमे च वृक्षा ज्ञानं तदन्तर्विवराणि कक्षाः ।
ज्ञानं तदूर्ध्वं तदधस्तदग्रं यज्ज्ञायते ज्ञानमिदं समग्रम्" ॥४५॥

जीव-जगत्-ईश्वर इन तीनों को सत्य मानने वाले रामानुजी लोग वेत्ता और वेद्य में परस्पर पृथक्त्व बतलाते हैं-वह वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा गलत है। बोध (ज्ञान) बोद्धा (ज्ञाता) की अपनी वस्तु है। ज्ञान मेरी चीज है। मैं ज्ञान को बाजार से खरीदने नहीं जाता हूँ-जिससे कि वह मेरे से विजातीय बतलाई जाए। वह मेरी चीज है। मेरी क्या है-वह मैं ही तो हूँ एवं बोध्यवर्ग (ज्ञेय) बोध का रूपान्तरमात्र है। ज्ञान ही ज्ञेय बन जाता है। इस प्रकार बोद्धा ही बोध बनता है एवं बोध ही बोध्य बनता है। ऐसी हालत में तीन सत्य क्योंकर माने जा सकते हैं? कहने को तीन हैं-वास्तव में तीनों एक हैं। तीनों एक से एक अनन्य हैं, अतः त्रिसत्यवाद, विज्ञानकाण्ड में सर्वथा अनादरणीय है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यत्तु त्रिसत्या इह वेद्यवेत्रोः पृथक्त्वमाहुर्न तदस्ति साधु ।
बोधो हि बोद्धुः स च बोध्यवर्गो बोधस्य रूपान्तरमप्यनन्यत्" ॥४६॥

हमने जीव में-प्रमाता, प्रमाण, प्रमिति और प्रमेय चार चीजें बतलाई थीं एवं प्रमाण को जीव-तन्त्राधीन बतलाकर ईश्वरतन्त्राधीन बतलाया था। इस पर कहीं यह संदेह नहीं कर लेना चाहिए कि हमारी तरह ईश्वर में भी-प्रमाता, प्रमेय, प्रमिति से पृथक् एक प्रमाण और होगा। हर्गिज नहीं। प्रमाण हमारे में हो सकता है-ईश्वर में नहीं। जो जो इन्द्रियाँ (प्रमाण) जीवगत हैं-वे ईश्वर से प्राप्त हुई हैं। ईश्वर ने हमें इन्द्रियाँ प्रदान की हैं, अतः इन्द्रियाँ हमारे में हो सकती हैं। परन्तु ईश्वर से अलावा और कोई थोड़े ही है, जिसमें से कि अस्मदादिवत् इन्द्रियाँ उस ईश्वर में आवें। ईश्वर तो एक है। उसमें इन्द्रियाँ कहाँ से आ सकती हैं, अतः इस ईश्वर में-वित्ति, वेद्य और वेत्ता-ये तीन ही पार्ट समझने चाहिएँ। ईश्वर त्रिवृतत्वेन एक ही है। उसमें प्रमाण (इन्द्रिय) की आशङ्का नहीं करनी चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यदिन्द्रियं जीवगतं तदीश्वरादुपाप्तमासीदति नेश्वरे तु तत् ।
कुतश्चिदायाति ततोऽत्र वित्तयो वेद्यानि वेत्ता त्रिवृदेक ईश्वरः" ॥४७॥

ओम् ही विज्ञानस्वरूप महाप्रकाश बनता है एवं विज्ञान ही जगत् बनता है। ज्ञान से बना हुआ जगत् ज्ञान से अभिन्न है। इस प्रकार से ज्ञान के साथ तादात्म्यापन्न जगत् ईश्वर से भिन्न हर्गिज नहीं हो सकता। ईश्वर से भिन्न क्या नहीं हो सकता-वह विश्व ही स्वयं ईश्वर है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"श्रोमेव विज्ञानमहाप्रकाशो विज्ञानमेवास्ति जगत् तदित्थम् ।
तादात्म्यमाप्तं जगदस्ति भिन्नं न हीश्वरादीश्वर एव विश्वम्" ॥४८॥

ईश्वरज्ञान अमित है, अतएव उससे बनने वाले जगत् में भी आनन्त्य ही है । इसका भी कहीं अन्त नहीं है । चूंकि ईश्वरज्ञान निराकार है, अतएव इससे बनने वाला जगत् भी निराकार ही है, अतएव हमें इस बहिर्जगत् का कभी प्रत्यक्ष ही नहीं होता । अपि च-चूंकि ईश्वर निर्विशेष है, अतएव यह भी निर्विशेष ही है । चाहे-जगत् को असत् मानिए-चाहे सत् मानिए, उभयथा भी यह इस ज्ञान से पृथक् नहीं है । ईश्वर और ईश्वर का बहिर्जगत् दोनों एक वस्तु हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यतोऽमितत्वं तत एव चास्मिन्नानन्त्यमस्माच्च निराकृतित्वम् ।
एकत्वमस्मादविशेषताऽस्मात् सतोऽसतो वा न स भिद्यतेऽर्थः" ॥४९॥

॥ इति ईश्वरबहिर्जगतोरैक्यप्रतिपादनम् ॥

१०–अथ जीवेश्वरयोरैक्यम् ॥

जीव और ईश्वर का ऐक्य—

पूर्व प्रकरण में ईश्वर और ईश्वर के बहिर्जगत् के भेदवाद का निराकरण कर दिया गया । उससे भी पहले के प्रकरण में जीव और जीव के अन्तर्जगत् के भेद का निराकरण किया गया था । बस, इन दोनों प्रपञ्चों से सिद्ध हो जाता है कि ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयस्वरूप जो त्रिवृत् जीव है-वह एक वस्तु है । ज्ञाता ही रश्मिरूप में परिणत हो ज्ञान कहलाने लगता है एवं वही ज्ञानरश्मियाँ प्रतिफलित हो ज्ञेय कहलाने लगती हैं । कहने को तीन हैं-वास्तव में तीनों एक हैं । एवमेव ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयस्वरूप जो त्रिवृत् ईश्वर है-वह भी तीन नहीं है-तीनों मिलाकर एक वस्तु है । इस प्रकार से 'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय' 'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय'-जीवेश्वर भेद से जो ये ६ भेद थे-उन्हें २ पर लाकर के पूर्वप्रकरण में समाप्त कर दिया गया है । ६ नहीं हैं-अपि तु, जीव ओर ईश्वर दो हैं । अब इस प्रकरण में जीव और ईश्वर के भेद की व्यावृत्ति करा दी जाती है । बस, जहाँ भेद की व्यावृत्ति हुई कि अभेद का-एकत्व का राज्य हुआ ।

ईश्वर को वैदिक परिभाषा में प्रजापतिशब्देन कहा करते हैं । इस ईश्वर प्रजापति को परमप्रजापति भी कहते हैं । इस परमप्रजापति के पेट में सोलर सिस्टम में ५ प्रतिमा प्रजापति उत्पन्न होते हैं-उनके नाम ये हैं-(१)स्वयम्भू, (२) परमेष्ठी, (३) सूर्य्य, (४) चन्द्रमा, (५) पृथिवी । ये पाँचों उसकी प्रतिमा हैं । ये पाँचों ही तो उसका आकार हैं । अश्वत्थवृक्ष की ये पाँच पोर-वाली एक टहनी है । ये पाँचों ही उस परमप्रजापति की प्रजा हैं । परन्तु चूंकि इन पाँचों से भी ऋषि, पितर, देवता, गन्धर्व, मनुष्य-ये पाँच प्रजा उत्पन्न होती हैं, अतएव इन प्रजाओं की अपेक्षा इन्हें प्रतिमा

'प्रजापति' कहा जाता है। इन पाँचों प्रतिमा प्रजापतियों से हमारे प्रकृत से कोई सम्बन्ध नहीं। प्रकृत में सम्बन्ध है-जीव-प्रतिमाप्रजापति से। यह जीव उसकी प्रजा है, परन्तु यह भी अपनी स्वतन्त्र प्रजा (अस्थिमांसादि पुत्रकलत्रादि) उत्पन्न करता है, अतएव इसे भी प्रतिमा प्रजापति कहते हैं। प्रजापति का अर्थ है-चेतना। चित्-शक्ति ही को तो प्रजापति कहते हैं। सूर्य्य-चन्द्रादि यद्यपि चेतनाघन ही हैं-सूर्य्यचन्द्रादि ही क्यों, जिन्हें अवैज्ञानिक मनुष्य जड़ पदार्थ कहकर पुकारते हैं-उनमें भी चेतना मौजूद है-जैसा कि आगे के प्रकरण से स्पष्ट हो जाएगा-परन्तु उनकी चेतना का हम अनुभव नहीं करते। हमें जीव की-हमारी चेतना ही की स्फुट प्रतीति हो रही है। इसीलिए हम अपने को 'अहम्' शब्द से व्यवहृत करने का अधिकार रखते हैं। हम उस परमप्रजापति के अत्यन्त समीप हैं। जो उसका रूप है-वही हमारा है। फरक केवल इतना है कि वह पद है-हम पदावयव हैं। और सब बातों में हम प्रजापति के तुल्य हैं-इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"प्रजापतिर्ह वाऽइदमग्रऽएक एवास। स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत्। स तपोऽतप्यत स प्रजा असृजत। ता अस्य प्रजाः सृष्टाः पराबभूवुः। तानीमानि वयांसि। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'' ॥[1]

सत्यस्वरूप-नित्य-विज्ञान आनन्द-अनन्त-एकस्वरूप जो एक 'ओम्' है-उसे ही दार्शनिक ब्रह्म शब्द से व्यवहृत करते हैं। सत्य उस पदार्थ का नाम है जो सदा सर्वदा एक लाईन से स्थिर होकर नये-नये कार्य उत्पन्न करे। अविचलित होकर नये-नये विचाली भावों को उत्पन्न करे। चूंकि 'ओम्' स्थिररूप से अपना मण्डल बनाकर अपने पेट में अपने में से ही नाना प्रकार की अनन्तानन्त परिवर्त्तनशीला सृष्टिएँ बनाया करता है, अतएव हम इसे 'सत्य' कहने के लिए तय्यार हैं। अपि च-इस ओम् का कभी विनाश नहीं होता। हो कैसे-ज्ञान का भी कभी नाश हुआ है? वह तो नित्य है-अजर है-अमर है। जो ज्ञानामृत को पी जाता है-वह भी बन्धनों से मुक्त होकर मृत्यु के पाश से सदा के लिए विमुक्त हो जाता है-अनित्यभाव से नित्यभाव में पहुँच जाता है-तो जो स्वयं ज्ञान है-उसकी नित्यता के विषय में तो कहना ही क्या है? वह तो स्वयं विज्ञानस्वरूप है, अतएव च वह आनन्दस्वरूप है। अर्थ में क्रिया हुआ करती है-ज्ञान में नहीं। ज्ञान तो निष्क्रिय पदार्थ है। परिवर्त्तनीय क्रिया का यह अपरिवर्त्तनीय ज्ञान तो आलम्बन है-वह भला सक्रिय कैसे हो सकता है? बस, इसीलिए हम ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को आनन्द भी कह सकते हैं। क्रिया से क्षोभ (उछाल) उत्पन्न होता है-क्षोभ से अशान्ति होती है-अशान्ति से दुःख होता है। अशान्त मनुष्य को सुख नसीब नहीं हो सकता-इसीलिए भगवान् कहते हैं—

"नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्" ॥[2]

१-शत० ब्रा० २।५।१।१। २-गीता २।६६।

परन्तु जब ज्ञानस्वरूप ब्रह्म निष्क्रिय है तो फिर क्षोभ कैसा ? क्योंकि क्षोभ क्रिया से ही तो उत्पन्न होता है, जब क्षोभ नहीं तो अशान्ति कैसी ? जब अशान्ति नहीं तो दुःख कैसा ? वहाँ तो आनन्द ही आनन्द है। दूसरे से भय हुआ करता है। मनुष्य जब भी कभी डरता है किंवा दुःखी होता है–दूसरे से डरता एवं दुःखी होता है। कदाचित् कहो कि जंगल में तो दूसरा कोई नहीं रहता-फिर हमें वहाँ डर क्यों लगता है ? इसका उत्तर सोचो। जरा सूक्ष्मदृष्टि से विचारने पर तुम्हारा समाधान हो जाएगा। वहाँ भी "कोई आके हमारे पर आक्रमण न कर बैठे"–इस दूसरे के आक्रमण से भय होता है। **'द्वितीयाद्वै भयं भवति'**–यह श्रुति का सिद्धान्त है। जबकि ब्रह्म में द्वैत है ही नहीं–सिवाय ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के दूसरा कोई है ही नहीं तो फिर भय कैसा ? भय नहीं तो दुःख कैसा ? भयपूर्वक ही तो दुःख हुआ करता है–जैसा कि सच्चिदानन्दखण्ड के **'दुःखस्य भयपूर्वकत्वनियमः'**–इस ६वें सूत्र में विस्तृततया बतलाया गया है।[1] तो बस इसीलिए हम इस ओम् ब्रह्म को आनन्दस्वरूप कहने के लिए तय्यार हैं। अपि च–यह ब्रह्म अनन्त है–इसका कोई आद्यन्त नहीं है–व्यापक है–व्यापक का भी कहीं आद्यन्त हुआ है ? इसीलिए भगवान् वेदपुरुष कहते हैं—

"यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" ॥[2]

अपि च—

"तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः" ॥[3]

चूंकि वह अनन्त है–अर्थात् व्यापक है–सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद शून्य है–अतएव एक है। बस, ऐसा सत्य-ज्ञान-आनन्द-अनन्त–एकस्वरूप जो 'ओम्' है–उसे ही दार्शनिक लोग **'ब्रह्म'** शब्द से व्यवहृत करते हैं। इसीलिए दयालु श्रुति **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'–'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'**–ब्रह्म का यही स्वरूप बतलाती है। बस, इस परमप्रजापति से उत्पन्न जो यह 'अहम्' आत्मा है–वह उससे भिन्न कथमपि नहीं हो सकता। उससे उत्पन्न अहम् वही है। **'पिता वै जायते पुत्रः'**–यही वेद का सिद्धान्त है। अहम् उस ओम् से अभिन्न है–इसका प्रत्यक्ष प्रमाण 'अहम्' यही है। जो अक्षर ओम् में हैं–वे ही अहम् में हैं। जैसी संस्था 'ओम्' की है–ठीक वैसी ही संस्था 'अहम्' की है। वहाँ भी केन्द्र में ज्ञानकन्दल है–बाहर ज्ञान का मण्डल है–ज्ञान में सारा विश्व है। यहाँ भी केन्द्र में ज्ञानकन्दल है–बाहर ज्ञान का मण्डल है–उसमें सारा अन्तर्जगत् है। फरक केवल पद और पदावयवमात्र ही का तो है। ईश्वरपद है–जीव पदावयव है। कहने का तात्पर्य्य यही है–उस परम प्रजापति से उत्पन्न यह प्रतिमाप्रजापति (जीव) उस परमप्रजापति से अभिन्न है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

१–द्रष्टव्य संशयतदुच्छेदवाद हिन्दीविज्ञानभाष्य प्रथमकाण्ड पृष्ठ संख्या–६० से ६४ तक।

२–श्वेताश्वतरोप० ३।६। ३–ईशोप० ५।

"सत्यं यदोंनाम विदन्ति नित्यं विज्ञानमानन्दमनन्तमेकम् ।
तद् ब्रह्मशब्देन वदन्ति तस्मादहं य आत्मैष स नास्ति भिन्नः" ॥५०॥

इस ईश्वर और जीव की अभिन्नता में दो बातें हो सकती हैं। जो सर्वगत ईश्वर है-वह एक है-सर्वत्र व्यापक है-नित्य है-विज्ञानानन्दस्वरूप है-यह हम बतला आए हैं एवं वन-पर्वत-नदी-तालाब-सूर्य्य-चन्द्र-नक्षत्र-आकाश-पृथिवी-अन्तरिक्ष-समुद्र-दिक्-पाताल, इत्यादि इत्यादि यच्चयावत् प्रपञ्च की प्रतिष्ठा है। सारा प्रपञ्च उसी से उत्पन्न हो उसी पर प्रतिष्ठित हो रहा है। बात वास्तव में सच है-उससे कोई जगह खाली हो तभी तो इनकी दूसरी प्रतिष्ठा हो। जब उससे एक बिन्दु भी खाली नहीं है तो फिर सिवाय इसके इन प्रपञ्चों की प्रतिष्ठा और कौन हो सकता है ? इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः" ॥१

कहने का तात्पर्य्य यही है कि यच्चयावत् प्राणिमात्र की-जड़-चेतन की यह ब्रह्म ही प्रतिष्ठा है। अब यहाँ पर सवाल होता है कि यह जीव इस ईश्वर में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है-अर्थात् ईश्वर-प्रतिष्ठा ही इसकी प्रतिष्ठा है अथवा सर्वेश्वर(परम प्रजापति) वत् यह जीव अपनी अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है। हम कार्य्यकारणभाव दो तरह का देखते हैं-एक तो भिन्नसत्ताक कार्य्यकारण-भाव दूसरा अभिन्नसत्ताक कार्य्यकारणभाव। दूध से दही बन जाना-यह अभिन्नसत्ताक कार्यकारणभाव है। दूध ही दही की प्रतिष्ठा है-दही की सत्ता-प्रतिष्ठा दूध से अलग नहीं है एवं पिता से पुत्र उत्पन्न होना यह है-भिन्नसत्ताक कार्य्यकारणभाव। लोहे से जंग उत्पन्न होना दूध से मलाई उत्पन्न होना-पानी से फेन उत्पन्न होना-ये सब भिन्नसत्ताक कार्य्यकारणभाव के उदाहरण हैं। पुत्र पिता से ही उत्पन्न होता है, परन्तु अपनी संस्था आप स्वतन्त्रतया बनाता है। इस प्रकार से चूंकि हम कार्य्यकारणभाव दोनों ही प्रकार के देखते हैं, अतएव जीवेश्वरविषय में भी प्रश्न होता है कि दधिदुग्धवत् ईश्वर ही जीव की प्रतिष्ठा है-अथवा ईश्वरवत् जीव अपनी महिमा में पितापुत्रवत् प्रतिष्ठित है। ईश्वर की प्रतिष्ठा जैसे ईश्वर ही है-तद्वत् जीव की प्रतिष्ठा स्वयं जीव है-ईश्वर के पेट में रहता हुआ भी जीव अपनी स्वतन्त्र प्रतिष्ठा रखता है। बतलाइए-इन दोनों में से जीवेश्वर में कौनसा सम्बन्ध है ? ईश्वर में उसकी प्रतिष्ठा है-अर्थात् ईश्वरप्रतिष्ठा ही उसकी प्रतिष्ठा है-अथवा ईश्वरवत् वह स्वमहिमा में-अपनी ही प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यदीश्वरः सर्वगतः स एकः सर्वप्रतिष्ठास्ति तदैष जीवः ।
तत्र प्रतिष्ठां लभतेऽथवाऽयं स्वे स्वे तु सर्वेश्वरवन्महिम्नि" ॥५१॥

१-मुण्डकोप० २।२।५।

इसका उत्तर हम एक प्रकार से दे चुके, फिर भी स्पष्टीकरण कर देते हैं-जबकि महेश्वर की व्याप्ति मे अलग कोई स्थान ही खाली नहीं है तो फिर वह जीव अपनी महिमा में क्योंकर रहे ? उसकी महिमा रहेगी कहाँ ? यदि ईश्वर की महिमा से कोई स्थान खाली होता तो अवश्य ही उस खाली जगह में जीव अपनी महिमा का प्रसार कर उसमें प्रतिष्ठित रह सकता था । परन्तु हम तो ब्रह्म को पहले ही व्यापक बतला आए हैं । तो बस, चूँकि महेश से अव्याप्त कोई स्थान नहीं मिलता है- सर्वत्र जर्रे-जर्रे में बिन्दु-बिन्दु में वह व्याप्त हो रहा है, अतएव यह जीव स्वमहिमा में हर्गिज हर्गिज प्रतिष्ठित नहीं माना जा सकता । खाली स्थान होता तब ही तो इसे अपनी महिमा के प्रसार करने का मौका मिलता । परन्तु जब बाँस ही नहीं है तो बाँसुरी ही कैसे बज सकती है ? हम आपसे पूछते हैं कि ईश्वर का जगत् ईश्वर से भिन्न है-अथवा अभिन्न । आपको विवश होकर कहना पड़ेगा कि ईश्वरजगत् ईश्वर से अभिन्न है । जब उसके ज्ञान से जगत् बना है तो फिर वह उससे भिन्न क्योंकर हो सकता है-जैसा कि **'ईश्वरबहिर्जगदैक्य'** प्रकरण में विस्तृतरूपेण बतला दिया गया है । तो जैसे ईश्वर में प्रतिष्ठित जगत् ईश्वर ही है । ईश्वर ही उस ज्ञानमय जगत् की प्रतिष्ठा है-तद्वत् यह जीव भी तो जगत् ही है । जीवों का निर्म्माता भी तो वही है । घटपटादि पदार्थ जैसे उससे उत्पन्न हो जगत् कहलाते हैं तद्वत् जीव भी औत्पत्तिकसम्बन्धेन उस ईश्वर के जगत् ही तो हैं । वे (घटपटादि) जड़ जगत् हैं-जीव चेतन जगत् है । दोनों जगत् हैं । वही ईश्वर दोनों का आत्मा है-दोनों की प्रतिष्ठा है । जैसे जड़ जगत् ईश्वर से अभिन्न है-तद्वत् चेतन जीवजगत् भी ईश्वर से अभिन्न ही मानना पड़ेगा । ईश्वर की प्रतिष्ठा ही जैसे जड़जगत् की प्रतिष्ठा है, तद्वत् ईश्वर की प्रतिष्ठा ही चेतन जीवजगत् की प्रतिष्ठा है । इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण ऐतदात्म्य ही है । हम जीव को कभी ईश्वर प्रतिष्ठा से बाहर नहीं देखते । घड़ा कभी मिट्टी से बाहर नहीं रह सकता-वस्त्र कभी तन्तु की मर्य्यादा को नहीं उलाँघ सकता । मिट्टी की प्रतिष्ठा ही घट की प्रतिष्ठा है, तन्तु ही वस्त्र की प्रतिष्ठा है । बस, इसी प्रकार से तादात्म्यतया ईश्वर ही जीव की प्रतिष्ठा है । पित्रापुत्रवत् कार्य्यकारणभाव तब माना जा सकता था जब पितावत् ईश्वर व्याप्य होता । पिता से अलावा स्थान बाकी है, अतएव पुत्र अपनी स्वतन्त्र संस्था कायम करने में समर्थ होता है । परन्तु यहाँ तो ब्रह्म से कोई स्थान खाली ही नहीं है-जिसमें कि जीव जी अपनी प्रतिष्ठा स्वातन्त्र्येण स्थापित कर सके । तात्पर्य कहने का यही है कि जीव स्वमहिमा में प्रतिष्ठित नहीं है-अपि तु, तादात्म्यात् घटमृत्तिकावत् ईश्वर की प्रतिष्ठा में ही प्रतिष्ठित है । ईश्वर की प्रतिष्ठा ही जीव की प्रतिष्ठा है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"न स्वे महिम्न्येष पृथङ्महेशाव्याप्तप्रदेशानुपलम्भहेतोः ।
यदीश्वरे तर्हि जगद्वदेते जीवा अपि स्युर्जगदैतदात्म्यात्" ।।५२।।

उसी ईश्वर से उत्पन्न होने वाले-उसी विज्ञानघन से उत्पन्न होने वाले अंशस्वरूप जीव उस ईश्वर से भिन्न क्योंकर हो सकते हैं ? वह ईश्वर अनन्तविज्ञानघन है । उसी के जरा-जरा से कतरे से यह जीव अपना स्वरूप कायम किए हुए हैं । मैं और मेरे सदृश अन्यान्यजीव उसकी जरा-जरा सी मात्रा हैं । उसी में हम चमक रहे हैं-उसी में लीन होते रहते हैं । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"तदेतत् सत्यं–यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" ।।[1]

एक प्रज्वलित काष्ठ रश्मि में से जैसे जरा-जरासी अनन्तानन्त चिनगारियाँ चमचम करती हुई उत्पन्न होती रहती हैं एवं उसी में विलीन होती रहती हैं–तद्वत् उसी अक्षरब्रह्म में से चिनगारियाँ-स्वरूप अनन्त जीव उत्पन्न होते रहते हैं एवं उसी में लीन होते रहते हैं। उसी अव्यक्त से व्यक्तजगत् उत्पन्न होता है–उसी अव्यक्त पर व्यक्त जगत् ठहरा रहता है एवं उसी अव्यक्त में लीन हो जाता है इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

"अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना" ।।[2]

उसी विज्ञानघन अव्यक्त परमप्रजापति के अंशों से मैं और मेरे जैसे अन्य जीव पृथक्-पृथक् उसी परमप्रजापति पर चमक रहे हैं। ईश्वर समष्टि का नाम है, जीव व्यष्टि का नाम है। जो मात्रा का समूह है–महामात्रा है–उसी का नाम ईश्वर है एवं एक-एक मात्रा का नाम जीव है, बस, ईश्वर और जीव में समष्ट्यात्मक और व्यष्ट्यात्मक ही तो भेद है जो कि वास्तव में अभेद ही है। अनेकों वृक्षों की समष्टि को ही **'वन'** कहते हैं। हजारों मनुष्यों के समूह को ही सेना कहते हैं, ५०० (पांच सौ) घरों की समष्टि का नाम ही–**'ग्राम'** है। ५०० शहरों की समष्टि का नाम ही राष्ट्र है। १०० राष्ट्रों का नाम ही महाराष्ट्र है। ऐसे-ऐसे अनन्तानन्त राष्ट्रों का नाम ही विश्व है। विश्व ही का नाम ईश्वर है। ऐसी हालत में हम आपसे पूछते हैं कि यदि वृक्षों को, मनुष्यों को, घरों को, शहरों को, राष्ट्रों को, महाराष्ट्रों को एक एक करके निकालते जाएँगे एवं अन्ततोगत्वा सबको निकालते जाएँगे तो वन, सेना, ग्राम, राष्ट्र, महाराष्ट्रादि का स्वरूप क्या रह जाएगा ? 'कुछ नहीं'–इसके अलावा इस प्रश्न का उत्तर आपके पास कोई नहीं है। इसीलिए तो हम जीव और ईश्वर में अभेद मानते हैं। जीवसमष्टि का नाम ही तो ईश्वर है। वृक्षसमष्टि का नाम ही तो **'वन'** है। घरसमष्टि का नाम ही तो ग्राम है। ग्रामसमष्टि का नाम ही तो राष्ट्र है, राष्ट्रसमष्टि का नाम ही तो महाराष्ट्र है–महाराष्ट्रसमष्टि का नाम ही तो विश्व है। विश्व ही तो ईश्वर है। ऐसी हालत में जीव ईश्वर में पृथक्त्व क्योंकर हो सकता है ? वन वृक्षसमष्टि का नाम है, महामात्रा का नाम है–वृक्ष, उस समष्ट्यात्मक वन के अन्तर्गत व्यष्ट्यात्मक एक, वृक्ष का नाम है। ईश्वर जीवसमष्टि का नाम है। महामात्रा का नाम है-जीव, उस समष्ट्यात्मक ईश्वर के अन्तर्गत रहने वाले व्यष्ट्यात्मक ज्ञानरश्मि का नाम है। क्या इतना समझाने पर भी आपके सर पर त्रिसत्यत्व का ही भूत सवार है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

१–मुण्डकोप० २।१।१। २–गीता २।२८।

"अनन्तविज्ञानघनः स ईशस्तस्यैव मात्राभिरिमे तु जीवाः ।
अहं परे चेति पृथक्तया स्युः समष्टितद्व्यष्टिकृतोऽत्र भेदः" ।।५३।।

ब्रह्मणस्पति के सोम को जबकि उसमें चिदंश मिल जाता है–'प्रज्ञान' कहने लगते हैं । इस प्रज्ञान में जब चिदनुगृहीत सौरप्राण मिलता है–तो वही प्रज्ञान विज्ञान कहलाने लगता है । दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु हैं, परन्तु अविनाभूत हैं- इसीलिए प्रज्ञान को विज्ञान कह दिया जाता है । वास्तव में दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं–इसीलिए–**'स वा एष आत्मा (प्रज्ञानात्मा) विज्ञानात्मना संपरिष्वक्तः'**–यह कहा जाता है ।

इन सबका विशद विवेचन इसी ग्रन्थ के जीवस्वरूपनिर्णय में कर दिया गया है । प्रकृत में केवल इतना ही बतलाना है कि ईश्वरज्ञानगत चिदंश (चिन्मात्राएँ) बुद्धि द्वारा गृहीत होकर-धृत होकर ईश्वरसमता को प्राप्त हो जाते हैं ।

प्रज्ञान एक प्रकार का पानी है–इसी में चेतना का प्रतिबिम्ब पड़ता है । परन्तु खाली प्रज्ञान मैला पानी है–जब तक इसका सम्बन्ध विज्ञान से नहीं हो जाता तब तक इसमें स्वच्छता नहीं आती एवं जब तक स्वच्छता नहीं आती तब तक प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता । बात ठीक है–मैले पानी पर–मैले काच पर सूर्य्य के व्यापक प्रकाश का–रश्मि का प्रतिबिम्ब क्योंकर पड़ सकता है ? प्रतिबिम्ब पड़ता है–प्रज्ञान पर ही, परन्तु विज्ञानसंपृक्त पर । विज्ञान को कहते हैं- बुद्धि, अतएव प्रज्ञानधृता न कह करके प्रकृत में 'बुद्धिधृता' कहा गया है। पदार्थसंयोग से जहाँ बुद्धि का स्वरूप बना कि उसी समय सर्वत्र बिन्दु-बिन्दु पर व्यापक चित् का प्रतिबिम्ब उस पर पड़ा । चिदंशग्राहिणी बुद्धि ही है । जिसका विज्ञान स्वच्छ रहता है–वह उतना ही अधिक तेजस्वी होता है । बुद्धि इन्हीं सोम-सौर प्राणादि पदार्थों के योग से बनती है । जहाँ इन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध हुआ कि बुद्धि बनी । बुद्धि बनी नहीं कि चित् का प्रतिबिम्ब उस पर पड़ा नहीं । जिस जड़ बोर (बेर) को हम खाते हैं–अभी तक उसमें बुद्धि नहीं है–वह सर्वथा जड़ है, परन्तु कालान्तर के बाद जब वहाँ पदार्थसंयोग से बुद्धि बन जाती है तो उसी समय उसमें चेतना प्रतिबिम्बित हो जाती है । उसी समय उसमें लटें पैदा हो जाती है । बस, इस प्रकार बुद्धि बनती रहती है एवं बिगड़ती रहती है । उसके साथ ही चित्-शक्ति चमकती रहती है एवं बुद्धि के साथ ही विलीन होती रहती है। ईश्वर को ओम्-स्वरूप बतलाया था । उसे ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय भेद से त्रिवृत् बतलाया था । बस, बुद्धि द्वारा धृत चिदंश भी उसी ईश्वर के समत्व को प्राप्त हो जाते हैं । जो चिदंश बुद्धि द्वारा धृत होता है–वह तो ज्ञानकन्दल बन जाता है–अर्थात् वह तो ज्ञाता बन जाता है–एवं उस प्रतिबिम्बित् चित् से चारों ओर जो किरणें निकलती हैं–वही ज्ञान है एव मन से परावर्तित हो जो ज्ञान रश्मियाँ आती हैं–वही ज्ञेय है । इस प्रकार से बुद्धि द्वारा धृत चिदंश ईश्वररूप साम्य में आ जाते हैं एवं तद्वत् ही (ईश्वरवत्) विषय का निर्म्माण करने लगते हैं । वह चिदंश अपना अन्तर्जगत् स्वतन्त्र बनाते हैं । कहने का तात्पर्य्य यही है कि ईश्वरवत् सारे धर्म्म बुद्धिधृतचिदंशों में अर्थात्–जीवों में आ

जाते हैं। इसीलिए तो इन्हें 'अहम्' इस नाम से पुकारा जाता है। ये जीव चिदाभासमय समझने चाहिएँ। चित् के प्रतिबिम्ब के आभास का नाम ही जीव है। ऐसी हालत में हम त्रिसत्यवादियों से पूछते हैं कि क्या अब भी आप उसी त्रिसत्य का सपना देख रहे हैं ? अब भी आपकी महानिद्रा आप से बिदा नहीं हुई ? जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"तदीश्वरज्ञानगताश्चिदंशा बुद्धया धृता ईश्वररूपसाम्यम्।
आयान्ति तद्वद् विषयं भजन्ते ते स्युश्चिदाभासमया हि जीवाः" ॥५४॥

यदि अब भी आप नहीं समझे हैं तो दृष्टान्त से समझिए—

ध्यान दीजिए-आकाश में एक सूर्य्य चमक रहा है। उस सूर्य्य का प्रकाशमण्डल इस पृथिवी को अपने पेट में लेते हुए बडी दूर तक जा रहा है। करीब-करीब शनिकक्षा तक सूर्य्य का प्रकाशमण्डल है–इसी मण्डल को वेद में **'बृहत् साम'** कहते हैं-इसे ही नहीं कहते अपि तु, जितने भी ज्योतिष्मान् पदार्थ हैं उन सबके प्रकाशमण्डल को बृहत्साम कहते हैं एवं जितने भी रूपज्योतिष्मान् (पृथिवी आदि) पदार्थ हैं–उन सब के मण्डल को **'रथन्तर'** साम कहते हैं। प्रकृत में कहना हमें यही है कि सूर्य्य का जो प्रकाशमण्डल है–वह एक है- वह चारों ओर व्याप्त हो रहा है। अब आप दूर-दूर के फासले पर एक दो हजार काच के टुकड़े रख दीजिए एवं दो हजार घड़े पानी भरकर रख दीजिए–बस, आप देखेंगे कि उसी समय एक ही सूर्य्य उन काचों के टुकडों और पानी भरे घड़ों में भिन्न-भिन्न रूप से चमकने लगेगा। एक ही सूर्य्य दो हजार सूर्य्य बनकर भिन्न-भिन्न स्वरूप से चमकने लगेगा। हम पूछते हैं कि क्या सूर्य्य अनन्त हैं ? क्या यह प्रतिबिम्बित सूर्य्य उस आकाशस्थ व्यापक सूर्य्य से विजातीय है, अलग है, भिन्न है। अरे भाई ! वही सूर्य्यप्रकाश सर्वत्र भरा हुआ है। उससे एक बिन्दु भी खाली नहीं है। केवल उसका ग्रहण करने वाले पदार्थ का अभाव है। काच के टुकड़े के आने से फोरन वह वहीं पर रहने वाली रश्मि से प्रतिबिम्बत हो चमक पड़ता हैं। क्या काच कोई उस सूर्य्य से भिन्न नया सूर्य्य बनाता है ? हर्गिज नहीं। एक ही सूर्य्य पानी और भिन्न-भिन्न काच के टुकडों पर प्रतिबिम्बित हो, बुद्धिस्थानीय आदर्श द्वारा धृत हो सूर्य्यसमान संस्था को कायम करता हुआ भिन्न-भिन्न स्वरूप से चमकने लगता है। वास्तव में सारे सूर्य्य वही तो है। तो बस, जैसे आदर्शभेद से, जलपात्रभेद से सूर्य्य पृथक्-पृथक् प्रतिभासित होने लगता है–तद्वत् ही बुद्धिधृत चिदाभासभिन्नता प्रतिभासित होने लगती है। एक ही चित् ग्राहकभेद से नाना स्वरूपों में परिणत हो जाता है जैसे–प्रतिबिम्बित सूर्य्य परस्पर सर्वथा भिन्न होते हुए उस सूर्य्य से अभिन्न हैं-तद्वत् प्रज्ञानधृत चिदंश (जीव) परस्पर भिन्न होते हुए भी ईश्वर से अभिन्न हैं। जैसे एक काच के नष्ट हो जाने से अन्य प्रतिबिम्बों का कुछ नहीं बिगड़ता–जैसे कि एक घट के नष्ट हो जाने से अन्य घटप्रतिबिम्बों का कुछ नहीं बिगड़ता--तद्वत् ही एकबुद्धि के नष्ट हो जाने से--अन्य प्रतिबिम्बों का कुछ भी नही बिगड़ता। सब वृत्तियाँ स्वतन्त्र हैं। परस्पर सर्वथा भिन्न हैं, परन्तु ईश्वर से अभिन्न हैं। प्रकृत में कहना हमें इतना ही है कि एक ही सूर्य्य का विकाशमण्डल आदर्शभेद से एवं जलपात्रभेद से भिन्नतया प्रतिभासित होने

लगता है-तद्वत् एक ही चित्-एक ही परम प्रजापति बुद्धिस्वरूप आदर्शभेद से भिन्नतया प्रतिभासित होने लगता है। वास्तव में एक ही परम प्रजापति है। सारे जीव वही है। सारे प्रतिबिम्ब सूर्य्य ही है। हम त्रिसत्यवादियों से पूछते हैं कि कहिए! आपका संशय मिटा या नहीं? यदि नहीं मिटा तो और सुनिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है--

"यथास्य सूर्य्यस्य विकाशमण्डलं ह्येकं तदादर्शविभेदतः पृथक्।
विभिन्नपात्रेषु जलेषु भेदतो भायाच्चिदाभासविभिन्नता तथा" ॥५५॥

यह जो सूर्य्यबिम्ब दीख रहा है-उससे चारों ओर समानरूपवाले सूर्य्यबिम्ब फैल रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ में दो प्रकार का अग्नि रहता है-चित्य और चितेनिधेय। जो पिण्डाग्नि है-उसे तो चित्य किंवा मर्त्याग्नि कहते हैं एवं जो उस पिण्ड से निकलकर बाहर तक वषट्कारपर्य्यन्त जो अग्नि वितत रहता है-उसे चितेनिधेय किंवा अमृताग्नि कहते हैं। दोनों मिलाकर एक प्रजापति का स्वरूप कहलाता है-इसमें आधाभाग मर्त्य है एवं आधा अमृत है। अर्थात् आधा पार्ट चित्य अग्नि का है-आधा चितेनिधेय अग्नि का है। इसीलिए-**'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत् अर्द्धममृतम्'**-कहा जाता है। पिण्ड का कभी न कभी नाश होता ही है, अतएव उस पिण्डाग्नि को मर्त्याग्नि कहा जाता है। इस पिण्ड के केन्द्र से बद्ध होकर ऊपर की ओर अमृताग्नि वितत होता है। वैदिक परिभाषा के अनुसार प्रत्येक पदार्थ में पुरुष-पद और पुनःपद-ये तीन पदार्थ रहते हैं। इन्हीं तीनों को आत्मा-प्रजा और विभूति शब्द से भी कहा करते हैं। जो केन्द्रस्थ प्रजापति है-जिसके लिए कि **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'**-यह कहा जाता है-वह तो आत्मा है एवं पिण्ड उस आत्मा की प्रजा है-इसका चूँकि आत्मा अधिष्ठाता है, अतएव इसे प्रजापति कहते हैं। सात पुरुषों के मेल से जो एक आग्नेयस्वरूप बनता है-वही प्रकृत में प्रजापतित्वेन अभिप्रेत है-जिसका कि विशद विवेचन करना प्रकृत से दूर जाना होगा। इसी के लिए-**'स वै सप्तपुरुषः पुरुषः'**-कहा जाता है। इस पिण्ड के बडी दूर तक जो एक अमृताग्नि-मण्डल है-उसे ही विभूति कहते हैं--इसी को महिमा भी कहते हैं। इस महिमामण्डल में वेद-लोक-प्राण-नाड़ी-भूत और मनोता-ये ६ पदार्थ रहते हैं-जिनका कि विस्तृत विवेचन गीतारहस्य में किया हुआ है।

इनमें से सिर्फ वेद का प्रकृत से सम्बन्ध है। जिस वस्तु का हम प्रत्यक्ष करते हैं-उसमें प्रश्न होता है कि वह वस्तु हमारे पास आती है-किंवा वस्तु पर आँख जाती है? कदाचित् कहो कि सत्तासिद्ध वस्तु ही हमारे पास आती है तो यह कह नहीं सकते-क्योंकि यदि वस्तु हमारे पास आती तो दो हजार आदमियों के एककालावच्छेदेन देखने पर जरा-जरासी कम होती हुई सारी वस्तु नष्ट हो जाती। परन्तु २० हजार आदमियों के देखने पर भी वह वस्तु ज्यों कि त्यों रहती है-इससे मानना पड़ता है कि वह वस्तु हमारे पास नहीं आती। अपि च-यदि वस्तु ही हमारे पास आती तो फिर वह हमें उतनी दूर न दिखलाई देती--अपि तु, हमारी आँख में दिखलाई पड़ती, अपि च-वस्तु ही यदि हमारे ज्ञान में आती तो मारे उसके बोझ के हमारी आँख ही फूट जाती। कदाचित् कहो कि हमारी आँख वहाँ तक ज़ाती है-तो सो बात भी नहीं बन सकती। यदि हमारी आँख ही विषय पर जाती तो फिर हम

अन्धकार में पड़े हुए घट को भी देख लेते-परन्तु नहीं देखते-इसमें मानना पड़ता है कि न आँख विषय पर (पिण्ड पर) जाती है-न विषय (पिण्ड) आँख पर आता है। तो ऐसी हालत में प्रश्न होता है कि फिर हमें दिखलाई क्या पड़ता है ? बस, इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर 'वेदत्रयी' हैं। ३३ तक वितत होने वाले इसी वेदत्रयी की हमें उपलब्धि होती है। उपलब्धि ही को वेद कहते हैं। जिसका वेद है-उसकी उपलब्धि है-जिसका (शशशृङ्ग का) वेद नहीं है, अतएव उसकी उपलब्धि नहीं है। यह वेद पिण्ड से बाहर ३३ तक वितत रहता है, जिसका कि विशद विवेचन **'वेदत्रयीरहस्य'** नाम के ग्रन्थ में किया गया है। प्रत्येक वस्तु में दो प्रकार का अग्नि रहता है-यह हम बतला आए हैं। बस, उनमें से ३३ तक वितत होने वाला जो अमृताग्नि है-वही वस्तु का प्रत्यक्ष करवाता है। पिण्ड स्पृश्यमण्डल है, दृश्यमण्डल नहीं। दृश्यमण्डल महिमामण्डल है-वेदमण्डल है। प्रत्यक्ष अमृताग्निमण्डल का-महिमामण्डल का हुआ करता है-न कि प्रजा (पिण्ड) का। वस्तु के पिण्ड के व्यास (डायमिटर) से सूच्यग्र होता हुआ वर्गमूल के कारण तीन-तीन बिन्दु कम होता हुआ-उसी वस्तु के आकार का जो एक अग्निसूच्यग्रमुख होता हुआ बाहर की ओर जाता है-उसे ही-**'ऋक्'** कहते हैं। अग्नि ही ऋक् है। पहला जो पिण्ड है-वह सबसे बडा है-दूसरा उसी के आकार का उसी के पेट में उससे तीन बिन्दु छोटा है। उसके आगे का उससे छोटा है, उसके का उससे छोटा है। यहाँ तक छोटा होते-होते वह एक बिन्दु पर समाप्त हो जाता है। बस, यही पदार्थप्रत्यक्ष की परम सीमा है। हम किसी पदार्थ को देखते हुए दूर हटते जाएँ--हटते-हटते जब वह पदार्थ दीखना बन्द हो जाए तो बस, समझ लो यही ऋक् की परम सीमा है। उस पिण्ड के माफिक ही जो उस ३३ तक उत्तरोत्तर छोटा होता हुआ जो पिण्ड है-उसी का नाम-ऋक् है। मूर्त्ति को ही ऋक् कहते हैं। इसी को १००० बिन्दुओं में बाँट रखा है। बाँट रखा है-हजार बिन्दुओं में, परन्तु हैं-अनन्त। वेद प्रश्न करता है कि-**'किं तत् सहस्रमिति'**-स्वयं उत्तर देता है-**'इमे लोका, इमे वेदा, अथो वागिति ब्रूयात्'**-वेद ही साहस्री कहलाता है-वेदसाहस्री, लोकसाहस्री भूतसाहस्री-ये तीन ही तो सब कुछ हैं। हाँ तो हम बतला रहे थे कि मण्डल तक जाने वाली जो पिण्डमूर्त्तियाँ हैं-उन्हें ही **'ऋक्'** कहते हैं एवं जहाँ वे मूर्त्तियाँ एकसी-एकमण्डल में आती हैं-उन्हें **'साम'** कहते हैं। जिस बिन्दु पर हम खड़े हुए हैं-उस पर से एक चौतरफ गोलमण्डल बनाया जाय एवं उसी पर सारे मनुष्य उसको देखें-तो वह सबको एक आकारयुक्त दिखलाई पड़ेगा एवं उसके आगे की बिन्दु पर यदि हमसब गोल सर्किल बनाकर खड़े हो जाएँगे तो वहाँ से सबको वह पदार्थ एकसा दिखलाई पड़ेगा। बस, वह साम ऋचा के समान मण्डल पर रहता है, अतएव उसके लिए **'ऋचा समं मेने'** कहा जाता है। तात्पर्य्य यही है कि उस ऋचा के (मूर्ति के) किसी खास स्वरूप से चौतरफ जो मण्डल बनता है-जिस पर की खड़े रहने से सभी को वह वस्तु एकाकार दिखलाई पड़ती है-उस मण्डल का नाम ही साम है। यह मण्डल कुल एक हजार होते हैं। इसी संकेत के लिए सामवेद की एक हजार शाखाएँ बतलाई जाती हैं-**'सहस्रवर्त्मा सामवेदः'**। अपि च-जितना व्यास होता है-उस व्यास को तिगुना करने से उस वस्तु की गोलाई आ जाती है। व्यास ही को ऋक् कहते हैं-मण्डल को साम कहते हैं चूंकि साम-व्यास से अर्थात् ऋचा से तिगुना रहता है, अतएव **'त्र्यृचं साम'** कहा जाता है। जितने समय में तीन ऋचा बोली जाती हैं-उतने समय में जब एक ऋचा बोली जाती है तो वह साम गान कहलाता है-इसका यही रहस्य है। वह साम और ऋक् बिलकुल **स्थिर**

हैं-दोनों ही नपुंसक कहलाते हैं। साम प्राणस्वरूप है-अतएव इसे आदित्य भी कहते हैं-ऋक् अग्निस्वरूप है-इसीलिए अग्नि से ऋग्वेद की उत्पत्ति मानी जाती है। दोनों स्थिर हैं-इनके बीच में जो एक पदार्थ हैं-वही यजुः कहलाता है-जो कि वायुस्वरूप है। यजुः में 'यत्' ओर 'जू'-ये दो हिस्से हैं। इनमें से यत् नाम वायु का है। इस वायु के प्रतिक्षण में होने वाले व्यापार से ही पिण्डसत्ता रहती है। इसी यजुः को पुरुष कहते हैं।

एक ही अग्नि निबिड-तरल-विरल भेद से अग्नि-वायु-आदित्य तीन स्वरूपों में परिणत होता हुआ ऋक्-साम-यजुः की उत्पति का कारण बनता है-इसी अभिप्राय से भगवान् मनु कहते हैं—

"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋग्यजुःसामलक्षणम्" ॥[1]

कहने का तात्पर्य्य यही है कि पदार्थप्रत्यक्ष वितानवेद से ही हुआ करता है। परन्तु इतना और समझ लेना चाहिए कि इस वेद का आगमन होता है-सूर्य्य से ही। सूर्य्य ही वेदत्रयीघन है। वही सारे पदार्थों में वेदत्रयी प्रदान करता है। उसी के कारण यच्चयावत् पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। वही सबका आत्मा है। उसी की किरणें प्रत्येक पदार्थ में वेदत्रयी उत्पन्न कर उस पदार्थ का स्वरूप बतलाती हैं। इसी अभिप्राय से **'त्रयी वा एषा विद्या तपतीति'**[2]-कहा जाता है। जब तक सूर्य्य रहता है-तभी तक पदार्थ-प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि प्रत्यक्ष होता है-वेदत्रयी का, वेदत्रयीप्रदाता है-सूर्य्य, अतएव रात्रि में पदार्थ-प्रत्यक्ष नहीं होता है। सूर्य्य की रश्मिएँ पदार्थाकाराकारित हो प्रतिफलित होकर जब हमारी आँख पर आती हैं-तभी वस्तु का प्रत्यक्ष होता है-अन्यथा नहीं। हाँ तो हम बतला रहे थे कि सूर्य्य से सूर्य्य के समानरूप वाले तीन-तीन बिन्दु उत्तरोत्तर कम होने वाले-चौतरफ वितत रहते हैं। बस, इन्हीं को ऋक् कहते हैं-यही मूर्ति है। प्रत्यक्ष इसी का होता है एवं जो एक मण्डल बनता है-वह साम है। यही तेजोमण्डल कहलाता है एवं इन स्थिर ऋक्-साम के बीच में जो एक गतिस्वरूप अग्नि का तरलावस्थात्मक वायु रहता है-वही यजुः कहलाता है। इसी अभिप्राय से भगवान् वेदपुरुष कहते हैं—

"ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः। सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्। सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्" ॥[3]

पृथिवी से १३ हजार गुणा बडा भी सूर्य्य वर्गमूल के कारण तीन-तीन बिन्दु कम होता हुआ हमारे पास वह ६ अंगुल का ही आता है। यदि हमारे से आगे मंगल के लोक में जाके देखा जाय तो तो वहाँ ४ ही अंगुल का मिलेगा। उससे आगे देवसेना-बृहस्पति आदि में और ही छोटा मिलेगा एवं बुध में करीब-करीब १५ अंगुल का मिलेगा-क्योंकि बुध ही तो सूर्य्य के अत्यन्त समीप है। यह इसी ऋक् की महिमा है—

१-मनुस्मृति १।२३। २-शत० ब्रा० १०।५।२।२।
३-तै० ब्रा० ३।१२।६।१-२।

प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि सूर्य्य भी वेदमय है, अतएव इससे इसी के समानरूपवाले (तीन-तीन बिन्दु उत्तरोत्तर कम) आसमन्तात् चारों ओर सूर्य्यबिम्ब फैले हुए हैं। बस, आसमन्तात् व्यापकरूप से रहने वाले जो ये सूर्य्य हैं-वे ही काच में किंवा जल में प्रतिबिम्बित होकर पृथग्वत् प्रतिभासित होने लगते हैं। बस, उसी प्रकार हम हैं। अर्थात् उस परमेश्वर के व्यापक चित् का जब बुद्धि द्वारा ग्रहण हो जाता है तो हमारा स्वरूप बन जाता है। जितनी बुद्धियाँ होती हैं-उतने ही जीव बन जाते हैं। क्या सूर्य्य के प्रतिबिम्ब सूर्य्य से भिन्न हैं? क्या ईश्वर के प्रतिबिम्ब ईश्वर से भिन्न हैं? (पात्रभिन्नतावशात्) पानी भिन्न है-इसलिए सूर्य्यप्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न प्रतीत हो रहे हैं-तद्वत् ही प्रज्ञान भिन्न हैं-इसलिए चिदंश जीव भिन्न-भिन्न प्रतीत हो रहे हैं। पानी और बुद्धि भिन्न हैं-प्रतिबिम्ब भिन्न नहीं हैं। प्रतिबिम्ब तो उससे अभिन्न हैं। उपाधिभेद से जीवभेद है-उपाधिशून्य सारे जीव ईश्वर ही हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"सूर्य्याद्यथा सूर्यसमानरूपा बिम्बाः समन्तात् परियान्त्यनन्ताः।
त एव काचे च जले च दृष्टाः पृथग्वदाभान्ति तथा वयं स्मः" ॥५६॥

जहाँ तक सूर्य्य का प्रकाशमण्डल व्याप्त हो रहा है-वहाँ तक का सूर्य्य आत्मा एक है-वहाँ तक का सोलर सिस्टम एक है। प्रतिबिम्ब चाहे पश्चिम समुद्र (मेडिट्रेनियेन् सी) में हो, चाहे पूर्व समुद्र में हो-चाहे दक्षिण समुद्र में हो-वह परस्पर भिन्न होता हुआ भी उस सूर्य्य से भिन्न नहीं है। उसी प्रकाश का नाम तो बिम्ब है। क्या प्रकाश दो हैं-जिनसे कि बिम्ब दो हो जाएं? हर्गिज नहीं। सारे बिम्ब सूर्य्य से अभिन्न हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"व्याप्नोति यावत्तु विकाशमण्डलं स तावदात्मा रविरेक इष्यते।
प्राग्वारिधौ पश्चिमवारिधौ तथा भिन्नोऽपि बिम्बो न रवेर्विभिद्यते" ॥५७॥

इसी प्रकार से ज्ञानप्रकाश का जो एक सीगा है-वह एक है। यह जो अनन्त वैज्ञानिक मण्डल है-वह सूर्य्य विकाशमण्डलवत् एक है। वही परमेश्वर है-जो कि अविचालभाव से खड़ा हुआ है। जिसके लिए कि

"उर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्" ॥[1]

—यह कहा जाता है।

वह एक ही चिद्घन ईश्वर बुद्धिभेद से-उपाधिभेद से-चिदाभासतया (चित्प्रतिबिम्बतया) पृथक्-पृथक् दिखलाई देने पर भी उपाधिशून्य वह एक ही ईश्वर है। उपाधि से आपको भेद मालूम

1—गीता १५।१।

होता है । यदि उपाधि को छोड दें तो आपका भेदवाद जरा न रहे । पानी से रहित प्रतिबिम्ब सूर्य्य नहीं है तो क्या है ? बुद्धि को (उपाधि को) छोडकर जो शुद्ध चित् है-वह ईश्वर नहीं है तो क्या है ? 'उपाधीतर चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर ही है'-अन्त में आपको यही मानना पड़ेगा । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्ञानप्रकाशा इह यावदास्थितास्तावान् स एकः परमेश्वरः स्थितः ।
स वै चिदाभासतया पृथक् पृथग् दृष्टोऽप्युपाधीतर एक ईश्वरः" ॥५८॥

वह अनन्तविज्ञानघन ईश्वर अखण्डतया एकस्वरूप से स्थित रहकर साम्येन चारों ओर प्रतिभासित हो रहा है । कहीं भी इसका अभाव नहीं है । ऊपर-नीचे-दाएँ-बाएँ सब ओर वह पूर्णब्रह्म व्याप्त हो रहा है-इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है--

"ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्" ॥[1]

वह अखण्डरूप से एक रस होकर सदा भासता रहता है । परन्तु चिद्ग्राही के कारण अर्थात् बुद्धि के कारण-उपाधि के कारण जीव का कहीं कहीं कभी-कभी आभास हुआ करता है । बस, इसीलिए वह व्यापक अखण्ड भी चित्-खण्डवत् प्रतीति होने लगतो है । वास्तव में वह अब भी अखण्ड ही है । बुद्धि जड़ पदार्थ है उसमें दिग्देशकाल का परिच्छेद रहता है । इसी पर चित् का आभास पड़ता है, अतएव उपाधि के दिग्देशकालावच्छिन्न होने से ही वह व्यापक ईश्वर परिच्छिन्न मालूम होने लगता है । परन्तु विश्वास रखो ! चेतना कभी खण्ड में परिणत नहीं हो सकती । एक काच का टुकडा जयपुर में पड़ा है-एक बम्बई में पड़ा है । दोनों में सूर्य्य का प्रतिबिम्ब है, परन्तु इससे इन दोनों के बीच में सूर्य्य का विकासमण्डल है ही नहीं-यह बात थोड़ी ही मानी जा सकती है । उस काच के टुकड़े के और जयपुर वाले काच के टुकड़े के बीच में सूर्य्य नहीं है-यह बात कौन मानेगा ? इसी प्रकार जीव जीव के बीच में चेतना नहीं है-यह बात कौन मान सकता है ? जहाँ बुद्धि होती है-वहाँ वह चेतना प्रतिबिम्बरूपेण चमक पड़ती है । जहाँ बुद्धि नहीं रहती-वहाँ प्रतिबिम्बाभाव रहता हैं । जल के छोटे-छोटे दो सरोवर हैं । उनके बीच में १०-१० गज का अन्तर है । आकाश का प्रतिबिम्ब दोनों सरोवरों में पड़ रहा है । दोनों सरोवरों में नीला आकाश दिखलाई पड़ रहा है-तो क्या दोनों के बीच का स्थान आकाश से खाली है - बस, इसी प्रकार से चिद्ग्राहिणी बुद्धि के भेद से कहीं-कहीं कभी-कभी जीव का आभास होता है, अतएव च खण्डवत् प्रतीति होती है । वास्तव में नानात्व मिथ्या है-जीव और ईश्वर दोनों एक वस्तु हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

१-मुण्डकोप० २।२।११ ।

"अखण्ड एकः परमेश्वरः स्थितः साम्येन भात्येष समन्ततः सदा।
क्वचित् क्वचित् किन्तु कदाचिदासते चिद्ग्राहिणस्तेन विभाति खण्डवत्" ॥५९॥

हम देखते हैं कि किसी जीव की सात्त्विक प्रकृति हैं, किसी की तामसी प्रकृति है, किसी की राजसी प्रकृति है। सम्पूर्ण जीवों का जन्ममरण भिन्न-भिन्न है। एक मरता है–इससे दूसरे का कुछ नहीं बिगड़ता। एक हँसता है, परन्तु दूसरा रोता है। एक मालदार है–दूसरे को पेटभर अन्न भी नहीं मिलता। एक विद्वान् है–एक को अक्षर बाँचना भी नहीं आता। भला यदि जीवनानात्व सत्य नहीं होता तो फिर जीवों में परस्पर यह वैजात्य क्यों होता? यदि ये परस्पर अभिन्न होते तो एक के मरने से सब मर जाते, एक के खाने से सबका पेट भर जाता–एक के हँसने से सब हँसने लगते, परन्तु हम ऐसा सर्वथा नहीं देखते हैं, सबकी वृत्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं–ऐसी हालत में जीव एक ही क्योंकर माना जा सकता है? यह हेतु देकर जो सांख्यवादी जीवनानात्व की इच्छा करते हैं–जीव अभिन्न नहीं हैं–भिन्न-भिन्न हैं–नाना हैं–यह सिद्धान्त कायम करते हैं–हमारे ख़याल से यह उनकी बडी भारी भूल है।

'अहम्' अर्थ को ही हमने जीवात्मा बतलाया है। वह शुद्ध ज्ञानस्वरूप है–इस ज्ञानस्वरूप 'अहम्' में तो आपके सत्त्वादि का सर्वथा बाध है। ज्ञान निष्क्रिय है–मरना-जीना-सत्त्व-रज-तम-हँसना-रोना-इत्यादि सारी क्रियाएँ अर्थ पर होती हैं–न कि ज्ञान पर। ज्ञान तो शुद्ध शान्त अक्षुब्धरूप से स्थिर है। उस असंग ज्ञानात्मा से इन प्रपञ्चों का क्या सम्बन्ध? हम मानते हैं कि प्रतिबिम्बित सूर्य भी पानी के हिलने से हिलता मालूम पड़ता है। परन्तु विश्वास कीजिए–हिलते हुए पानी में प्रतिबिम्ब पानी से बिलकुल असंग है। आप कितनी ही तलवारें उस प्रतिविम्ब पर चलाइए–इससे उसका कुछ नहीं बिगड़ सकता। उसके लिए तो भगवान् कहते हैं—

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः" ॥[1]

बुद्धि नाना हैं–चेतना नाना नहीं हैं। भला शुद्ध निष्कल ज्ञान में कला क्योंकर हो सकती हैं? वह तो सत्त्वगुणादि से बहुत दूर है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"तमो रजः सत्त्वगुणातिरेकात् तज्जन्ममृत्युव्यतिरेकतश्च।
यज्जीवनानात्त्वमुशन्ति तन्न ज्ञानेऽहमर्थे हि तदर्थबाधात्" ॥६०॥

आत्मा की जो प्रकृति (बुद्धि) पहले-पहले प्रकरण में बतलाई है–उसी प्रकृति से–उसी बुद्धि से यह 'अहम्' अर्थधृत है। बुद्धि ने ही चित् का ग्रहण कर उसे जीवस्वरूप में परिणत कर रखा है। सत्त्व-

१–गीता २।२३-२४।

रज-तम-जन्ममरण सब कुछ उस बुद्धि में रहते हैं। जो कुछ करने का सीगा है-उसकी अधिष्ठात्री भगवती प्रकृति है। इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते" ॥[1]

अपि च—

"प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः" ।

जन्ममरण सब कुछ उसी प्रकृति का होता है। यह जन्ममरणादि चित् के कभी नहीं हो सकते हैं। बुद्धि बुद्धित्वेन एक है, परन्तु दिग्देशकालावच्छेदेन एक ही बुद्धि सत्त्वरजतम आदि भेद में परिणत हो जाती है। काच काचत्वेन एक है, परन्तु व्यक्तिरूपेण भिन्न है। मनुष्य मनुष्यत्वेन एक है, परन्तु व्यक्तिरूपेण सारे मनुष्य परस्पर भिन्न हैं। आकृति-प्रकृति-अहंकृति सबकी भिन्न-भिन्न हैं। बुद्धिभेद से ही सत्त्वरजादि भेद होता है। ब्रह्मणस्पति के सोम में चिदनुगृहीत सौरप्राण का जब प्रवेश होता है तो वह सोम (मन) विज्ञान कहलाने लगता है। इसी विज्ञान को बुद्धि कहते हैं। इससे बतलाना यह है कि बुद्धि जगत् है-आत्मा नहीं है। भेद इसका हो सकता है-न कि आत्मा का। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"या त्वात्मनः सा प्रकृतिः पुरोक्ता यया प्रकृत्याऽहमयं धृतः स्याम् ।
सर्वे गुणास्तत्र वसन्ति जन्मादयोऽपि तस्या न चितः कदापि" ॥६१॥

इसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

यह प्रकृति प्रत्यात्मा में भिन्न-भिन्न रूप से अपनी संस्था कायम करती है। अर्थात् दिग्-देश-काल भेद से एक ही प्रकृति भिन्न-भिन्न स्वरूप में परिणत हो चित् का ग्रहण करती है, अतएव सत्त्व-रजादि भेद होते हैं। ये भेद बुद्धि में होते हैं-बुद्धि दिग्-देश-काल भेद से नाना हैं, परन्तु बुद्धि जगत् है, आत्मा नहीं है। इन बुद्धियों में जो चित् चमक रहा है-वही-**अहम्** है। जो कि जन्मादिविकार से सर्वथा शून्य है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"प्रत्यात्म सैषा प्रकृतिर्विभिन्नोपतिष्ठते किन्तु जगत्तदस्ति ।
अथो चिदाभासत आमु योऽसावहं स जन्मादिविकारशून्यः" ॥६२॥

उपाधिभेद से (बुद्धिभेद से) भेद हो जाने पर भी चित् स्वयं अपने प्रातिस्विकरूप से कभी भिन्नता को प्राप्त नहीं होती है। चिदाभासगत जितने भी चिदंश हैं-वह एक चिदात्मा है जो कि

१-गीता ३।२७।

परमेश्वर नाम से प्रसिद्ध है। सारी वृक्षसमष्टि जैसे वन है–वैसे ही सारी जीवसमष्टि ईश्वर है। जीव और ईश्वर भिन्न वस्तु नहीं है–एक है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"उपाधिभेदादिह भेदक्लृप्तावपि स्वयं चिन्न विभेदमेति ।
सर्वे चिदाभासगताश्चिदंशा एकश्चिदात्मा परमेश्वरोऽस्ति" ।।६३।।

।। इति जीवेश्वरयोरैक्यप्रतिपादनम् ।।

——❀——

११–अथ प्रतिबिम्बसमर्थनम् ।

प्रतिबिम्बसमर्थन—

त्रिसत्यवादी पूर्वपक्ष करते हैं कि परमेश्वर के प्रतिबिम्बभूत जीव किसी प्रकार से भी उपपन्न नहीं हो सकते। "परमेश्वर का प्रतिबिम्ब बुद्धि पर पड़ता है–वही जीव कहलाने लगता है"–यह बात ईश्वर के विषय में लागू नहीं हो सकती। सूर्य्य का दृष्टान्त देकर आप हमें धोके में नहीं डाल सकते। सूर्य्य का प्रतिबिम्ब अवश्य ही बन सकता है, क्योंकि सूर्य्य से अलग उससे विजातीय काच किंवा पानी मौजूद होता है। चूंकि वह जल एवं काच विजातीय है, अतएव उस पर सूर्य्य का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। परन्तु परमेश्वर के विषय में आप प्रतिबिम्ब का नाम भी नहीं ले सकते। कारण- सुनिए! आपने इस बहिर्जगत् को ज्ञानस्वरूप बतलाया है। आपके हिसाब से बहिर्जगत् ईश्वर से विजातीय जगत् नहीं है–अपि तु, जगत् ईश्वर ही है। ईश्वर का ज्ञान ही जगत् बना हुआ है। एवमेव जीव एवं जीव का अन्तर्जगत् भी ज्ञान ही है। आपके मतानुसार सब कुछ ज्ञान ही ज्ञान तो है। ऐसी हालत में स्व में स्व प्रतिबिम्बित कैसे हो सकता है? भला सूर्य्य में भी कभी सूर्य्य का प्रतिबिम्ब पड़ा है। परन्तु हम जीवों को देखते हैं–इसलिए मानना पड़ता है कि जीव भी है, जगत् भी है एवं ईश्वर भी है तीनों सत्य हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अत्राहुरेके परमेश्वरस्य न संभवन्ति प्रतिबिम्बभूताः ।
जीवा यतो नास्ति जगत् न च स्वं स्वस्मिन् कदाचित् प्रतिबिम्बितं स्यात्" ।।६४।।

सूर्य्य से अतिरिक्त काच किंवा जल में परावर्तित जो रश्मि है–वह प्रतिबिम्ब का रूप धारण करती है। परन्तु आपके मतानुसार यहाँ तो परमेश्वर से अलावा परावर्त्तन का कोई कारण ही नहीं है–जिससे कि आपके बतलाए हुए प्रतिबिम्ब का समर्थन हो सके। आपके हिसाब से तो जगत् मिथ्या है। ज्ञान ही सत्य है। आप तो एक सत्य के ही अनुयायी हैं। बतलाइए आपका प्रतिबिम्ब क्योंकर उपपन्न होगा? जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"सूर्यातिरिक्ते मुकुरे जले वा रश्मिः परावर्तित एव रूपम्
दधाति किन्त्वत्र परेशतोऽन्यन्नो वै परावर्तनहेतुरस्ति" ॥६५॥

इस पूर्वपक्ष का यद्यपि हम उत्तर दे चुके हैं, परन्तु वादी महाशय तो अभिनिवेशी हैं। कितना ही समझाओ—उनकी समझ में नहीं बैठती। अच्छा तो सुनिए! हमने—**'जगत् नहीं है'**—यह बात कब कही थी? जगत् नहीं है—यह बात तो कभी हो ही नहीं सकती। **'नास्ति जगत् इति न'**—आप जगत् के लिए कहते हो, हम तो यहाँ तक कहने के लिए तय्यार हैं कि मैं जैसा देखता हूँ—वह वैसा ही है—उसमें जरा भी फरक नहीं है। घट-पट-वस्त्र-घर-मकान सब सच्चे हैं। जो घड़ा पानी पिलाकर मुझे तृप्त करता है—वह भी कभी मिथ्या हो सकता है? हर्गिज नहीं। **'यत्किञ्चिद् दृश्यते तन्मायिकम्'**—यह हमारा मत नहीं है। हम वेदानुयायी हैं। वेद का मत हमारा मत है। मनुष्यकल्पित अवैदिक मत हमारा मत नहीं है। श्रुति में एक भी स्थान पर जगत् को मिथ्या नहीं बतलाया गया। श्रुति कहती है कि—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**—ब्रह्म सत्यस्वरूप है, विज्ञानस्वरूप है, अनन्त है, आनन्दस्वरूप है। आगे जा कर ब्रह्म का परिचय कराती हुई श्रुति कहती है—**'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'**। भला ऐसी हालत में जगत् को मिथ्या सिवाय उन्मत्त के और कौन मान सकता है?

'जगत् नहीं है' इसका तात्पर्य्य न समझ कर आप उबल पड़े हैं। **'जगत् नहीं है'**—यह हमने जगत्ज्ञानेतरत्व के निरास के लिए कहा है। ज्ञान से अलावा कोई तत्त्व नहीं है—जिससे कि जगत्-निर्म्माण माना जाए—इसलिए ज्ञान ही से जगत् बना है—बस, जगत् नहीं है—इसका यही तात्पर्य्य है। चूंकि ज्ञान ही से जगत् बना है, अतएव वह उससे भिन्न नहीं है—यही-**'जगत् नहीं है'**—का तात्पर्य्य है—न कि जगत् मिथ्या है—यह तात्पर्य्य है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अत्रोच्यते नास्ति जगन्न तावद् यथात्र पश्यामि तथा तदस्ति।
ज्ञानेतरत्त्वं जगतो निरस्तं ज्ञानाद्विना सिद्धमिदं न भिन्नम्" ॥६६॥

कदाचित् कहो कि तुम न मानो इससे क्या हुआ—श्रुति तो जगत् मिथ्या मानती है—जैसा कि श्रुति कहती है—

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" ॥[1]

हम कहते हैं—इसका तात्पर्य्य भी आप नहीं समझे। इस जगत् का मिथ्यात्व जो हम मानते हैं—वह इसकी स्वसत्ता का निराकरणमात्र बतलाना है। ज्ञानसत्ता से जगत् की सत्ता भिन्न नहीं है—ज्ञान ही की सत्ता से जगत् सत् हो रहा है—मिट्टी की सत्ता से ही घट सत् कहलाता है—यही **'वाचारम्भणम्'**० का तात्पर्य्य है—न कि जगत् मिथ्या है—यह।

१—छान्दोग्योप० ६।१।४।

ज्ञान की सत्ता को लेकर ही सारा जगत् 'अस्ति' में परिणत हो रहा है। ज्ञानसत्ता से जगत्-सत्ता पृथक् नहीं है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यच्चाप्यसत्यत्त्वममुष्य मन्यामहे तदप्यस्य निजास्तितायाः।
निराक्रिया ज्ञानगतां तु सत्तामालम्ब्य सर्वं जगदेतदस्ति" ॥६७॥

वादी कहता है कि वाह! आपने भी बातें बनाकर हमें खुब चक्कर में डाला। कृपानिधान! हमारा प्रश्न तो प्रतिबिम्ब के ऊपर था। आपका माना हुआ जगत् भी तो ज्ञानस्वरूप ही है। प्रतिबिम्बोत्पत्ति तो विजातीय भाव स्वीकार करने पर ही बन सकती है। जगत् सत्य है फिर भी आपके मतानुसार वह ज्ञानस्वरूप है। ऐसी हालत में स्व में स्व प्रतिबिम्बित कैसे हो सकता है? यह हमारा पूर्वपक्ष ज्यों का त्यों बना हुआ है। बस, इसी का उत्तर देते हैं—

संसार के यच्चयावत् पदार्थों का प्रत्यक्ष सूर्य्यरश्मियों से ही होता है–यह वैज्ञानिक सिद्धान्त है। परावर्तित ज्ञान-रश्मियाँ ही वस्तु प्रत्यक्ष करवाती हैं। हम जो सूर्य्यपिण्ड को देख रहे हैं–वह प्रतिफलित किरणों ही का प्रताप है। सूर्य्य किरणें उत्पन्न करता है एवं वे किरणें जगत् के पदार्थों पर प्रतिफलित हो वापस सूर्य्य पर जाती हैं। वहाँ से प्रतिफलित होकर जो सूर्य्यरश्मिएँ आँख में आती हैं—वे ही सूर्य्य का प्रत्यक्ष करवाती हैं। एक दीपक रखा हुआ है। उसमें से चारों ओर किरणें निकल रही हैं। आप एक किरण को काच से रोक दीजिए–वहाँ से वह किरण चलेगी उसे फिर किसी दूसरे काच से रोक दीजिए –वह किरण सीधी दीपक में प्रतिबिम्बित हो जाएगी। कहने का तात्पर्य्य यही है कि व्यवहारपक्ष में अर्थात् लोक में हम स्व का स्व में प्रतिबिम्ब देखते हैं। बस, उसी प्रकार से परमेश्वर भी ज्ञानमय बुद्धि को पैदाकर उसमें स्वयं प्रतिबिम्बित हो जाता है। अतः प्रतिबिम्ब के ऊपर आप आक्षेप नहीं कर सकते। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"सृष्ट्वा यथार्को व्यवहारपक्षे रश्मि परावर्तयतेऽपि तस्मिन्।
तथा परेशः परमार्थपक्षे सृष्ट्वेदमत्र प्रतिबिम्बितः स्यात्" ॥६८॥

॥इति प्रतिबिम्बसमर्थनम्॥

——※——

१२–ईश्वरैकसत्यतास्थापनम्।

एक ईश्वर के सत्यत्व की स्थापना—

जीव-अन्तर्जगत्, ईश्वर-बहिर्जगत् का ऐक्य स्थापन कर दिया गया। जीव और जीवजगत्, ईश्वर और ईश्वरजगत् चारों एक वस्तु हैं। सत्य केवल ईश्वर ही है–जो कि जीव और जगत्स्वरूप में परिणत हो जाता है। एक ही ईश्वर जीव और जगत्स्वरूप में परिणत कैसे हो जाता है? यह बात समझ

लेने पर एकत्व का रहस्य अच्छी प्रकार समझ में आ जाता है। बस, एक ही ईश्वर जीवजगत्स्वरूप में परिणत कैसे हो जाता है? यह बतला दिया गया है। इस प्रकरण का विषय ईश्वरैकसत्यतास्थापन–करना है। परमेश्वर को सच्चिदान्दघन बतलाया जाता है–वह आनन्दघन है, सत्ताघन है, चिद्घन है। आनन्द-ज्ञान-सत्ता यही परमेश्वर का साक्षात्-स्वरूप है। इन तीनों में से भी यदि उसका असली स्वरूप पूछा जाए तो वह आनन्द ही है। आनन्द असली स्वरूप है–इससे कहीं यह नहीं समझ लेना चाहिए कि विज्ञान और सत्ता नकली स्वरूप हैं। आनन्द ब्रह्म का पहला स्वरूप है–इसी अभिप्राय से आनन्द को असली स्वरूप बतला दिया है। वही अर्द्धमात्रास्वरूप ज्ञानघन केन्द्र में से चारों ओर बाहर फैलता हुआ जगत्रूप में परिणत होता है, अतएव इसे आनन्द कहते हैं। 'आ (समन्तात्) **नन्दते वर्द्धते-इत्यानन्द:**'–वही ज्ञानकन्दल जब विकसित होता है तो जगत् कहलाने लगता है एवं जब मुकुलित होता है तो ब्रह्म कहलाने लगता है। विशुद्धस्वरूप का नाम आनन्द है। संसार में हम जितने भी रूप देख रहे हैं–वे सब उस ब्रह्म ही के तो रूप हैं। परन्तु इसका जो पहला स्वरूप है–वह आनन्द है–इसी बात को बतलाने के वास्ते–**'अग्र्यम्'** कहा गया है।

देवीभागवत में सारे प्रपञ्च को महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती–तीन भागों में विभक्त बतलाया है। जो महाकाली है–वह प्रलयस्वरूपद्योतिका है–महालक्ष्मी सृष्टिस्वरूपद्योतिका है एवं महासरस्वती मुक्तिसूचिका है। महाकाली का स्वरूप काला है–जिसे कि निरूपाख्य कृष्ण कहा जाता है। जिसके लिए भगवान् मनु कहते हैं—

"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः" ॥[1]

इसी निरूपाख्य कृष्ण के लिए जो सृष्टि से बाहर की वस्तु है–अर्थात् प्रलयावस्था है–**'तम आसीत् तमसा गूळहमग्रे'** कहा जाता है। एवं महालक्ष्मी का स्वरूप लाल है। वास्तव में लक्ष्मी का स्वरूप तो सफेद है। परन्तु जब महाकाली से अर्थात् तमोगुण से वह शुक्लरूप मिल जाता है तो उसका स्वरूप लाल हो जाता है। काली चद्दर में से यदि उस पार के सफेद रंग को देखा जाता है तो सफेद लाल दिखलाई पड़ता है। इसीलिए सायं-प्रातः का सूर्य्य लाल दिखलाई पड़ता है। इसी महा-लक्ष्मी को रजोगुणमयी कहते हैं। शुद्ध सत्त्व तम से मिलने पर रज कहलाने लगता है। यही संसार का स्वरूप है। महालक्ष्मी ही संसार है–महाकाली ही प्रलय है। रंग कुल दो ही हैं। काला और सफेद–बाकी के तो रंग मिश्रित अवस्था से बने हुए हैं। इसी महालक्ष्मी और महाकाली के स्वरूप को बतलाने के वास्ते परमेश्वर ने 'अहोरात्र' बना रखा है। रात्रि प्रलयस्वरूपिणी है–दिन महालक्ष्मी-स्वरूप है। बस, अहश्च–रात्रिश्च-अहश्च-रात्रिश्च–यह धारा अनवरत चलती रहती है। सृष्टि-प्रलय-सृष्टि-प्रलय–यह चक्र आद्यन्तरहित है। इस प्रकार महालक्ष्मी और महाकाली दोनों संसार की कोटि

१–मनुस्मृति १।५।

में हैं। परन्तु महासरस्वती मुक्तिप्रदात्री है। मलिन सत्त्व का-तममिश्रित सत्त्व का नाम महालक्ष्मी है एवं शुद्ध सत्त्व का नाम महासरस्वती है। यह महासरस्वती (विद्या) संसार के बाहर की वस्तु है। बस, यही हमारा ब्रह्म है। इसी शुद्ध सत्त्व को आनन्दैकघन को हम ब्रह्म कहते हैं। संसार गुणदोषमय है, परन्तु विश्वातीत सत्त्व सर्वथा निर्दुष्ट है-शुद्ध है-शान्त है।

प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि इस सच्चिदानन्दघन का पहला असलीस्वरूप ही आनन्द है। आनन्द उसे ही कहते हैं जो कि आगे बढता है-नयी-नयी वस्तु उत्पन्न करता है, परन्तु अक्षित रहता है। हजारों वस्तुएँ उत्पन्न करता है, परन्तु स्व-स्वरूप से उतना ही रहता है-जितना कि वस्तु निर्म्माण के पहले था। 'टुनदि समृद्धौ' से आनन्द बना हुआ है। पहले की वस्तु घटे नहीं-और उसमें अधिक आ मिले-वही समृद्धि कहलाती है। चूंकि आनन्द में आनन्द से उत्पन्न हो नयी-नयी वस्तुएँ शामिल होती हैं एवं स्वयं अक्षित-सुस्थ रहता है, अतएव हम इसे आनन्द कह लेने के लिए तय्यार हैं। वह आनन्द बाहर चारों ओर मण्डल बनाता है, परन्तु केन्द्र को नहीं छोडता-इसीलिए इसे सुस्थ कहा जाता है। जिसका केन्द्र विचाली होता है वह पदार्थ चलता हुआ कहलाता है। कुम्हार का चाक वेग से घूमता हुआ भी चलता हुआ भी केन्द्र को नहीं छोडता, अतएव वह सुस्थ कहलाता है। कहने का मतलब यही है कि चूंकि यही नित्यतत्त्व जगत् और जीवस्वरूप में परिणत होता हुआ भी अपनी मात्रा से कम नहीं होता एवं अनन्तानन्त वस्तुओं को उत्पन्न करके भी अक्षित रहता है एवं आगे की ओर चलता हुआ भी सुस्थ रहता है, अतएव हम इसे आनन्द कहते हैं। इसी अभिप्राय से कहा है—

"यात्यन्यदेशं त्वजहत् स्वदेशं विजायते किन्तु न हीयते तत्।
यदक्षितं स्रष्टृ यदेति सुस्थं तस्मात् तदानन्दपदं वदामः" ॥[1]

इस आनन्द के ज्ञान और बल ये दो अंश होते हैं। इसकी जो रश्मिएँ हैं-वह ज्ञानांश हैं एवं जो अभ्व है-वही बल है। बल और ज्ञान दोनों इसी आनन्द रस के अंश हैं। यह बल ही अवस्थाविशेष से सत्ता और शक्ति इन दो नामों से व्यवहृत होने लगता है। बलों की जो उद्बुद्धावस्था है-उसे तो शक्ति कहते हैं एवं बलों की जो उन्मुग्धावस्था है-उसे सत्ता कहते हैं। बलसमुच्चय का नाम सत्ता है-प्रत्येक बल शक्ति है। जब ऐसे-ऐसे अनन्तबलों का-अनन्त शक्तियों का एकत्र समुच्चय हो जाता है तो वही बल 'सत्ता' कहलाने लगता है। एक पुस्तक है-उसमें अनन्तशक्तिएँ हैं-दृष्टि को रोकने की उनमें शक्ति है-सूर्य्यकिरणों को रोकने की शक्ति है-स्थान को रोकने की शक्ति है-ये सारे बल ही बल हैं। बल ही को शक्ति कहते हैं, परन्तु जब ऐसे ऐसे अनन्त बल-अनन्त शक्तिएँ एकत्रित हो जाती हैं तो वही बलसमष्टि 'सत्ता' कहलाने लगती है। यह बल अनन्त प्रकार के होते हैं। प्रत्येक पदार्थ में एक बल तो ऐसा होता है जो कि उस वस्तु का आत्मा कहलाता है। जिस दिन वह आत्मबल उस वस्तु में से निकल जाता है—

१-द्रष्टव्य-गुरुवर श्री ओझाजीकृत 'संशयतदुच्छेदवाद' प्रथमकाण्ड मूलोपनिषत् श्लोक सं० ७।

उस दिन उस पदार्थ का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है एवं कई बल ऐसे हैं जो हरवक्त उसमें आते रहते हैं एवं निकलते रहते हैं एवं कई बल ऐसे हैं जो इस वस्तु की चीज नहीं बनकर वस्तु के साथ रहते हैं - उनका वस्तु बलों से कोई सम्बन्ध नहीं। पदार्थ के बनते ही वे स्वयं उसमें कूद पड़ते हैं। दिक्-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व इत्यादि बल इसी कोटि में हैं। गुरुत्व पदार्थ का धर्म्म नहीं है-केवल पृथिवी का आकर्षणमात्र है। इन सारे बलों को १-स्थायी, २-संचारी, ३-विभाव (आलम्बन), ४-उद्दीपन, ५-अनुभाव-इन पाँच सींगों में बाँट रखा है। बल क्या-क्या काम करते हैं? कितने प्रकार के हैं? इत्यादि बलरहस्य जानने के लिए श्रीगुरुप्रणीत '**सायन्सप्रदीप**' नाम का ग्रन्थ देखना चाहिए। यहाँ हमें सिर्फ बतलाना यही है कि एक-एक बल का नाम शक्ति है एवं बलसमष्टि का-शक्तिसमुच्चय का नाम सत्ता है। जलाने की शक्ति, मारने की शक्ति, बोझ उठाने की शक्ति-इत्यादि जो शक्तियाँ हैं-वे बलभेदेन पृथक्-पृथक् हैं एवं सत्ता शक्तिसमूह है। बलसमुच्चय को सत्ता कहते हैं-पृथक्-पृथक् बल को शक्ति कहते हैं। इसीलिए '**अर्थकारित्वं सत्ता**' कहा जाता है।

बलों की उन्मुग्धावस्था को सत्ता कहते हैं एवं उद्बुद्धावस्था को शक्ति कहते हैं। प्रत्येक बल प्रातिस्विकस्वरूप से शक्तिनाम से व्यवहृत होता है एवं अनन्तबलसमष्टि सत्ताशब्द से व्यवहृत होती है। शक्ति कहो या सत्ता कहो दोनों बल ही बल हैं। बस, शक्ति-सत्ता इन भेदद्वयों से युक्त बल और ज्ञान दोनों उस आनन्द (रस) ही के अंश हैं। क्या अंश अंशी से पृथक् हुआ करता है? जब आनन्द विकसित होता है तो जगत् और जीव कहलाने लगता है एवं जब प्रतिसंचरक्रियया मुकुलित होता है तो ब्रह्म कहलाता है। शुद्ध आनन्द को ब्रह्म कहते हैं एवं ज्ञान और बल को जीव-जगत् कहते हैं। भला उसी ब्रह्म से विवर्त्तरूपेण उत्पन्न होने वाले जीव और जगत् ब्रह्म से पृथक् क्योंकर हो सकते हैं? आनन्द ही को वैदिक परिभाषा में '**उक्थ**' कहते हैं। ज्ञानरश्मियाँ इस में से निकलती हैं-उठती हैं, अतएव इसे '**उक्थ**' कहते हैं एवं जो किरणें निकलती हैं जो कि इसका ज्ञानस्वरूप अंश हैं-वे '**अर्क**' कहलाती हैं एवं जो इसका बलांश है-वह '**अशिति**' कहलाता है। बस, उक्थ-अर्क-अशिति एतत्त्रय को ही 'ब्रह्म' कहते हैं। भला, ऐसी हालत में क्योंकर नानात्व हो सकता है? जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आनन्द एवेश्वररूपमग्र्यं ज्ञानं बलं द्वौ भवतस्तदंशौ।
याः शक्तयस्ता हि पृथग्बलानि समुच्चयाच्छक्तिघनस्तु सत्ता" ॥६६॥

उस आनन्द रसस्वरूप ब्रह्म की जो ज्ञानरश्मियाँ हैं-वे ही जीवस्वरूप में परिणत होती हैं-प्रज्ञान पानी पर:आसमन्तात् वितत रहने वाली ज्ञानरश्मियाँ ही प्रतिबिम्बित हो 'जीव' कहलाने लगती हैं। जैसे सूर्य्य का प्रतिबिम्ब सूर्य्य के माफिक अपनी किरणें निकालने लगता है-तद्वत् ही प्रतिबिम्बित जीव भी स्वातन्त्र्येण उक्थ-अर्क और अशिति-अपनी ये तीन संस्थाएँ कायम कर लेता है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि वे ही ज्ञानरश्मिएँ जीव बनी हुई हैं एवं जो आनन्द के अंशस्वरूप अनन्त बल हैं वे ही जगत्

बने हुए हैं - अर्थात् संसार के जितने भी पदार्थ हैं जिन्हें कि 'जड़' शब्द से व्यवहृत किया जाता है, वह ईश्वर का 'बलांश' है।

आनन्द का ज्ञान-अंश चेतनसृष्टि में अर्थात् जीवसृष्टि में परिणत होता है एवं बलांश अचेतन अर्थात् जगत्सृष्टि में परिणत होता है। भला ईश्वर के ज्ञान-बल अंश से उत्पन्न होने वाले जीव-जगत् उस ईश्वर से पृथक् क्योंकर हो सकते हैं? जीवसहित सारा जगत् ब्रह्म ही तो है। उसी आनन्द से जीवजगत्स्वरूप सारा प्रपञ्च उत्पन्न होता है--उसी पर ठहरता है-अन्त में उसी में लीन हो जाता है। मिट्टी से बना हुआ घड़ा मिट्टी पर ही प्रतिष्ठित रहता है, अन्त में उसी में लीन हो जाता है। बस, यही हालत इस जगत्प्रपञ्च की समझनी चाहिए। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति"–इति।[1]

भला ऐसी हालत में जीवजगत् को उस आनन्द से विजातीय पृथक्सत्तावाले क्योंकर माने जा सकते हैं? सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म तो है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ज्ञानानि जीवाः प्रभवन्ति सर्वे बलानि सर्वाणि जगन्ति सन्ति।
कथं नु तानीश्वरतः पृथक् स्युर्ब्रह्मैव सर्वं नु जगत् सजीवम्" ॥७०॥

ब्रह्म प्रकाशस्वरूप है-तेजस्वी पदार्थ है, अतएव स्वभाव ही से वह ग्राह्य और ग्राहक अपनी ये संस्था रखता है। वह ग्रहण भी करता है एवं ग्राह्य भी बनता है। ग्राहक और ग्राह्य-ये तो उस ब्रह्म का स्वरूप ही है। इसीलिए तो—

"ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा"।[2]

–यह कहा जाता है।

वह कन्दलस्थ ज्ञानघन आनन्द है एवं परितः निकलने वाली जो उसकी रश्मियाँ हैं–वे ही ग्राहक है एवं परावर्तित रश्मियाँ ग्राह्य हैं। ग्राहक ही ग्राह्य बना हुआ है। आनन्द ही से ज्ञान निकलता है-उसी से सत्ता का स्वरूप कायम होता है। ज्ञान ही ज्ञेय बनकर भासने लगता है। चूँकि ब्रह्म ग्राहक और ग्राह्य इन दो स्वरूपों में परिणत रहता है, अतएव सारा प्रपञ्च जीव और जगत् इन दो ही भेदों में परिणत

१–तैत्ति० उप० ३।६। २–वाक्यपदीय १।५५।

हुआ दिखलाई दे रहा है । ग्राहक के अंश से अर्थात् ज्ञान के अंश से जीवस्वरूप बना हुआ है एवं ग्राह्यांश से अर्थात् बलांश से जगत्स्वरूप बना हुआ है । कहने को जीव-जगत् में भेद है- वास्तव में जीव-जगत् में अणुमात्र भी भेद नहीं है । आनन्द-विज्ञान-सत्ता तीनों एक हैं । ज्ञान और सत्ता ब्रह्म का विवर्त्तमात्र हैं । लोहे से बनी हुई तलवार क्या लोहे से भिन्न है ? मिट्टी से बना हुआ घड़ा क्या मिट्टी से भिन्न है ? सूत से बना हुआ कपड़ा क्या सूत से भिन्न है ? तो बस, जैसे लोहे से बनी हुई तलवार लोहे से भिन्न नहीं हो सकती, मिट्टी से बना हुआ घड़ा मिट्टी से भिन्न नहीं हो सकता–ठीक इसी प्रकार विवर्त्त-रूपेण ब्रह्म से बना हुआ जीव और जगत् ब्रह्म से भिन्न कैसे हो सकते हैं ? वही मिट्टी घड़ा कहलाने लगती है–वही घड़ा टुकड़े-टुकड़े होकर **'ठीकरी'** कहलाने लगता है । उसी घड़े का पेंदा **'तवा'** कहलाने लगता है । उसी घड़े का नीचे का आधा हिस्सा 'तगरा' (आग रखने का पात्र) कहलाने लगता है । क्या ये अनन्त पदार्थ हैं ? मिट्टी से जुदे हैं ? कहने को अनन्त हैं–वस्तुतः सब एक हैं । भला ऐसी हालत में ब्रह्म-जीवजगत् मे भेद क्योंकर हो सकता है ? जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ग्राह्यं ग्रहीत्रित्थमिदं द्विधास्ति स्वभावतो ब्रह्म ततो द्विधेदम् ।
प्रदृश्यते जीवजगद्विभेदान्न वस्तुतो जीवजगद्विभेदः" ।।७१।।

जीव और जगत् दोनों एकप्रसूत हैं । अर्थात् दोनों की पैदाइश उसी ज्ञानस्वरूप आनन्दब्रह्म से है । इसीलिए मैं मानता हूँ कि सारा जगत् प्रत्ययनिष्ठ है एवं एक है एवं उस ब्रह्म से तादात्म्यापन्न ही प्रतिभासित हो रहा है । अर्थात् ब्रह्म से ही जीवजगत् बना है–जीव-जगत् दोनों ज्ञानस्वरूप ही हैं–इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जगत् कभी हमारे ज्ञान के बाहर प्रतिभासित होता ही नहीं है । हम जगत् को जब भी देखेंगे-ज्ञान से तादात्म्यापन्न ही देखेंगे । **'घटमहं जानामि'**–यही ज्ञान का स्वरूप है । जिस दिन जगत् ज्ञान में नहीं रहेगा–उस दिन ज्ञान ही तिरोहित हो जाएगा । भला ऐसा जगत् किंवा जीव ब्रह्म से भिन्न क्योंकर हो सकता है ? जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"जीवो जगच्चेत्युभयं तदेकप्रभूतमस्तीत्यत एव मन्ये ।
सर्वं जगत् प्रत्ययनिष्ठमेकं तादात्म्यमापन्नमिदं विभाति" ।।७२।।

उदयनाचार्यादि विद्वानों ने ईश्वरसिद्धि के लिए—

"क्षित्यङ्कुरादिकं कर्त्तृजन्यम्–कार्यत्वात्-घटवत् । तस्मादस्ति जगन्निर्माता कश्चिदीश्वरः" ।[1]

—इत्यादि अनुमान किए हैं । उनकी समझ से ईश्वर परोक्ष है । इसीलिए तो वे उसके लिए अनुमान करते हैं । किया करें–हमें उनसे कुछ नहीं कहना । हमारे हिसाब से ईश्वर के लिए अनुमान

१–न्यायसिद्धान्त मुक्तावली

करने की कोई आवश्यकता नहीं है। 'तू में मूं में खड्ग खम्भ में जहाँ देखो तहाँ राम'-हम तो इस सिद्धान्त को मानने वाले हैं। हम तो उस सच्चिदानन्दघन के साक्षात् दर्शन कर रहे हैं। तर्क से उसे सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह सच्चिदानन्दघन ईश्वर प्रतीकतया (अवयवत्वेन) आँखों से उपलब्ध है। वह मेरे नेत्रों के सामने खड़ा है-उसके लिए अनुमान कैसा? आप अनुमान से जिस ईश्वर को सिद्धकर उसकी उपासना करते हैं-वह भी तो प्रतीकतया ही करते हैं। एककालावच्छेदेन उस महास्वरूप की उपासना तो आप भी नहीं कर सकते। उसके एक अंग ही की तो उपासना हम-आप करते हैं। भला ऐसी हालत में हम यदि अवयवत्वेन ईश्वर का प्रत्यक्ष कर लेते हैं तो इसमें कौनसी बुराई है? आप जिन लौकिक पदार्थों (पुस्तक-घर-पर्वत-नदी) के लिए "हम इन्हें देख रहे हैं"-यह कह रहे हैं-उनका भी सर्वात्मना तो आपको प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है। पुस्तक-पर्वतादि जिस किसी भी पदार्थ को आप देखेंगे-उसका एक हिस्सा ही आपको दिखलाई पड़ेगा। फिर भी आप-"हमने पुस्तक को देख लिया"-यह कहते हैं। ऐसी अवस्था में जब प्रतीकतया हम उस ईश्वर का आँखों से प्रत्यक्ष कर लेते हैं तो हम अवश्य ही "हमने ईश्वर के दर्शन कर लिए"—यह कहने का दावा कर सकते हैं।

सत्ता-चेतना और आनन्द-यही तो उसका स्वरूप है। इन तीनों का अनुभव है। अनुभव नहीं साक्षात्कार हो रहा है। आपामर आविद्वद्वर सबको सत्ता 'है' का ज्ञान है। संसार के यच्चयावत् पदार्थों की सत्ता को आबालवृद्ध सब पहचान रहे हैं। घड़ा भी है-पुस्तक भी है-घोड़ा भी 'है' है-इस 'अस्ति' का-इस सत्ता का ज्ञान किसे नहीं है? एक छोटा सा बच्चा भी घोड़े को देखते ही चिल्ला उठता है कि अहा! यह घोड़ा खड़ा 'है'। एवं साथ में हम इन सब पदार्थों को जानते भी हैं। बच्चा भी 'है'-इसके साथ ही जानता हूँ-यह भी हम कहने के लिए तय्यार हैं। सत्ता के साथ उन सबका ज्ञान भी हमें होता है एवं ज्ञान के साथ ही एक प्रकार का आनन्द भी आता है। हम पुस्तक की सत्ता को देखते हैं-उसका ज्ञान है और उसके पढने से हमें आनन्द आता है। हम क्या -एक बच्चा घोड़े की सत्ता देखकर-उसका ज्ञानकर 'खुश' होता है। उसे भी उस घोड़े को देखने से आनन्द आता है और तो क्या? हम तो यहाँ तक कहने के लिए तय्यार हैं कि जिस दिन आनन्द की मात्रा कम हो जाएगी-उस दिन हमारी जिन्दगी ही नहीं रहेगी।

आनन्द ही हमारी जिन्दगी का साधन है। वेद कहता है-यदि यह जो आकाशस्वरूप विशाल आनन्द है- न होता तो मनुष्य कैसे अपनी तबियत बहला सकता था? **'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्'।**[1]

यदि स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में आनन्द नहीं रहता है तो गर्भ-स्थिति कभी नहीं हो सकती है। अपि च-दुःख से गर्भ गिर तक जाएगा। जिसके जीवन में आनन्द नहीं रहता-जिसे संसार के पदार्थों में आनन्द नहीं आता-जिसे शून्य ही शून्य दिखलाई पड़ता है-सिद्धान्त समझो कि वह जल्दी ही मरने वाला है। सुनने से-खाने से-पीने से देखने से-हर विषय से इसे आनन्द मिलता रहता है। जिस दिन

१-तै० उप० २।७।१।

आनन्द आना बन्द हो जाएगा–जिस दिन आनन्द की मात्रा क्षीण हो जाएगी–उस दिन जीवसत्ता ही नहीं रहेगी । भला ऐसा आनन्द क्योंकर परोक्ष हो सकता है ? सत्ता-विज्ञान-आनन्द ही ईश्वर का स्वरूप है । इन तीनों को ही मनुष्यों में से कौनसा मनुष्य स्फुटतया नहीं देखता । मनुष्य को क्या–प्राणिमात्र को–इनका साक्षात् दर्शन हो रहा है । भला ऐसे प्रत्यक्ष ईश्वर के लिए–'अनुमान' करना कहाँ तक ठीक कहा जा सकता है ? जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"न तर्कतः किन्तु स ईश्वरो मे प्रतीकतोऽन्वक्षमिवोपलब्धः ।
सत्तां परिज्ञानमथो सुखं वा नाद्धातमां पश्यति को जनेषु" ।।७३।।

यह सत्ता-ज्ञान-आनन्द सामान्य-विशेष भेद से दो प्रकार के हैं । विशेषसत्तासमष्टि से ही सामान्यसत्ता का स्वरूप बनता है–विशेष ज्ञान से ही सामान्य ज्ञान का स्वरूप बनता है, विशेष आनन्द से ही सामान्यानन्द का स्वरूप बनता है । जो सबसे छोटा विशेष है–वह अणु में रहता है–इसी के लिए **'अणोरणीयान्'** कहा जाता है एवं ऐसे ऐसे अनन्तानन्त विशेषों की जो एक महासमष्टि है–उसे ही सामान्य सत्ता कहते हैं–यह परासत्ता है–इसी के लिए **'महतो महीयान्'** कहा जाता है । एक विशेष ऐसा है–जिससे कोई फिर विशेष नहीं–उसी का नाम **'अणु'** है एवं एक सामान्य ऐसा है–जिससे कि कोई बडा नहीं है । दोनों छोर में दोनों नित्यतया स्थित हैं । इन दोनों के बीच में जितनी सत्ताएँ हैं–वे सब अपेक्षया सामान्या और विशेषा हैं ।

आप सत्ता को उत्तरोत्तर बढाते चले जाइए । उससे बडी इसकी सत्ता-उससे बडी इसकी सत्ता–इस प्रकार उत्तरोत्तर बडी करते चले जाइए । करते करते कहीं न कहीं इसकी परमावधि माननी पड़ेगी । बस, वह निर्विशेषा जो कि परासत्ता है–(यदि इससे भी बडी सत्ता होती तो यह उसकी अपेक्षा–विशेषा हो जाती–परन्तु चूँकि उससे बडी कोई अन्य सत्ता नहीं है, अतएव उसे निर्विशेषा कहा गया है) । इसी प्रकार निःशेषज्ञान का जो समुच्चय है–अर्थात् अन्तिम परज्ञान है एवं जो सुख की पराकाष्ठा है–बस, ऐसा सत्ताचिदानन्दघन ही हमारा ईश्वर है । उस महासत्ता–महाविज्ञान–महाआनन्द के पेट में रहने वाले जितने विशेष हैं–वे सब ईश्वर का ही स्वरूप हैं । यदि प्रतीकतया देखा तो आपने उस अखण्ड को खण्ड करके देखा । भला ईश्वर भी कभी खण्डयुक्त हो सकता है–वह तो अखण्ड है । बस, इस प्रकरण से हमें इसी प्रश्न का उत्तर देना है ।

परमसत्ता, परमज्ञान, परम आनन्द–इन तीनों की समष्टि का नाम ही परमेश्वर है–यह हमने बतलाया है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"या निर्विशेषा परमेह सत्ता निःशेषविज्ञानसमुच्चयो यः ।
परास्ति या सर्वसुखस्थकाष्ठा सत्ता चिदानन्दघनः स ईशः" ।।७४।।

गौत्व से पशुत्वसत्ता सामान्या है, पशुत्व की अपेक्षा चेतनत्व सामान्य है–चेतनत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व सामान्य है–द्रव्यत्व की अपेक्षा अर्थत्व सामान्य है–द्रव्यत्व तो द्रव्य से ही रहता है, परन्तु अर्थत्व

(पदार्थत्व) द्रव्यगुणकर्म्मादि सातों में रहता है, अतएव यह द्रव्यत्व की अपेक्षा सामान्य है । बस, इस प्रकार उत्तरोत्तर सामान्यत्व को बढाते जाइए-आखिर कोई सीमा ऐसी आएगी-जहाँ पर कि जाकर सामान्य की पराकाष्ठा हो जाएगी-बस, सामान्य जो परमभाव है-जिससे कि आगे सामान्य नहीं है-वही साक्षात् ईश्वर है- उसे ही हम परासत्ता कहते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"गोत्वं पशुत्त्वं च सचेतनत्त्वं द्रव्यत्वमर्थत्वमिति क्रमेण ।
संपद्यते यः परमोऽत्र भावः स ईश्वरः सा परमात्र सत्ता" ।।७५।।

अपि च-जो रूई की शक्ति है-उससे अधिक शक्ति ढेले की है-इसीलिए तो ढेले से रूई दब जाती है एवं उससे भी अधिक शक्ति पत्थर में है-उससे भी अधिक शक्ति पर्वत में है, उससे भी अधिक वज्र में है-जोकि शैल को फोड़ देता है-इस प्रकार से एक के एक अधीन है । पूर्व पर के अधीन है । इन सारी शक्तियों की जो परमावधि है-जो कि शक्ति किसी के अधीन नहीं है-अपि तु, सारी शक्तियाँ उसके अधीन हैं-वही ईश्वर है-वह परमा सत्ता है । बल ही को शक्ति और सत्ताभेदेन दो प्रकार का बतलाया था-इसीलिए सत्ता का निर्वचन सत्ता और शक्ति दो प्रकार से किया गया है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यास्तूललोष्टाश्मकशैलवज्रादिशक्तयोऽत्रोत्तरशक्तिनिघ्नाः ।
तासां पराशक्तिरशेषशक्तिः स ईश्वरः सा परमात्र सत्ता" ।।७६।।

अपि च—लट से अधिक कीड़े में ज्ञान है—कीड़े से अधिक पक्षी में है—पक्षी से अधिक पशु में है—पशु से अधिक मेरा ज्ञान है-मेरे से अधिक देवताओं में है एवं उनसे भी अधिक इन्द्र का ज्ञान है—उससे भी अधिक प्रजापति का ज्ञान है । गरज यह है-उत्तरोत्तर बढाते चले जाइए—जहाँ जाकर ज्ञान की सीमा समाप्त होगी-जिससे अधिक किसी अन्य का ज्ञान न हो-बस, वही ज्ञान परमेश्वर का साक्षात् स्वरूप समझना चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"एकस्य मज्ज्ञानमतः परस्याधिकं तथान्यस्य ततोऽधिकं च ।
यतोऽधिकं नास्ति भवेद्ध्रुवं सा मात्रा पराऽसौ परमेश्वरोऽस्ति" ।।७७।।

एवमेव पशु-पक्षी आदि के आनन्द से मेरा आनन्द अधिक है—मुझसे ज्यादा धनवान् का अधिक है- उससे ज्यादा राजा का अधिक है—उससे ज्यादा सम्राट् (बादशाह) का अधिक है—उससे ज्यादा शहन्शाह का अधिक है । गरज यह है कि आनन्द को उत्तरोत्तर बढाते जाइए-जहाँ आनन्द की पराकाष्ठा हो जाए—जिस आनन्द से बडा आनन्द कोई न हो—वही आनन्द की परा मात्रा है—वही परमेश्वर का साक्षात्स्वरूप है । इसी आनन्द के उत्तरोत्तरभाव को श्रुति बतलाती है —

"सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति । युवा स्यात्-साधुयुवाध्यायकः । आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः । स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः । स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः" ॥[1]

प्रकृत में हमें यही कहना है कि जो आनन्द की पराकाष्ठा है-वही ईश्वर का स्वरूप है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"एकस्य मोदादधिकः परस्य ततः परस्यापि ततः परस्य ।
यतोऽधिको नास्ति भवेद्ध्रुवं सा मात्रा परासौ परमेश्वरोस्ति" ॥७८॥

मनुष्य जब तक लिमिट का अनुभव किया करता है-जब तक परिच्छिन्न वस्तु पर मनुष्य की दृष्टि रहती है-तब तक अन्य की ओर उसकी बुद्धि दौड़ा करती है । घट को जान लिया तो पट को जानने की इच्छा रहती है । पट को जान लिया तो मकान को जानने की इच्छा रहती है । तात्पर्य्य यही है कि परिमित वस्तु पर जब तक मनुष्य की बुद्धि रहती है-तब तक उसे विश्राम नहीं मिलता । वह (बुद्धि) एक जगह स्थिर नहीं रह सकती । परन्तु जब अपने विश्राम के लिए यह मनुष्य अपने को उस अनन्त व्यापक-अनलिमिट मात्रा में शामिल कर देता है-उसमें लीन हो जाता है तो फिर इसे इधर उधर नहीं भटकना पड़ता है । तात्पर्य्य यही है कि आप बुद्धि को बढाते चले जाइए । चाँद से बडी पृथिवी, पृथिवी से बडा सूर्य्य, सूर्य्य से बडा परमेष्ठी, परमेष्ठी से बडा स्वयम्भू-बस, जहाँ जाके आपकी बुद्धि रुक जाए-समझ लो वही ईश्वर का स्वरूप है । ईश्वर अनन्त है-आपकी बुद्धि का खात्मा तभी होगा जबकि वह उस अनन्त में मिल जाएगी । तो बस, उस अनन्त के साथ जो सम्बन्ध होना है-वह साक्षात् ईश्वर से मिलना है । **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**-यही तो ब्रह्म का स्वरूप है ।

बुद्धि लिमिट को तोड़कर जब आनन्त्य का ग्रहण करे तो समझलो उसका ईश्वर के साथ सम्बन्ध हो गया । हमें बतलाना यह है कि हम उस परम भाव का प्रत्यक्ष नहीं करते बल्कि उसके अवयवों का (प्रतीकों का) ही-विशेष भावों का ही प्रत्यक्ष करते हैं-इससे क्या-'हमने ईश्वर को देख लिया'-हम यह दावा नहीं कर सकते ? अवश्य ही कर सकते हैं । गंगा जी के एक अंश को देखने पर कहा जाता है कि हमने गंगा को देख लिया । क्या आपने सारी गंगा को देखा है ? हर्गिज नहीं । देखा नहीं-देख सकते भी नहीं । उपासना प्रतीक ही की हो सकती है-पूर्ण की नहीं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

१-तै० उप० २।८।१ ।

"मात्रा मिता यावदिहानुभूयते तावत्ततोऽन्यामपि धीरपेक्षते ।
स्वविश्रमाय ध्रुवमभ्युपैति धीर्मात्रामनन्तामभितां स ईश्वरः" ॥७९॥

जिसे हमने आनन्द बतलाया–वह यही 'ओम्' अक्षर है । वह सत्य है–नित्य है–अनन्तविज्ञानघन है–एक है । हम उसके चिदाभासमय अंश हैं एवं उसका जो बल है–कर्म्म का विवर्त्त है–वही जगत् है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

आनन्दमोमक्षरमस्ति सत्यं नित्यं हि विज्ञानमनन्तमेकम् ।
वयं चिदाभासमयास्तदंशा जगत्तु तत्कर्म्मचितो विवर्तः" ॥८०॥

ब्रह्म अद्वितीय है, अतएव इस समस्त विश्व को मैं 'एक' ही कह सकता हूँ । ब्रह्म एक है एवं हम अनन्त जीव भी एक ही ब्रह्म में शामिल हैं–हम अनन्त भी ब्रह्म ही हैं । ब्रह्म से अलावा हम और कुछ नहीं जानते है–'ब्रह्मं वेदं सर्वम्,' 'नेह नानास्ति किञ्चन' । इसी अभिप्राय से गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ब्रह्माऽद्वितीयं तत एकमेवेत्याचक्ष्महे विश्वमिदं समस्तम् ।
ब्रह्मैकमेवं वयमप्यनन्ता ब्रह्मैव नातः परमत्र विद्मः" ॥८१॥

॥ इति ईश्वरैकसत्यतास्थापनम् ॥

१३–ऐक्यसमन्वयः ।

ऐक्य-समन्वय—

सम्पूर्ण कथन का सारांश यही है कि जीवात्मा से उसका अन्तर्जगत् अभिन्न है एवं परमात्मा से उसका बहिर्जगत् अभिन्न है । चूँकि जीवात्माओं का परमात्मा के साथ ऐक्यभाव है–जीव और परमात्मा एक वस्तु है, अतएव हम कह सकते हैं कि सत्य एक ही तत्त्व है–न कि तीन । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"जीवात्मनाऽन्तर्जगदस्त्यभिन्नं परात्मनैवं च बहिर्जगत्तत् ।
जीवात्मनां यत् परमात्मनैक्यं मन्यामहे तेन तदेकसत्यम्" ॥८२॥

जिस हमने परमेश्वर कहा है–उसे ही अव्यय कहते हैं । इस अव्यय की आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण वाक्–ये पाँच कलाएँ होती हैं । इनमें से आनन्द को तो आनन्द ही कहते हैं–विज्ञान को विज्ञान ही कहते हैं एवं मन-प्राण-वाक्–इन तीनों को सत्ता कहते हैं । 'मन-प्राण-वाक् तीन वस्तु हैं'–इस भ्रम में कहीं मत पड़ जाना । प्राण ही से वाक् उत्पन्न होती है एवं मन ही से प्राण उत्पन्न होता है । मन-प्राण-वाक्–ये

तीनों अवस्थाएँ एक की हैं। इन तीनों का ऐतदात्म्य है। कभी एक से एक अलग नहीं होती, अतएव हम एकसत्य ही मानने के लिए तय्यार हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"वाक् प्राणतः प्राणकला मनस्तः प्रादुर्भवत्येवमिमा अवस्थाः।
एकस्य तासामिदमैतदात्म्यं मन्यामहे तेन तदेकसत्यम्" ॥८३॥

इस प्रकार वाक्-प्राण-मन एक चीज हैं-जो कि सत्ता कहलाती हैं एवं सत्ता-विज्ञान-आनन्द (रस) एक चीज हैं-जो कि ब्रह्म कहलाता है। 'अस्ति' इसी को सत्ता कहते हैं। यह सत्ता ही बोध है। अर्थात् 'है' यही तो ज्ञान का स्वरूप है। जैसे 'घड़ा है'-यह ज्ञान का आकार है-वैसे ही 'है'-यह भी तो ज्ञान ही का आकार है। हम आपसे कहते हैं कि आप ज्ञान में से 'अस्ति' (सत्ता) को निकाल दीजिए-देखें ज्ञानजी का क्या स्वरूप बचता है? 'है'-यही ज्ञान का स्वरूप है। इसीलिए तो **'अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते'**-यह कहा जाता है। अस्ति ज्ञान ही है-सत्ता ही ज्ञान है-[**अस्ति-इति बोधः (ज्ञानम्)**] ॥१॥

अपि च-ज्ञान भी अस्ति है। **'घटमहं जानामि'**-आपका यह ज्ञान है या नहीं है-यदि है तो ज्ञान-सत्तात्मक हो गया। ज्ञान भी है-अर्थात् जैसी सत्ता ज्ञानस्वरूपिणी है-तद्वत् ज्ञान सत्तास्वरूप है-ज्ञान और सत्ता दोनों एक वस्तु है। अपि च-**सः (बोधः-ज्ञानं) अपि-'अस्ति', अर्थात् सत्तास्वरूपः** ॥२॥

यह हुआ ज्ञान सत्ता का ऐकात्म्य अब लीजिए-आनन्द और ज्ञान का ऐकात्म्य—

जिसे हमने रस बतलाया है-वह भी ज्ञानस्वरूप ही है, क्योंकि रस का अनुभव होता है। हमें आनन्द का अनुभव होता है-यही तो ज्ञान का स्वरूप है। रस ज्ञान ही है-(**बोधो रसः-अर्थात् रसः ज्ञानमेव**) ॥३॥

अपि च-बोद्धा, बोध एवं बोध्य अर्थात् ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय-तीनों रस हैं-तीनों पदार्थ हैं। इससे ज्ञान भी रसस्वरूप है-यह सिद्ध हो जाता है ॥४॥

एवं रस भी 'है' अर्थात् सत्तास्वरूप है-अन्यथा बल ठहरते कहाँ पर? ॥५॥

एवं सत्ता भी रस है अर्थात् एक पदार्थ है-अन्यथा ज्ञानक्रिया रहते किस पर? इस प्रकार से तीनों कहने को तीन हैं-तीनों तीनों हैं। तीनों एक वस्तु हैं। बस, इसीलिए हम 'एकसत्य' का उद्घोष है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अस्तीति[१] बोधो,ऽपि च सोऽस्ति[२], बोधो रसः[३], स बोधोऽपि च बोद्धृबोध्ये[४]।
रसोस्ति[५], सत्तापि रसो[६], न चान्यन्मन्यामहे, तेन तदेकसत्यम्" ॥८४॥

रानानुजादि आचार्य्यों ने जो-जो त्रिसत्य बतलाए हैं-वे सब विशेष हैं। उस सामान्य के पेट में विशेषरूप से तीनों रहते हैं। उसी सामान्य से वे विशेष निकले हुए हैं-जो निर्विशेष है-वही हमारा आत्मा है-न कि विशेष। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ये ये त्रिसत्यैस्त्रिविधा इहोक्ता: सर्वे विशेषास्त इमे भवन्ति।
सामान्यतस्ते ध्रुवमुद्धृता: स्यु: स निर्विशेषः परमो न आत्मा" ।।८५।।

सारे विशेष असत् हैं-अर्थात् बदलने वाले हैं। उस महासामान्य के पेट में पड़े हुए सारे विशेष बदलते रहते हैं। उन विशेषों में जो अविशेष है-सामान्य है-वही सत् है। उस सामान्य के पेट में सारे प्रपञ्च को हम असन्मय देखते हैं, अतएव हम सारे प्रपञ्च को 'सदसत्' कहने के लिए तय्यार हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"सर्वे विशेषा असदेव रूपं तत्राविशेषस्य सदेव रूपम्।
असन्मयं सद्धयखिलं प्रतीमस्तस्मात् समस्तं सदसद् वदाम:" ।।८६।।

।। इत्यैक्यसमन्वय: ।।

—※—

१४–उपासना।

ऐक्यसमन्वय हो चुका। उस ब्रह्म की उपासना कैसे हो सकती है? उसका क्या तरीका है? यह मात्र प्रश्न बाकी बच जाता है-बस, उसी का उत्तर दे-हम ग्रन्थ को समाप्त करते हैं—

उपासना कई प्रकार की होती है-जैसा कि पूर्व के उपासना-प्रकरण में बतलाया गया है। उन सारे भेदों का यदि वास्तविक अर्थ देखा जाए तो एक ही है। कहने के भेद हैं-वास्तव में उपासनाएँ उपासनात्वेन एक हैं। ईश्वर में आत्मसमर्पण कर देने का नाम ही उपासना है। इसी **आत्मसमर्पण** को 'प्रपत्तियोग' किंवा 'बुद्धियोग' भी कहते हैं। यही श्रीमद्भगवद्गीता का सिद्धान्त है। **'यत्करोषि, यदश्नासि', 'यज्जुहोषि ददासि यत्', यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्'**-यही आत्मप्रपत्ति उपासना है। हम जब सांगानेर जाना चाहते हैं तो वहाँ जाने के लिए हमारे पैर आपसे आप उठने लगते हैं। हमारी कोशिश सांगानेर जाने की है-न कि पैर उठाने की। पैर स्वयं उठते चले जाते हैं। हम उसको उठाने के लिए "अब इस पैर को उठाने की इच्छा करता हूँ--अब इस पैर को उठाने की इच्छा करता हूँ"--इस प्रकार इच्छा नहीं करते। स्वयं पैर उठते चले जाते हैं। मेरी आँखों की पलकें गिरती रहती हैं--उठती रहती हैं। मुझे उनकी खबर भी नहीं रहती कि वे कब गिरती हैं-कब उठती हैं। उनका तो स्वभाव ही गिरना और उठना है। हमारी इच्छा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। तो बस, जैसे पैरों की चाल में इच्छा नहीं--आँखों की पलकों के लिए हम इच्छा नहीं करते--तद्वत् सारा कार्य विना इच्छा के

अपना स्वातन्त्र्य हटाके जब ईश्वर के अर्पण कर दिया जाता है तो जो कुछ हो रहा है–ईश्वर के लिए है, पाप-पुण्य सब उसका है--मेरी इच्छा से कुछ नहीं होता है--बस, इसी का नाम है--'प्रपत्तियोग', इसी को कहते हैं--आत्मसमर्पण-इसी को कहते हैं–उपासना। विना इच्छा के कोई भी कार्य्य नहीं हो सकता। जब इच्छा होती है--तभी प्राणव्यापार होता है--जिसे कि कृति कहते हैं। इससे कार्य्य होता है। प्राणव्यापार से ही कर्म्म होता है, अतएव कहा जाता है—

"ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत् कृतिः।
कृतिजन्यं भवेत् कर्म तदेतत् कृतमुच्यते" ॥

विना इच्छा के प्राणव्यापार नहीं–विना प्राणव्यापार के कर्म्म नहीं। ऐसी अवस्था में उपासना के लिए जो--"इच्छा न करके कर्म्म करना"–यह कहा गया है--उसका तात्पर्य्य अनासक्ति से समझना चाहिए। इच्छा तो आत्मा का स्वरूप है--भला उसके विना कर्म्म हो ही कैसे सकता है? परन्तु यह कर्म्म आसक्ति-अनासक्ति दो प्रकार का होता है। जो आसक्ति कर्म्म है--उसमें आत्मा बँध जाता है। आसक्ति में अपनापना रहता है। परन्तु अनासक्ति में निष्कामकर्म्म में अपनापना छूट जाता है। आँखों की पलकें-पैरों की चाल ये अनासक्त्यात्मक कर्म्म हैं। इनमें हमारी आसक्ति नहीं। आसक्ति से पाप लगा करता है। बन्धन में डालने वाली आसक्ति है। अतः आसक्ति को छोडकर अनासक्तिपूर्वक जो सारा काम करता रहता है--मुझे इन कर्म्मों से कुछ लेना देना नहीं है--स्वभाव ही से ये अपने आप हो रहे हैं--मैं इनका कर्त्ता-धर्त्ता नहीं हूँ--बस, एतद्बुद्ध्या जो कर्म्म किया जाता है--इसे ही 'उपासना' कहते हैं।

यावज्जीवन निष्कामकर्म्म करते रहना–उसमें अपनी इच्छा का स्वातन्त्र्य न रखना–यही प्रपत्तियोग है। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि न मुझे कोई अप्राप्त है–न प्राप्तव्य है–मुझे कुछ नहीं चाहिए तथापि मैं सदा कर्म्म करते ही रहता हूँ—

"नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्म्मणि"।[1]

जो मनुष्य अनासक्तिपूर्वक स्वातन्त्र्य को छोडकर अपनी इच्छा को त्याग कर–**'नानवाप्तं०'--को** लक्ष्य में रखकर यदि पाप भी करता है तो उसे तज्जन्य प्रत्यवाय नहीं होता। वह ब्राह्मण को मार सकता है–गौवध कर सकता है–उसे कुछ पाप नहीं लगता। लगे क्यों? पाप तो इच्छा से सम्बन्ध रखता है आसक्ति से सम्बन्ध रखता है। यदि इच्छा नहीं है, आसक्ति नहीं है "मैं कुछ नहीं चाहता–अच्छा बुरा सब परमेश्वर करता है"–यह खयाल है तो फिर पाप कैसा? तज्जनित प्रत्यवाय कैसा? आप हजारों पाप किए चले जाइए, परन्तु अपनी इच्छा मत रखिए–आसक्ति मत रखिए–आपको पाप छू भी नहीं सकता। पाप का सम्बन्ध इच्छा से है--क्रिया से नहीं। यदि सारी इन्द्रियों का संयम करके सारी क्रियाओं को बन्द करके आँख मूँदकर मन में पाप-भावना कर ली जाती है तो वह महापातकी

१–गीता ३।२२।

हो जाता है। आँख-नाक-मूंदकर क्रिया बन्द कर देने पर भी यदि उसका मन दूषित है–इसकी इच्छा बुरी है तो वह घोर पापी है इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

"कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते" ।।[1]

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! जो सारी इन्द्रियों का संयम करके मनसा विषयों की कामना किया करता है–वह उसका 'मिथ्याचार' है--ढोंग है--व्याज से धर्म्म का आचरण है।

तात्पर्य्य यही है कि इच्छा बन्धन में डालने वाली है--कर्म्म नहीं। इसीलिए जिस समय महामुनि शुकदेव नग्न स्त्रियों के सामने जाते हैं तो स्त्रियाँ उनसे पर्दा नहीं करतीं। परन्तु ८० वर्ष के जीर्णेन्द्रिय भगवान् व्यास उधर से निकलते हैं तो स्त्रिएँ पर्दा कर लेती हैं। हे देवियों ! शुकदेव तो युवा था तब भी आपने उससे पर्दा नहीं किया एवं मेरी जिसकी सारी इन्द्रियाँ क्षीर्ण हो चुकी हैं--उससे आप पर्दा क्यों कर रही हैं ? भगवान् व्यास के यह पूछने पर देवियाँ उत्तर देती हैं--हे महाराज ! आपका कहना सत्य है। वास्तव में शुकदेव युवा हैं--आप वृद्ध हैं। उसकी इन्द्रियाँ समर्थ हैं--आपकी असमर्थ हैं। इतना होने पर भी शुकदेव इन सांसारिक विषयों से अपरिचित हैं। उन्हें संसार की हवा छू तक नहीं गई। उनके मन का व्यापार आसक्तिरहित है। बस, हम अबोध आपको इसका और क्या उत्तर दे सकती हैं ? आप स्वयं सर्वज्ञ हैं।

बात वास्तव में ठीक है। १० रुपय्ये की तनख्वाह पाने वाला सिपाही राजा की आज्ञा से निरपराध मनुष्य का वध कर डालता है--तो उसकी सजा उसे नहीं मिलती। हाईकोर्ट राजा पर मुकदमा चलाती है-न कि सिपाही पर। सिपाही तो निर्दोष है। उसने काम (क्रिया) मात्र किया है--इच्छा उसकी नहीं। इच्छा थी राजा की, अतएव दोषी वह है। उसने तो १० रुपये में अपना आत्मसमर्पण कर रखा है। वह अपने काम में स्वतन्त्र नहीं है। राजा की इच्छा उसकी इच्छा है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि पातक इच्छा से सम्बन्ध रखता है--क्रिया से नहीं। तो बस, इसी प्रकार से ईश्वर में बुद्धि-पूर्वक आत्मसमर्पण करके जब स्वातन्त्र्य धी को छोड देता है तो वह प्रपत्तियोग किंवा उपासना कहलाती है। अपनी इच्छा न करके जो अच्छा-बुरा काम करना है--उससे जरा भी पातक नहीं लगता--इसीलिए भगवान् कहते हैं—

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि, न करोति न लिप्यते" ।

परन्तु ध्यान रहे--खाली समझ लेने से काम नहीं चलेगा। वास्तव में इच्छा-भाव को हटाना पड़ेगा। कर रहे हैं पाप और कह रहे हैं कि हम कुछ नहीं करते, सब ईश्वर करता है--सब उसके

१–गीता ३।६।

समर्पण है। बुद्धिपूर्वक वास्तव में अपने को वैसा ही बना के अर्थात् व्याजवृत्ति को छोड के जब **'यत् करोषि०'**--का अनुसरण किया जाएगा-तभी उपासना कहलाएगी। एक छोटा चक्र चल रहा है और एक बडा चक्र चल रहा है। यदि उस छोटे चक्र का कनक्शन (सम्बन्ध) उस बडे के साथ मिला दिया जाता है तो उसकी अपनी चाल का स्वातन्त्र्य नष्ट हो जाता है एवं बडे चक्र की गति ही उसकी गति हो जाती है। वह छोटा चक्र उसके पास जा बैठता है। एवमेव यह मनुष्य अपनापना चूंकि हटा देता है--वह ईश्वर के पास जा बैठता है--अपनी गति को छोडकर उस महाचक्र का सहारा ले उस पर बैठ जाता है, अतएव इसे 'उप-आसना' (समीप बैठना) कहते हैं।

तात्पर्य्य सम्पूर्ण कथन का यही हुआ कि बुद्धिपूर्वक (व्याजरहित होकर) ईश्वर में जो आत्म-समर्पण किया जाता है एवं अपनी स्वतन्त्रता छोड़ देता है-वही **'उपासना'** कहलाती है। इस उपासना में तीन पीठिका हैं। इसके तीन क्लास हैं-अवर-मध्यम और उत्तम। जैसे क्षुद्र मनुष्य अर्थात्-नीचे दर्जे के मनुष्य अपने स्वामी की सेवा करते हैं-उनके लिए रसोई बनाते हैं, उनको कपड़े पहनाते हैं। उनको स्नान कराते हैं, उन्हें पंखा करते हैं, उनके पैर दबाते हैं-ऐसी जो उपासना है-वह नीचे दर्जे की उपासना कहलाती है। ठाकुरजी को स्नान कराना, उनके भोग लगाना उनको पंखा करना-उनके लिए उनके सामने नाचकर उन्हें प्रसन्न करना-उन्हें अपना स्वामी समझना-स्वयं को नौकर समझना-यह अवरोपासना कहलाती है। अस्मदादि अवरकक्षा के मनुष्यों की यही उपासना है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यदीश्वरे स्वात्मसमर्पणं धिया विधाय स्वातन्त्र्यधियं विमुञ्चति।
सोपासना तत्र च पीठिकात्रयी क्षुद्रैस्तु सेवा क्रियते प्रभोरिव" ॥८७॥

एवं भाव-क्रिया और द्रव्य (अर्थ)-इन तीनों का द्वैत जब निकाल दिया जाता है-तीनों द्वैतों को अद्वैतभाव में परिणत कर दिया जाता है। बस, मध्यम श्रेणी के मनुष्यों द्वारा की हुई-यह मध्यम-पीठिकोपासना है। इसी भावक्रिया द्रव्याद्वैत के लिए भगवान् व्यास कहते हैं—

"भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथात्मनः।
वर्तयन्स्वानुभूत्येह त्रीन्स्वप्नान्धुनुते मुनिः" ॥ [1]

तीनों को जब द्वैत से बाहर निकाल लिया जाता है तो उसके ये तीनों सपने जिनको कि सत्य समझ रखा था-टूट जाते हैं। जागने पर जैसे सपना झूंठा प्रतीत होने लगता है-तद्वत् द्वैतनिवृत्ति होने पर-भाव-क्रिया-द्रव्य इनका त्रित्व झूंठा मालूम होने लगता है। बस, यही मध्यमोपासना है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

१-श्रीमद्भागवतपुराण ७।१५।६२।

"भावक्रिया द्रव्यगतं निरस्यते द्वैतं त्रिधाऽद्वैतमिदं विधीयते ।
स्वप्नत्रयं तत्क्रमतो विधूयते मध्यैः कृता मध्यमपीठिका हि सा" ।।८८।।

मिट्टी से घड़ा बनता है, तन्तु से वस्त्र बनता है, लोहे से तलवार बनती है-इस प्रकार का जो कार्य्यकारणभाव है-वह सर्वथा विकल्पित है । **'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'**[1]-यही विकल्प का लक्षण है । वस्तु कुछ नहीं है, परन्तु उसका ख़याल बना हुआ है । प्रकाश एक पदार्थ है-रात्रि तो अभाव-स्वरूपिणी है । प्रकाशाभाव का नाम रात्रि है-वस्तुशून्य है-विकल्पमात्र है, तथापि उसे वस्तु मान रखी है । 'रात-दिन'-इस प्रकार से रात्रि को भावात्मक दिन के साथ जोड़कर बोली जाती है । वास्तव में रात्रि कुछ नहीं है, प्रकाशाभावमात्र है । इसी प्रकार से घट-वस्त्र-तलवार कोई वस्तु नहीं हैं-विकल्पित वस्तु हैं-ख़याली पुलाव हैं । वास्तव में घड़ा मिट्टी ही है । वस्त्र तन्तु ही है । तलवार लोहा ही है । कार्य्य-कारण का अभेद है । इसीलिए तो-**'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'**[2]-कहा जाता है । कारण-कार्य्य दो वस्तु नहीं है-मिट्टी ही घड़ा है । यदि घड़े में से कारण मिट्टी को निकाल दिया जाएगा तो घड़ेजी का पता ही नहीं लगे । तो जिस प्रकार से कार्य्यकारण वस्तु का विकल्पित घट, वस्त्र, असि के वास्तव में अवस्तु होने से यह मनुष्य ऐक्य देखता है-अर्थात् 'घट-मृत्तिका के कार्य्यकारणभाव में भेद नहीं है-घड़ा तो एक विकल्पमात्र है-घड़ा कभी वस्तु थोड़े ही बन सकता है-घड़ा मिट्टी से अलग नहीं है-मिट्टी ही घड़ा है" । इस अभेद प्रत्यय का अनुभव करता है-बस, इसी मृद्घटवत्-तन्तुवस्त्रवत् असिलोहवत् जब यह उपासक ईश्वर में आत्मा का ऐक्य समझने लगता है तो यह भाव द्वारा अद्वैतसम्पत्ति को प्राप्त हो जाता है । ईश्वर कारण है, जीव कार्य्य है-यह कार्य्यकारणभाव वस्तुतः विकल्पित है, अतएव अवस्तु है, खाली भेद का ज्ञानमात्र है । ख़याली भेद है । बस, जब इस अवस्तुस्वरूप भेद को-ख़याली भेद को हटा दिया जाता है तो वह **'भावाद्वैत'** कहलाता है । ईश्वर अन्यभाव है, जीव अन्यभाव है-इन दोनों का जो ऐक्य है-वही भावाद्वैत है । हमारे भावभेद को हमने एक कर लिए-ईश्वर अलग है-वह कारण है-हम अलग हैं एवं कार्य हैं-यह जो हमारा भाव था-ज्ञान था-खयाल था-इसे हमने एक कर दिया । बस, यही तो भावाद्वैत है—

"कार्यकारणवस्तुनः-विकल्पिताऽवस्तुतया (विकल्पितस्य घटवस्त्रा-देर्वस्तुतः-वस्तुशून्यत्वात्) यदा-ऐक्यम् (अभेदं) विलोकयति, एवमेव मृद्घट-योरिव-ईश्वरे यदा-आत्मनः-ऐक्यम्-विलोकयति, तदा एष उपासकः-भावतः अद्वैतमुपैति" ।।

इसी अभिप्राय से भगवान् व्यास कहते हैं-

१-पातञ्जलयोगसूत्र १।६ । २-छान्दोग्योप० ६।१।४ ।

"कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवत् ।
अवस्तुत्वाद्विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते" ।।[1]

जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"विकल्पिताऽवस्तुतया विलोकयत्यैक्यं यदा कारणकार्य्यवस्तुनः ।
यदीश्वरे मृद्घटयोरिवात्मनोऽप्यैक्यं तदद्वैतमुपैति भावतः" ।।८६।।

दूसरा अद्वैत है 'क्रियाद्वैत'। हम जब किसी को देते हैं तो उसमें हमारी आसक्ति रहती है–हम समझते हैं कि हमने दिया है, खाते हैं तो समझते हैं कि हमने खाया है, सोते है तो खयाल करते हैं कि हम सोए थे, जागते हैं तो खयाल करते हैं कि हम जागते हैं। जो कुछ मनोव्यापार करते हैं अथवा शरीर से और और व्यापार करते हैं तो उन सबमें अहंभाव घुसा रहता है। वास्तव में देखा जाए तो यह अहंभाव झूँठा है। जब हम उससे पृथक् नहीं हैं तो हमारी क्रिया उससे पृथक् क्योंकर हो सकती है ? वस्त्र की क्रिया तन्तु से क्योंकर भिन्न हो सकती है ? जब हम ही कोई चीज नहीं तो हमारी क्रिया क्या वस्तु है ? बस, इस प्रकार से यह उपासक देता है, खाता है, सोता है, जागता है, मनन करता है एवं शरीर से अन्यान्य क्रिया करता है–उन सबको 'नाहं करोमि' समझकर यदि ईश्वर में समर्पित कर देता है–अर्थात् सारी क्रिया ईश्वर की क्रिया समझने लगता है तो वह क्रियाद्वैत का प्रत्यक्ष कर रहा है। यदि उपासक ने अपनी सारी क्रियाओं को ईश्वर की क्रियाओं में शामिल कर दी एवं अपनापना उन पर से हटा लिया तो समझ लो उसने क्रियाद्वैतसंपत्ति प्राप्त कर ली।

इसी अभिप्राय से भगवान् व्यास कहते हैं—

"यद्ब्रह्मणि परे साक्षात्सर्वकर्मसमर्पणम् ।
मनोवाक्तनुभिः पार्थ क्रियाद्वैतं तदुच्यते" ।।[1]

जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"ददाति भुङ्क्ते स्वपिति प्रबुध्यते यद्यन्मनो वाक्तनुभिः करोत्ययम् ।
नाहं करोमीति यदीश्वरेऽखिलं पश्येत् क्रियाद्वैतमिदं स पश्यति" ।।९०।।

तीसरा है–द्रव्याद्वैत, जिसे कि अर्थाद्वैत भी कहते हैं। हमारी आँख अलग वस्तु है, कान अलग वस्तु है, हाथ अलग वस्तु है, पाँव अलग वस्तु है, मन अलग वस्तु है, नाक अलग वस्तु है सब अलग-अलग हैं–सबका कार्य्य भिन्न है–इस प्रकार अनन्त भेदों के रहने पर भी मैं एक हूँ। आँख-नाक भेद से

१–श्रीमद्भागवतपुराण ७।१५।६३। १–श्रीमद्भागवतपुराण ७।१५।६४।

'मैं' अनेक नहीं बन जाता (मुझ एक में अनेक रहते हैं) वास्तव में देखा जाए तो 'मैं'-यह स्वरूप उन अनेकों से ही तो बना हुआ है। यदि आँख-नाकादि एक-एक करके सारे अवयव निकाल दिए जाएँ तो 'अहम्' इस एकत्व का पता ही नहीं चलेगा। इन अर्थों की-द्रव्यों की समष्टि से ही मेरा स्वरूप बना हुआ है। वृक्षसमष्टि ही वन है। ध्यान दीजिए यदि हमारे बाएँ हाथ में कण्डू चलती है तो दूसरा हाथ उसे मिटाने के वास्ते फौरन कूद पड़ता है। दोनों हाथ स्वतन्त्र है, परन्तु एक दूसरे की मदद करता है। हमारा मन चाहता है कि लड्डू खाएँ-बस,उसी समय पैर बनिए की दूकान की ओर बढते हैं। वहाँ जाकर लड्डू अपने हाथ में रखते हैं-घर आकर मुख उनका चर्वण करता है-बस, इससे मन तृप्त हो जाता है। तृप्त होता है-मन। इसकी तृप्ति में सहायक बनते हैं-हाथ-पैर-मुँह। दृश्य को देखें आँखें, मजा लूटे मन, आफत पैरों की।

कहने का तात्पर्य्य यही है कि सारे अवयव भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक समझकर एक से दूसरे को अभिन्न समझ कर रागद्वेषरहित हो-सब सबकी मदद करते हैं। किसी में परस्पर रागद्वेष नहीं है। सब अपना भी काम करते हैं-दूसरों का भी करते हैं। तो बस, जैसे हाथ-पैर-आँख-नाक मेरे अवयव हैं-यह मेरा शरीर है-तद्वत् यह जो अनन्त प्राणिसमूह है-वह परमेश्वर का शरीर है। अनन्तानन्त जो हम हैं-(प्राणीवर्ग है)-वही ईश्वर के आँख-नाक-कान-मुँह स्वरूप हैं। हम उसी के शरीर के अवयव हैं।

ऐसी हालत में यदि हम किसी से द्वेष करते हैं तो वह हाथ हाथ का द्वेष करता है। "हम आँख को हाथ से फोड डालें"-बस, अन्य मनुष्य को पीड़ा पहुँचाना-ठीक ऐसा ही है-क्योंकि वह भी उस ईश्वर शरीर का अवयव है-हम भी अवयव हैं। दूसरे को मारना-काटना-तकलीफ पहुँचाना-परस्पर अपने आपको मारना, काटना तकलीफ पहुँचाना है। सब उसी के अवयव हैं। उसके शरीर के द्रव्य (पदार्थ-जीवादि) और हमारे शरीर के द्रव्य पृथक् नहीं हैं। जैसे हम अपने शरीरावयवों में परस्पर अभिन्नता देखते हैं-तद्वत् सारे संसार को एक ईश्वर का शरीर मानकर सारे प्राणियों के स्वार्थों को एवं कामनाओं को अपने समान समझने का नाम ही द्रव्याद्वैत है। अपने माफिक दूसरे को देखो। अपने द्रव्यवत् दूसरे द्रव्य को समझो। संसार के सारे द्रव्यों को अपना समझो। अपनी आँख में लगने से जैसी तकलीफ का अनुभव करते हैं-अन्य की आँख में लगने से भी उसी तकलीफ का अनुभव करो। बस, उपासक जिस दिन इसमें प्रवीण हो जाएगा-उसी दिन उसे द्रव्याद्वैत-सम्पत्ति प्राप्त हो जाएगी। इसी के लिए भगवान् व्यास कहते हैं—

"आत्मजायासुतादीनामन्येषां सर्वदेहिनाम्।
यत्स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते" ॥[1]

१-श्रीमद्भागवतपुराण ७।१५।६५।

हमारा आत्मा मनःप्राणवाङ्मय है । इसीलिए-'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः'-यह कहा जाताहै । मन ज्ञान का सीमा है-प्राण क्रिया का सीमा है-वाक् अर्थ का अर्थात् द्रव्य का सीमा है । ईश्वर के शरीर में भी ज्ञान-क्रिया-अर्थ-ये तीन ही पदार्थ हैं एवं उसी से बने हुए हमारे शरीर में भी ज्ञान-क्रिया अर्थ अर्थात् मन-प्राण-वाक् ये तीन ही पदार्थ हैं । तीन ही द्वार उससे मिलने के हैं । ज्ञान से मिल सकते हैं-अर्थात् भाव से मिल सकते हैं-क्रिया से मिल सकते हैं एवं अर्थ से मिल सकते हैं । तीनों से एक साथ मिल सकते हैं एवं तीनों में से किसी एक के द्वारा भी उन तीनों में मिल सकते हैं । बस, यही मध्यमपीठिकोपासना है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"सर्वात्मकेशैक्यधिया यथात्मनस्तथेतरेषामपि सर्वदेहिनाम् ।
स्वार्थांश्च कामांश्च समानमीप्सति द्रव्याश्रिताद्वैतमिदं स पश्यति" ॥६१॥

तीसरी उपासना है-उत्तमा । उत्तमोपासना वह कहलाती है—जिसमें द्वैत का नाम निशान ही न रहे । मध्यमा में तो पहले द्वैत था-बाद में-अद्वैतसम्पत्ति प्राप्त की । परन्तु इसमें तो पहले पीछे कभी द्वैत होता ही नहीं है । यहाँ तो **'देवो भूत्वा देवं भावयेत्'** का राज्य है । मैं हूँ **'ब्रह्म'-'अहं ब्रह्मास्मि'**-यही उत्तम उपासना है । प्राणप्रतिष्ठा और भूतशुद्धि से मैं स्वयं ईश्वर बन जाता हूँ । एक पाषाण की मूर्ति में वेदमन्त्रों द्वारा जब प्राणप्रतिष्ठा करा दी जाती है तो वह साक्षात् ईश्वर के स्वरूप में परिणत हो जाती है । निम्नलिखित बातों से देवता प्रत्यक्ष हो जाता है—

"अर्चकस्य तपोयोगात्-अर्चनस्यातिशायनात् ।
आभिरूप्याच्च बिम्बानां देवः सान्निध्यमिच्छति" ॥

बस, इसी तरह से शरीर में ईश्वर को प्रतिष्ठित कर लिया जाता है । आत्मा ही सब कुछ बन जाता है । आत्मा से अलग हनुमानजी, शिवजी, भैरवजी, महाकाली-इत्यादि कुछ भी नहीं हैं । तैंतीस कोटि देवता आत्मा में बैठे हुए हैं । सूर्य्य-चन्द्र-नक्षत्र-ईश्वर सब कुछ मैं हूँ । यह सारा विश्व मैंने बनाया है-यही उत्तमोत्तमोपासना है । आत्मा से अन्य की उपासना जो करता है-वेद भगवान् कहते हैं कि अभी उसने कुछ नहीं जाना—

"आत्मा ह्येषां स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" ।[1]

आत्मा से अलग देवता कोई है-यह बात भूलकर भी नहीं माननी चाहिए । धारणा-ध्यान-समाधि-इन तीनों का जब एकत्र संयमन हो जाता है तो जिस रूप का ध्यान किया जाता है-वह फक से बाहर निकल पड़ता है । आत्मा ही सब कुछ बन जाता है-इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

१- बृहदा० उप० १।४।१०

"अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः ।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा" ॥[1]

इसी अभिप्राय से-'पुरुषैकसत्योपनिषत्' में कहा गया है—

"यं कं च देवं पितरं परं वा यजत्ययं तस्य स सोऽस्ति देवः ।
आत्मैव नूनं मनसाऽनुक्लृप्तोऽस्यात्मा यथा भावयते तथा स्यात्" ॥[2]

ईश्वर का आवेश शरीर में क्योंकर हो सकता है ? यह कुत्सित तर्क सर्वथा नहीं उठाना चाहिए । हम देखते हैं कि मनुष्यों में किंवा स्त्री में भूतावेश हो जाता है । उस भूतावेश के कारण जो मनुष्य अथवा जो स्त्री अक्षरज्ञान भी नहीं रखती है-वही धड़ाधड़ शास्त्रार्थ करने लगती है । वही ऐसे-ऐसे प्रश्न करती है-जिससे बड़े-बड़े विद्वानों के छक्के छूट जाते हैं । हमने यह दृश्य अपनी आँखों देखा है । कदाचित् कहो कि विना प्रमाण के ऐसी गप्पें हम नहीं मानते तो सुनिए-आपके सन्तोष के लिए वेद भगवान् का ही प्रमाण दिया जाता है । जनक महाराज की सभा में याज्ञवल्क्य से अरुण के पुत्र उद्दालक पूछते हैं—

"अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति स होवाच मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्तस्यासीद्भार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत् कबन्ध आथर्वण इति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकांश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तत्सूत्रं येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तद्भगवन्वेदेति" ॥[3]

तात्पर्य्य यही है कि आवेश से उपासक में उपास्य के धर्म्म आ जाते हैं । वह स्वयं वैसा ही बन जाता है । भूत-शुद्धि एवं प्राणप्रतिष्ठा के कायदे से (भूतशुद्धिप्रतिपन्नया दिशा) सारे भूतों को ईश्वर में लीन करके अपने शरीर के सारे अवयवों में जर्रे-जर्रे में ईश्वर को प्रतिष्ठित करके जो आत्मा एवं समस्त शरीर को तन्मय बना लेता है-वह उपासक इस आत्मोपासना से ईश्वरीयभाव को प्राप्त हो जाता है । अर्थात् ईश्वर ही बन जाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"यां भूतशुद्धिप्रतिपन्नया दिशा विलोप्य भूतप्रतिपत्तिमीश्वरे ।
विलापयत्यात्मसमस्तविग्रहं स ईश्वरोभावमुपैति योगतः" ॥६२॥

१-ऋग्वेद मं० ४।२६।१ । २- द्रष्टव्य गुरुवर श्री ओझाजीकृत 'संशयतदुच्छेदवाद' मध्यमकाण्ड 'पुरुषैकसत्योपनिषत्' सूत्र ८ एवं श्लोक सं० २३ । ३-बृहदा० उप० ३।७।१।

विज्ञान ही एक प्रकार का धनुष है,-उपासना तीर है एवं लक्ष्य अर्थात् निशाना वह पर अक्षर है। बस, इस प्रकार से विज्ञान धनुष पर उपासना तीर रख के धनुष को तानकर तन्मय होकर और किधर भी लक्ष्य न रखते हुए केवल निशाने पर ही दृष्टि जमाकर सावधानी के साथ जो तीर छोड़ देता है-उस अक्षर में जिसका निशाना ठीक बैठ जाता है-बस, वह तन्मय हो जाता है। उपासना-बुद्धि उस अक्षर में घुस पड़ती है। उपासक उपास्य में लीन हो जाता है। इसी अभिप्राय से गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"विज्ञानमेतद्धनुरस्त्युपासना शरोऽथ लक्ष्यं तु तदक्षरं परम्।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा संधाय विध्येत् स हि तन्मयो भवेत्" ॥६३॥

इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

**"धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संधयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि" ॥[1]**

आत्मा को अर्थात् प्रज्ञानमन को बाण बनाओ-अर्थात् तीर बनाओ और ओम् को धनुष बनाओ। अर्थात् अपने मन को ओम् में लीन करो-जो कि तुम्हारे केन्द्र में बैठा हुआ है, बस ओम् धनुष पर मन-तीर को लगाकर सावधानी के साथ अर्थात् विधिपूर्वक उस अक्षर लक्ष्य को नजर में जमाकर अप्रमत्ततया एवं कुशलतया अक्षर को बींध डालो। तो बस, जैसे शर लक्ष्य में जाकर तन्मय हो जाता है-वैसे ओम् से निकला हुआ तुम्हारा आत्मा (प्रज्ञामन) उसमें जाके लीन हो जाएगा-तन्मय हो जाएगा।

इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

**"प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्" ॥[2]**

इसी अभिप्राय से गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"आत्मा शरो वा प्रणवो धनुः कृतस्तदक्षरं लक्ष्यमुदीक्ष्य शिक्षितः।
यद्यप्रमत्तः कुशलं प्रबोधयेत् शरो यथैवं स हि तन्मयो भवेत्" ॥६४॥

किस क्रम से आत्मा उस ईश्वर में लीन हो जाता है-यह बतलाते हैं—

जितनी भी इन्द्रियाँ हैं-उन सबको चित्त में बैठा दो। अर्थात् इन्द्रियों को मन में बैठाओ एवं मन को क-च-ट-त-प-इत्यादि मातृकाक्रम में स्थिर करो। अर्थात् मन-प्राण और वाक् तीनों को

१-मुण्डकोप० २।२।३। २-मुण्डकोप० २।२।४।

एक लाइन में मिलाओ-तीनों की एक कडी जोड़ो-उपासना तभी सफल हो सकती है। मन किधर है-वाक् किधर है एवं प्राणव्यापार किधर है-तो फिर उपासना नहीं हो सकती, अतः सबसे पहले मन-प्राण-वाक् को एक लाइन पर लाओ-मातृकाक्रम में उस वाक् को बैठाओ-इसका तात्पर्य्य है कि अक्षर ब्रह्म में इन्द्रियसहित मन को लगाओ। अ से क्ष तक के वर्णों को जो पेट में ले लेता है-उसे अक्षर कहते हैं। **'अ' इत्यारभ्य 'क्ष' पर्य्यन्तं यः स्वोदरे-राति-सोऽक्षरः**। सारी शब्दसृष्टि किंवा अर्थसृष्टि इसी अक्षरब्रह्म के पेट में है। बस, इसी अक्षर में मन को लगाओ। बाद में उस मातृकाक्रम को अर्थात् अक्षरसमष्टि को 'ओम्' में लगाओ जो कि तुम्हारे कन्दल में बैठा हुआ है। मन-प्राण-वाक् का संयम कर सारी इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके उन्हें 'ओम्' पर स्थिर कर लो-अमृतत्व की प्राप्ति पराङ्मुख इन्द्रियों को प्रत्यङ्मुख करने पर ही होती है-इसीलिए श्रुति कहती है—

> **"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।**
> **कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्"॥[1]**

मातृका-क्रम व्यष्टिस्वरूप है-'ओम्' समष्टिस्वरूप है। 'ओम्' के पेट में सारी वर्णमातृका रहती है। केवल 'अ' से ही सारी वर्णमातृका बनती है-स्पर्श और ऊष्मा अर्थात् विवारभेद से एक ही 'अ' ५० वर्णों में परिणत हो जाता है, अतएव-**'अकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति'**[2]-यह कहा जाता है। अग्नि का धर्म्म विकसित होना है-वह उत्तरोत्तर विशकलित होता है एवं सोम का धर्म्म संकुचित होने का है। बस, इस अग्नि-सोम से जैसे अर्थसृष्टि होती है-तद्वत् अग्नि-सोम से ही शब्दसृष्टि होती है। इसीलिए-**'अग्नीषोमात्मकं जगत्'**-यह कहा जाता है। बस, इस 'अ' के विशकलन और स्पर्श के अर्थात् उष्मा के और स्पर्श के तारतम्य से सारे वर्णों की उत्पत्ति होती है। इन्द्रियों के साथ मन आत्मा और बुद्धि को लेकर जब शरीराग्नि पर धक्का मारता है तो वह अग्नि धक्का खाकर वायु को प्रेरित करता है। वह वायु सीधा ऊपर जाके मस्तक पर टक्कर खाता है-वहाँ से टक्कर खाकर नाना वर्णों को उत्पन्न करता है। हृदय से चला हुआ वायु माथे में टक्कर खाकर जब मुख में से निकलता है तो वर्ण उत्पन्न होते हैं। इसी अभिप्राय से भगवान् पाणिनि कहते हैं—

> **"आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।**
> **मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥**
> **सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।**
> **वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः" ॥[3]**

१-कठोप० २।१।१। २-ऐ० आ० २।३।६।१८। ३-पाणिनीयशिक्षा ६ एवं ६।

यह वायु छाती-कण्ठ और शिर इन तीनों भेदों से प्रातःसवन-माध्यन्दिन एवं सायंसवन-इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। नाभि में आग्नेय विष्णु रहते हैं। अग्नि ही का नाम गायत्री है-**'गायत्रो वा अग्निः'**। अतएव इस प्रातःसवन को गायत्रसवन कहते हैं एवं मध्य में वायु रहता है जो कि हिरण्यगर्भ ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध है। वायु ही में इन्द्र रहता है-**'इन्द्रतुरीया ग्रहा गृह्यन्ते'**। अतएव इस माध्यन्दिनसवन को त्रैष्टुभसवन कहते हैं। त्रिष्टुप् ही इन्द्र का छन्द है एवं जो शिरःस्थानीय तत्त्व है-उसका नाम आदित्य है-इसका छन्द जगती है। सबसे बडा छन्द यही है। इस सायंसवन को जागत-सवन भी कहते हैं। इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

"मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्। (अनुदात्त)
प्रातःसवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम्॥
कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम्। (स्वरित)
तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम्"॥[1] (उदात्त)

नाभि से निकला हुआ वायु छाती से टकरा मस्तक में ठोकर खा यदि मुँह से निकलता है तो अनुदात्तशब्देन व्यवहृत होता है एवं कण्ठ से ठोकर खा मस्तक में ठोकर खाकर यदि मुँह से निकलता है तो स्वरितशब्देन व्यवहृत होता है एवं बीच में कहीं ठोकर न खाकर सीधा मस्तक में टकराके यदि मुँह से निकलता है तो उदात्तशब्देन व्यवहृत होता है! अनुदात्त बिलकुल मन्द स्वर है-उदात्त बहुत ऊँचा है एवं स्वरित मध्यम दर्जे का है। तीनों प्रातः-मध्याह्न-सायं में बँटे हुए हैं, अतएव भगवान् पाणिनि उपदेश देते हैं—

"प्रातः पठेन्नित्यमुरःस्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन।
मध्यंदिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसंकूजितसन्निभेन॥
तारं तु विद्यात्सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम्।
मयूरहंसान्यभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरःस्थितेन"॥[2]

प्रकृत में बतलाना हमें यही है कि सारी वर्णमातृका ओम् के पेट में है। कण्ठ से लेकर ओष्ठ तक के स्थान के तीन दर्जे हैं। आदि-मध्य और अन्त। बस, जो आदि का कण्ठस्थान है-उसकी सूचना के लिए 'अ' कहा है एवं मध्य के संकेतार्थ 'उ' कहा है एवं अन्त के संकेतार्थ 'म्' कहा है। बस, इन तीनों में सारे वर्ण आ जाते हैं। 'अ' कण्ठस्थानीय है-सर्वथा विवारश्वासशून्य है। परन्तु वही 'अ' जब स्थूलरूप में परिणत हो जाता है तो 'उ' बन जाता है। बिलकुल स्पर्श में परिणत नहीं हुआ है-अपितु, अर्द्धस्पृष्ट है-बस, इसी भाव को बतलाने के लिए 'उ' कहा है एवं अन्त में जब 'उ' सर्वथा

१-पाणिनीयशिक्षा ७-८। २-पाणिनीयशिक्षा ३६-३७।

स्पर्श में परिणत हो जाता है-तो 'म्' बन जाता है। 'म्' 'अ' की स्थूलावस्था है। बस, इस कारण से ओम् के पेट में सारे वर्ण आ जाते हैं।

अपि च-आत्मा मनःप्राणवाङ्मय है-इस बात को सूचित करने के लिए भी 'ओम्' कहा जाता है। मन बिलकुल असंग है-इसी बात को सूचित करने के लिए 'अ' कहा है-मन से उत्पन्न होने वाला प्राण स्थूल तो नहीं है, परन्तु सर्वथा सूक्ष्म भी नहीं है, जरा विकुर्वाण है। 'अ' की विकृति 'उ' है। प्राण विकृत होता हुआ भी सूक्ष्म है-असंग है-इसी बात को बतलाने के लिए 'उ' कहा है एवं वही प्राण जब अत्यन्त स्थूल अवस्था में परिणत हो जाता है-तो वाक् कहलाने लगता है-बस, इसी स्थूलत्व को बतलाने के वास्ते 'म्' कहा है। 'अ' यह मन को कहता है-'उ' प्राण को कहता है-'म्' वाक् का सूचक है। इसीलिए-**'मनःप्राणगर्भिता वाक् 'वौक्'**-कही जाती है-यही **'वौषट्'** का रहस्य है। बस, चूंकि इस प्राण में सारा प्रपञ्च आ जाता है-यही केन्द्र में रहता है-यही आत्मा का स्वरूप है-अतएव-**'मातृका क्रम को ओम् में लगाओ'**-यह कहा जाता है।

अ-उ-म्-ये वर्ण हैं-ध्वनि हैं, स्वर नहीं हैं। चिड़ियावगैरह का जो बोलना है-वह ध्वन्यात्मक है-नादमात्र है। उनमें केवल प्राणमात्रा है। क-च-ट-त-प- इत्यादि विभाग तो मन से होते हैं-मन ही विज्ञान है। विज्ञान सूर्य्य की वस्तु है। बस, अन्त में उस 'अ-उ-म्' को स्वर में लगा दो अर्थात् 'ओम्' इस स्फोट में लगा दो। स्फोट को नाद में (अनन्त वैज्ञानिक-मण्डल में) लगा दो-नाद को बिन्दु में अर्थात् केन्द्रीय ज्ञानबिन्दु में लगा दो। उसे प्राण में लगा दो-प्राण को महानात्मा में लगा दो। अन्त में इस प्राण को महानात्मा में लगा दो-जिसके लिए श्रुति कहती है—

"अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति"॥[1]

बस, उस महानात्मा को ईश्वर में लीन किया नहीं कि तुम तन्मय हुए नहीं-इसी अभिप्राय से व्यास भगवान् कहते हैं—

"इन्द्रियाणि मनस्यूमौ वाचि वैकारिकं मनः।
वाचं वर्णसमाम्नाये तमोङ्कारे स्वरे न्यसेत्।
ओङ्कारं बिन्दौ नादे तं तं तु प्राणे महत्यमुम्"॥[2]

बस, इस क्रम से उत्तमोपासना होती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

१-कठोप० १।२।२२। २-श्रीमद्भागवत-पुराण ७।१५।५३।

"अक्षाणि चित्ते तदु वाचि मातृकाक्रमे तु तां तं प्रणवस्वरेऽथ तम् ।
बिन्दौ च नादे तमिमं लिनात्यपि प्राणे महत्यात्मनि तं तमीश्वरे" ॥९५॥

ऊँचे दर्जे पर पहुँचने वाले महाविज्ञतम आत्मैकसत्यत्ववादी जो विद्वान् हैं-यह उत्तमा आत्म-समर्पणरूपा उपासना उन्हीं के लिए है। ज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुँचने वाले विद्वान् ही इस उपासना के अधिकारी हैं। यदि इन तीनों उपासनाओं से अन्त में द्वैत का निःशेषतया नाश नहीं हुआ तो समझ लो-यह उत्तम उपासना नहीं है। जहाँ भेद का नाम निशान भी न रहे-वही उत्तमोपासना है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"एषोत्तमा त्वात्मसमर्पणक्रिया सोपासना विज्ञतमाधिकारिणाम् ।
यत्र त्विदं द्वैतमशेषतो न चेद्विलुप्यते भक्तिरियं न सोत्तमा" ॥९६॥

नारद-पाञ्चरात्र नाम के ग्रन्थ में महर्षि नारद कहते हैं कि जो भक्ताग्रणी भक्तों में श्रेष्ठ उपासक प्राण-प्रतिष्ठा, भूतशुद्धि के कायदे से उपासना करता है-वह उस उपासना के सामर्थ्य से सायुज्य को प्राप्त हो जाता है एवं अभयपद को प्राप्त कर लेता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"देवर्षिरित्थं निजगाद नारदो भक्ताग्रणीस्तत्प्रतिपन्नया दिशा ।
उपासको भक्तिवशान्महेश्वरे सायुज्यमाप्नोत्यभयं च विन्दति" ॥९७॥

ईश्वर में और आत्मा में जो भेदबुद्धि है-वह नितान्त मिथ्या है। उस भेदवाद के चक्कर में पड़कर कभी ईश्वर में लीन नहीं हो सकता। उसके बीच में तो भेद की दीवार खड़ी हुई है। परन्तु जो भेदवाद को तोड़कर सत्यस्वरूप अभेद का आश्रय ले लेता है-वह जीव ईश्वर बन जाता है एवं ईश्वरवत् शान्तघन एवं आनन्दस्वरूप बन जाता है। सच्चिदानन्द-ईश्वरवत् जीव भी सच्चिदानन्द बन जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"या भेदधीः सा ध्रुवमस्त्यसत्या तामास्थितः श्रेयसि नैति योगम् ।
सत्यं त्वभेदं प्रतिपद्य जीवः स्यादीश्वरः शान्तिघनः प्रसन्नः" ॥९८॥

अणु से अणु, महान् से महान् जो यह विश्वेश्वर है-वह अखिल विश्व को धारण करता हुआ-सबका नियन्त्रण करता हुआ-ज्ञानात्मक भगवान् उसके सारे संशयों को छिन्न-भिन्न कर देता है-जो अपनी बुद्धि को उसी में लगा देता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

"अणोरणीयान् महतो महानयं विश्वेश्वरो विश्वमिदं विधारयन् ।
ज्ञानात्मकः संशयमुच्छिनत्ति यः स्वान्तेऽर्प्यतेऽस्मिन्नयमास्पदे धियः" ।।९९।।

इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" ।।१००।।[1]

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

।। इति संशयोच्छेदाधिकारनामद्विपर्वात्मकतृतीयोत्तमकाण्डस्य हिन्दीविज्ञानभाष्यं सम्पूर्णम् ।।

१–मुण्डकोप० २।२।८ ।

।। श्रीमधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीतत्रिकाण्डात्मकसंशयतदुच्छेदवादग्रन्थस्य
श्रीगुरुचरणकृपया मोतीलालशर्म्मणा कृतं हिन्दीविज्ञानभाष्यम्-
आषाढशुक्लप्रतिपदि बुधवासरे वैक्रमे १६८६ तमे
सम्वत्सरे सम्पूर्णम् ।।

राजस्थान पत्रिका प्रकाशन
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरु मार्ग, जयपुर - 302 004